महान् जर्मन दार्शनिक के
विश्वविख्यात सौंदर्यशास्त्रीय
प्रबन्ध का हिन्दी रूपान्तर!

सौन्दर्य-मीमांसा

इमैनुअल कान्ट

किताब महल (होलसेल डिवीजन) प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस : ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

महान जर्मन दार्शनिक के विश्वविख्यात सौंदर्यशास्त्रीय प्रबन्ध का हिन्दी रूपान्तर।

सौन्दर्य मीमांसा

●

इमैनुअल कान्ट

●

किताब महल [होलसेल डिविजन] प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस : ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

रूपान्तरकार : राम केवल सिंह, एम० ए०

प्रकाशक : किताब महल [हो० डि०] प्राइवेट लिमिटेड

रजिस्टर्ड ऑफिस : ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

शाखाएँ : २८, फैजबाज़ार, दिल्ली

: ४६, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता

: २३५, हार्नबी रोड, बम्बई

एजेन्सियाँ : किताब महल, अशोक राजपथ, पटना

: किताब महल, चौड़ा रास्ता, जयपुर

मुद्रक : पियरलेस प्रिंटर्स, ४ बाई का बाग, इलाहाबाद

आवरण मुद्रक : ईगल ऑफसेट प्रिंटर्स, इलाहाबाद

अनुक्रम

अनुक्रम

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन १७६०

प्रागनुभव नियमों से आने वाली ज्ञानशक्ति (Faculty of Knowledge) का 'विशुद्ध तर्कबुद्धि' (Pure Reason) और उसकी सम्भावना और सीमाओं के सम्बन्ध में सामान्य गवेषणा को 'विशुद्ध तर्कबुद्धि की मीमांसा' कहा जा सकता है। यह उचित है, यद्यपि 'विशुद्ध तर्कबुद्धि', जैसी स्थिति कि हमारी प्रथम कृति में शब्दों के इसी प्रयोग के सम्बन्ध में थी, तर्कना (Reason) को केवल उसके सैद्धान्तिक नियोजन में निर्दिष्ट करने के लिए ही अभिप्रेत है, और यद्यपि व्यवहारिक तर्कबुद्धि (Practical Reason) इसकी शक्ति और इसके ज्यों के त्यों विशिष्ट नियमों का पुनर्परीक्षा करने की कोई इच्छा नहीं है तो फिर यह मीमांसा प्रागानुभविक रूप से वस्तुओं को जानने की केवल हमारी मनःशक्ति (Faculty) के सम्बन्ध में एक गवेषणा है। अतः यह आनन्द अथवा विषाद की अनुभूति और इच्छा मनःशक्ति को छोड़कर हमारी संज्ञानशक्तियों (Cognitive faculties) को अपनी विवेचना का प्रधान विषय बनाती है और संज्ञानशक्तियों में निर्णय और तर्कबुद्धि को छोड़कर (वे मनःशक्तियाँ जो भी सैद्धान्तिक संज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं) पर अपना ध्यान बुद्धि (Understanding)) और उसके प्रागनुभव-नियमों तक सीमित रखती हैं क्योंकि अन्त में यह सिद्ध होता है कि बुद्धि के अतिरिक्त ज्ञान के विधायक प्रागनुभव नियमों को प्रदान करने में समर्थ कोई अन्य संज्ञान शक्ति नहीं है। तदनुसार यह मीमांसा जो स्वयं अपने मूल से ज्ञान के स्पष्ट स्वत्व (Possession) में भाग लेने में दूसरी मनःशक्तियों के सम्भव दावों की परीक्षा करने के लिए इन समस्त मनःशक्तियों की छानबीन करती है; वह उस वस्तु के अतिरिक्त जिसे बुद्धि प्रागानुभविक रूप से प्रपंचजाल (Complex of Phenomena) रूप प्रकृति के लिए एक नियम के रूप में विहित करती है और कुछ भी प्रतिधारणा नहीं करती क्योंकि इनका (प्रपंचों का) रूप प्रागानुभविक रूप से निष्पन्न होता है। अन्य सारी विशुद्ध संकल्पनाओं (Concepts) को यह प्रत्ययों की कोटि में डाल देती है, जो हमारी सैद्धान्तिक संज्ञान की मनःशक्ति के लिए अनुभवातीत (Transcendental) हैं : हालांकि वे न तो अपने उपयोग से शून्य हैं और न आवश्यक हैं बल्कि नियामक नियमों के रूप में कतिपय कार्यों का सम्पादन करती हैं। क्योंकि ये संकल्पनाएँ अंशतः उस बुद्धि के अनधिकार चर्चाशील अभ्यर्थनों (Officious Pretensions) का निग्रह करने का कार्य करती हैं जो उन वस्तुओं की सम्भावना की उपाधियों (Conditions) को प्रागानुभविक रूप से प्रदान करने के लिए अपनी

योग्यता का अनुचित लाभ उठाते हुए, जिन्हें मनाने में वह समर्थ है, ऐसा आचरण करती है कि जैसे मानो इस प्रकार उसने इन संबन्धों को सामान्यतः सभी वस्तुओं को उन सम्भावना—सम्बन्धों के रूप में निर्धारित कर दिया है और ये अंशतः बुद्धि का, उसकी प्रकृति—अध्ययन में पूर्णता के एक नियम के अनुसार जो इसके लिए अनुपलभ्य बना रहता है, पथ-प्रदर्शन करने का भी और अतएव सारे ज्ञान के परम लक्ष्य को अभिवर्द्धित करने का कार्य करती हैं।

अतएव यथार्थ में, यह बुद्धि थी,—जो, जहाँ तक कि वह विधायक (Constitut ive) प्रागनुभव-संज्ञानात्मक नियमों का अन्तर्धारण करती है, अपना विशिष्ट क्षेत्र रखती है और एक ऐसा क्षेत्र रखती है जो अपेक्षाकृत हमारी ज्ञानशक्ति (Faculty of Knowledge) के अन्तर्गत पड़ता है,—जिसे मीमांसा ने सामान्यतः 'विशुद्ध तर्क-बुद्धि' की बुद्धि कहा, जो अन्य सारे प्रतियोगियों के विरुद्ध अपना सुरक्षित किन्तु विशिष्ट स्वत्व (Possession) स्थापित करने के लिए उद्दिष्ट थी। इसी प्रकार 'तर्कबुद्धि' जो अनन्य रूप से इच्छा मनःशक्ति के सम्बन्ध में विधायक प्रागनुभव संज्ञानात्मक नियमों को अन्तर्धारण करती है, 'व्यावहारिक तर्कबुद्धि की मीमांसा' द्वारा स्वयं को समर्पित अधिकरण प्राप्त करती है।

किन्तु अब निर्णय आता है जो हमारी संज्ञान-शक्तियों (Cognitive facul ties) के अनुक्रम में बुद्धि और तर्कबुद्धि के मध्यवर्ती पद का निर्माण करता है। क्या इसके पास भी स्वतन्त्र प्रागनुभव नियम हैं? यदि ऐसा है तो क्या वे विधायक (Constitution) हैं अथवा क्या वे मात्र विनियामक (Regulative) हैं और इस प्रकार किसी विशेष क्षेत्र को निर्दिष्ट नहीं करते? और क्या वे उसी प्रकार संज्ञान और इच्छा -मनःशक्तियों की मध्यवर्ती पद (Middle Term) रूप आनन्द और विषाद की अनुभूति से प्रागनुभव कोई नियम प्रदान करते हैं जिस प्रकार बुद्धि पूर्ववर्ती के लिए और तर्कबुद्धि द्वितीय परवर्ती के लिए प्रागनुभव नियमों को निर्दिष्ट करती है। यही वह विषय है जिसे प्रस्तुत 'मीमांसा' समर्पित है।

विशुद्ध तर्कबुद्धि की एक मीमांसा अर्थात् प्रागनुभव नियमों के आधार पर निर्णय करने की हमारी मनःशक्ति की एक मीमांसा अपूर्ण ही रहेगी यदि निर्णय की आलोचनात्मक परीक्षा, जो कि ज्ञान की एक मनःशक्ति है और इस रूप में स्वतन्त्र नियमों का दावा करती है, का पृथक् विवेचन न किया जाय। कुछ भी हो इसके नियम फिर भी, विशुद्ध दर्शन के किसी सिद्धान्त में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विभाजन के मध्यवर्ती (Intermediate) किसी पृथक् घटक अंश का निर्माण नहीं कर सकते बल्कि आवश्यक होने पर अवसरापेक्षित रूप से किसी न किसी के साथ सम्बद्ध किए जा सकते हैं। क्योंकि यदि इस प्रकार का सिद्धान्त

(System) किसी दिन तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) के सामान्य नाम के अन्तर्गत निष्पन्न किया जाता है—और इसका पूर्ण और अशेष निष्पादन दोनों है, सम्भव भी और अपने समस्त कार्यक्षेत्रों में तर्कबुद्धि के नियोजन के लिए अधिकतम महत्व का भी—तो इस प्रासाद की आधारभूमि की आलोचनात्मक परीक्षा को पहले ही अनुभव-निरपेक्ष (Independent of experience) नियमों की मनःशक्ति के मूलाधारों की गहराइयों में प्रयुक्त किया गया होगा जिससे यह अपने किसी भाग में भग्न न हो जाय और गर्क होकर अपने साथ अपरिहार्य रूप से सम्पूर्ण को विनष्ट न कर दे।

कुछ भी हो हम निर्णयशक्ति (जिसका शुद्ध नियोजन इतना आवश्यक और सार्वभौमतः इतना अपेक्षित है कि जिस समय हम स्वस्थ बुद्धि की बात करते हैं उस समय ठीक यही शक्ति अभिप्रेत होती है) की प्रकृति से इस तथ्य को तुरन्त संग्रहीत कर सकते हैं कि इससे सम्बन्ध रखने वाले एक विशेष नियम की खोज—और कोई ऐसी ही चीज जिसको इसे प्रागनुभविक रूप से स्वयं अपने में अवश्य धारण करना चाहिए, क्योंकि अन्यथा यह वह संज्ञान शक्ति (Cognitive faculty) नहीं होगी जिसका व्यवच्छेदक वैशिष्ट्य अत्यन्त साधारण समालोचना के लिए स्पष्ट है,—अवश्यमेव अत्यधिक कठिनाइयों को अन्तर्विष्ट करने वाला कार्य होगी। क्योंकि यह एक ऐसा नियम है जिसे, यह देखते हुए कि प्रागनुभव संकल्पनाएँ बुद्धि की गुण-धर्म हैं और निर्णय केवल उनके प्रयोग के प्रति निर्दिष्ट है, प्रागनुभव संकल्पनाओं से व्युत्पादित नहीं किया जाना चाहिए। अतएव इसे स्वयं एक संकल्पना प्रस्तुत करनी है और एक ऐसी संकल्पना जिससे वस्तुतः हम किसी भी वस्तु का कोई भी संज्ञान नहीं पाते किन्तु जिसे यह स्वयं केवल एक नियम के रूप में प्रयुक्त कर सकता है—किन्तु उस वस्तुनिष्ठ नियम (Objective rule) के रूप में नहीं जिसके अनुकूल यह अपने निर्णय को बना सकता है क्योंकि हमें यह निश्चय करने में समर्थ बनाने के लिए कि स्थिति नियम के प्रयोग के लिए थी अथवा नहीं, पुनः निर्णय की एक अन्य मनःशक्ति की अपेक्षा होगी।

व्यक्ति प्रधानतः केवल उन्हीं आकलनों (Estimates) में किसी नियम (चाहे वह व्यक्तिनिष्ठ हो या वस्तुनिष्ठ) के सम्बन्ध से उपर्युक्त कठिनाई का अनुभव करता है जो सौन्दर्यपरक कहलाते हैं और जो सुन्दरम और उदात्त से सम्बद्ध होते हैं चाहे वह प्रकृति का हो या कला का। और फिर भी उनकी स्थिति में निर्णय के किसी नियम की-एक आलोचनात्मक गवेषणा इस मनःशक्ति की मीमांसा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। क्योंकि, यद्यपि वे स्वतः वस्तुओं के ज्ञान में तनिक भी योग नहीं देते फिर भी वे पूर्णतया ज्ञानशक्ति (Faculty of knowlege) से सम्बन्ध रखते हैं और किसी प्रागनुभव नियम के अनुसार आनन्द और विषाद की अनुभूति

के साथ इस मनःशक्ति का अव्यवहित सम्बन्ध को प्रमाणित करते हैं और वे ऐसा बिना इसे उस वस्तु के साथ अन्तर्भ्रान्त किए करते हैं जो इच्छा मनःशक्ति की निर्धारिणी आधारभूमि होने में समर्थ है क्योंकि परवर्ती के प्रागनुभव नियम तर्कबुद्धि की संकल्पनाओं में निहित होते हैं। तथापि प्रकृति के अन्वीक्षामूलक आकलन एक भिन्न धरातल पर अवस्थित होते हैं। वे उन स्थितियों (Cases) का निरूपण करते हैं जिनके अन्तर्गत अनुभव वस्तुओं में नियमानुसारिता प्रस्तुत करता है जिसे बुद्धिग्राह्य या व्याख्येय बनाने में अब आगे बुद्धि की सामान्य संवेद्य-संकल्पना (Concept of the Sensible) भी उपयुक्त नहीं है और जिसमें निर्णय, नैसर्गिक वस्तु का अज्ञेय अतीन्द्रिय (Unknowable Super sensible) के साथ एक सन्दर्भ नियम पाने के लिए स्वयं अपना ही आश्रय ले सकता है और वास्तव में उसे ऐसे किसी नियम का अवश्य प्रयोग करना चाहिए हालाँकि मात्र अपने और प्रकृति-ज्ञान के सम्बन्ध में। क्योंकि इन स्थितियों में, जो भी वस्तु जगत् में है उसके संज्ञान के लिए इस प्रकार के एक प्रागनुभव नियम का प्रयोग (application) सम्भव और आवश्यक दोनों ही है और साथ ही ऐसी भविष्णुताओं (Prospects) का उद्घाटन करता है जो व्यावहारिक तर्कबुद्धि के लिए लाभप्रद हैं। किन्तु यहाँ आनन्द अथवा विषाद की अनुभूति का कोई भी अव्यवहित सन्दर्भ-निर्देश नहीं है। अपितु यह वस्तुतः निर्णय-नियमगत गूढ़ पहेली है जो मीमांसा में इस मनःशक्ति के एक पृथक् विभाग को आवश्यक बना देता है—क्योंकि दर्शन के सैद्धान्तिक अंश के किसी परिशिष्ट में तर्कमूलक आकलनों की रचना (Formation) की अपनी परिसीमाओं के एक आलोचनात्मक वक्तव्य के साथ निरूपित होने पर संकल्पनाओं (जिनसे आनन्द और विषाद की अनुभूति के लिए प्रत्यक्ष निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता) के अनुसार उसका प्रतिकार करने वाली कोई भी वस्तु नहीं थी।

सौन्दर्य-निर्णय की मनःशक्ति रूप रुचि की प्रस्तुत अन्वेषणा का उत्तरदायित्व रुचि की संरचना अथवा उपार्जन (जो कि अतीत की भाँति भविष्य में इस प्रकार की पृच्छाओं से स्वतन्त्र रहकर अपनी प्रक्रिया का अनुवर्तन न करेगा) के अभिप्राय से न लिया जाकर मात्र उसके अनुभवातीत पक्षों (Transcendental aspects) के प्रति निर्दिष्ट होने के कारण मैं अपनी त्रुटियों के सम्बन्ध में अनुग्रहपूर्ण आलोचना के प्रति आश्वस्त अनुभव करता हूँ। किन्तु उस सब कुछ में जो अनुभवातीत पक्ष के साथ प्रसंगोचित है इसे अत्यन्त कठोर परीक्षण में खरा उतरने के लिए अवश्य तैयार रहना चाहिए। तथापि यहाँ भी मैं यह आशा करने का दम बाँधता हूँ कि इसकी प्रकृति में अत्यन्त गहराई के साथ अन्तर्विष्ट, किसी समस्या को सुलझाने की कठिनाई, इसके समाधान में पायी जाने वाली, किसी सीमा तक मुश्किल से परिहार्य (Obscurity) के लिए दोषमार्जन E.) का

कार्य कर सकती है बशर्ते नियम सम्बन्धी हमारे वक्तव्य की यथार्थता सारी अपेक्षित स्पष्टता के साथ सिद्ध हो जाय। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उस नियम से निर्णय के तत्त्वों (Phenomena) को व्युत्पादित करने की विधा उस सम्पूर्ण वैशद्य से सम्पन्न नहीं है जिसकी न्यायोचित रूप से अन्य दूसरे स्थलों पर माँग की जाती है, जहाँ कि विषय संकल्पनाओं द्वारा संज्ञान होता है और मेरा विश्वास है कि उसे मैंने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में उपलब्ध कर लिया है।

तो इसके साथ मैं अपने सम्पूर्ण आलोचनात्मक उपक्रम (Critical undertaking) को समाप्त करता हूँ। अपने बढ़ते हुए वार्धक्य में से यथासम्भव फिर भी जो समय इस कार्य के लिए उपयुक्त हो सके, उसे छीन लेने के लिए मैं सैद्धान्तिक अंश की ओर शीघ्रता से बढ़ूँगा। यह स्पष्ट है कि यह देखते हुए कि निर्णय के साथ 'मीमांसा' (Critique) सिद्धान्त का स्थान ग्रहण कर लेती है, निर्णय मनःशक्ति (Faculty of judgment) के लिए कोई भी पृथक् खण्ड आरक्षित नहीं है; किन्तु सैद्धान्तिक और व्यावहारिक और उसी प्रकार विशुद्ध दर्शन के विभाजन का अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण आधार भूमि (Ground) प्रकृति और आचार तत्वों की तत्त्व मीमांसा (Metaphysics) से आच्छन्न हो उठेगी।

भूमिका

दर्शन का विभाजन

दर्शन को तर्कबुद्धिपरक संज्ञान के उन नियमों को अन्तर्धारण करने वाला कहा जा सकता है जिन्हें वस्तुओं के विषय में संकल्पनाएँ (Concepts) हमें प्रदान करती हैं (तर्कशास्त्र की भाँति, वस्तुओं से निरपेक्ष सामान्यतः केवल विचारतत्त्व के स्वरूप के ही नियमों को नहीं), और इस प्रकार से अर्थ लगाने पर, उसे सामान्यतः **सैद्धान्तिक** और **व्यावहारिक** दर्शन में विभक्त करने के लिए गृहीत प्रक्रिया पूर्णतया न्यायसंगत है। किन्तु यह चीज उन संकल्पनाओं की ओर से एक विशिष्ट भेद को अनुपेक्ष्य बना देती है जिनके द्वारा इस तर्कबुद्धिपरक संज्ञान (Rational cognition) के नियम अपने विषय को अपने प्रति समर्पित (Assigned) पाते हैं क्योंकि यदि संकल्पनाएँ परिस्फुट नहीं हैं तो वे एक ऐसे विभाजन को न्यायसंगत सिद्ध करने में असफल रहती हैं जो सदा यह पूर्वकल्पना करता है कि विज्ञान (Science) के अनेक विवादास्पद अंगों के तर्कबुद्धिपरक संज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले नियम स्वयं परस्पर अवच्छेदक (Exclusive) हैं।

अब केवल दो ही प्रकार की संकल्पनाएँ हैं और ये अपने विषयों (Objects) की सम्भावना के परिस्फुट नियमों की संवादी (Corresponding) संख्या को जन्म देती हैं। निर्दिष्ट संकल्पनाएँ हैं प्रकृति की संकल्पनाएँ और स्वातन्त्र्य की संकल्पनाएँ। इनमें से प्रथम के द्वारा **प्रागनुभव** नियमों से सैद्धान्तिक (Theoretical) संज्ञान सम्भव होता है। कुछ भी हो, इस प्रकार के संज्ञान के सम्बन्ध में, द्वितीय अपने स्वभाव से ही, एक निषेधात्मक नियम के (सहज प्रतिपक्ष के) अतिरिक्त और कुछ भी ध्वनित नहीं करता, जबकि दूसरी ओर संकल्पशक्ति (Will) के निर्धारण के लिए यह उन मूलभूत नियमों (Fundamental Principles) की स्थापना करता है जो इसके कार्य-व्यापार के क्षेत्र को परिवर्द्धित करते हैं और जो इसी कारण **व्यावहारिक** कहलाते हैं। अतः दर्शन का विभाजन यथार्थतः दो भागों में घटित होता है, जो अपने नियमों में नितान्त परिस्फुट है—एक **प्रकृति-दर्शन** के रूप में सैद्धान्तिक और दूसरा आचार-दर्शन (क्योंकि यही वह वस्तु है जो स्वातन्त्र्य-संकल्पना द्वारा तर्कबुद्धि का व्यावहारिक विधान कहलाती है) के रूप में व्यवहारिक तथापि यहाँ विभिन्न नियमों और उनके साथ दर्शन के विभाजन के प्रति इन शब्दावलियों के प्रयोग में शब्दों का एक स्थूल दुरुपयोग परिव्याप्त रहा है क्योंकि न

वस्तु प्रकृति की संकल्पना के अनुसार व्यावहारिक है उसे उस वस्तु के साथ तद्रूप (Identical) रूप में ग्रहण किया गया है जो स्वातन्त्र्य-संकल्पनानुसार व्याहारिक है; वह इसलिए क्योंकि **सैद्धान्तिक** और व्यावहारिक के इन शीर्षकों के अन्तर्गत एक ऐसा विभाजन किया गया है जिसके द्वारा वस्तुतः नितान्त कोई भी विभाजन नहीं हुआ है (यह देखते हुए कि दोनों ही भाग एक जैसे ही नियमों से युक्त हैं)।

संकल्पशक्ति—क्योंकि जो चीज़ कही जाती है वह यही है—इच्छा की मनःशक्ति (Faculty of desire) है और इस रूप में यह जगत् के अनेक नैसर्गिक कारणों में से एक है, एक ऐसा कारण है जो संकल्पनाओं द्वारा कार्य करता है और जो कुछ भी संकल्पशक्ति (Will) की क्षमता (Efficacy) द्वारा सम्भव (अथवा अनिवार्य) रूप में प्रतिरूपित किया जाता है उसे व्यवहारतः सम्भव (अथवा अनिवार्य) कहा जाता है : उद्देश्य है इसकी सम्भावना (अथवा अनिवार्यता) को एक ऐसे कार्य (Effect) की भौतिक सम्भावना या अनिवार्यता से पृथक् करना जिसके कारण की कारणता (Causality) संकल्पनाओं द्वारा इसकी सृष्टि के प्रति निर्धारित नहीं होती (बल्कि निर्जीव वस्तु की भाँति यान्त्रिकता द्वारा और निम्नस्तरीय जीवों की भाँति मूल प्रवृत्ति द्वारा)।— अब व्यावहारिक मनःशक्ति के सम्बन्ध में यह प्रश्न, कि वह संकल्पना जिसके द्वारा संकल्पशक्ति की कारणता अपना नियम प्राप्त करती है, प्रकृति की संकल्पना है अथवा स्वातन्त्र्य की, एकदम स्पष्ट है।

कुछ भी हो, परवर्ती भेद अनिवार्य है? क्योंकि कारणता को निर्धारित करने वाली संकल्पना को प्रकृति की संकल्पना होने दीजिए और तब नियम **प्राविधिक रूप से व्यावहारिक हैं**; किन्तु इसे स्वातन्त्र्य की संकल्पना होने दीजिए, और वे **साधारणतः व्यावहारिक हैं**। अब किसी तर्कबुद्धिपरक विज्ञान के विभाजन में उन वस्तुओं के बीच का भेद जो अपने संज्ञान के लिए विभिन्न नियमों की अपेक्षा रखती हैं, वह भेद है जिस पर प्रत्येक वस्तु निर्भर करती है। अतः तकनीकी रूप से व्यावहारिक नियम सैद्धान्तिक दर्शन (प्राकृतिक विज्ञान) से सम्बन्ध रखते हैं, नैतिक रूप से व्यावहारिक नियम ही एकमात्र द्वितीय भाग का अर्थात् व्यावहारिक दर्शन (नैतिक विज्ञान) का स्वरूप-संघटन करते हैं।

तकनीकी रूप से सारे व्यावहारिक नियमों की (अर्थात् मनुष्यों और उनकी सकल्पशक्तियों को प्रभावित करने में एक कुशलता रूप सामान्यतः कला और निपुणता के अथवा यहाँ तक कि मनीषा के भी नियमों की), जहाँ तक कि उनके सिद्धान्त सकल्पनाओं पर निर्भर करते हैं, केवल सैद्धान्तिक दर्शन के उपसिद्धान्तों (Corollaries) के रूप में गणना की जानी चाहिए। क्योंकि वे प्रकृति की संकल्पनाओं के अनुसार केवल वस्तुओं की सम्भावना को स्पर्श करते हैं और यह चीज़ तदर्थ न केवल प्रकृति में अन्वेष्य साधनों को ग्रहण करती है बल्कि उस सीमा तक स्वय

सकल्पशक्ति को (इच्छा मनःशक्ति और परिणामतः एक नैसर्गिक मनःशक्ति के रूप में) भी ग्रहण करती है जिस सीमा तक कि वह इन नियमों के आधार पर नैसर्गिक मन्तव्यों द्वारा निर्धार्य है। तथापि ये व्यावहारिक विधियाँ, (भौतिक नियमों की भाँति) नियम (Laws) न कहलाकर केवल सूत्र (Precepts) कहलाती हैं। इसका कारण यह है कि वह संकल्पशक्ति (Will) की प्राकृतिक संकल्पना के ही अन्तर्गत नहीं आती बल्कि स्वातन्त्र्य-संकल्पना के भी अन्तर्गत आती है। परवर्ती सम्बन्ध मे इसके सिद्धान्त (Principles) नियम (Laws) कहलाते हैं और एकमात्र ये सिद्धान्त ही, उस वस्तु के साथ जो उनसे घटित होती है, दर्शन के द्वितीय व्यावहारिक भाग का विधान करते हैं।

विशुद्ध ज्यामिति की समस्याओं का समाधान उस विज्ञान के किसी विशिष्ट भाग में विनिहित नहीं है, न तो भूसर्वेक्षण की कला ही, ज्यामित के सामान्य विज्ञान के द्वितीय भाग के रूप विशुद्ध विज्ञान की विरोधिता में व्यावहारिक विज्ञान की संज्ञा के योग्य है और वैसे ही स्वल्प अथवा कदाचित् उससे भी कम अधिकार के साथ प्रयोग अथवा निरीक्षण की यान्त्रिक अथवा रासायनिक कला प्रकृति-विज्ञान के व्यावहारिक भाग के रूप में श्रेणीबद्ध की जा सकती है अथवा अन्ततः, पारिवारिक, कृषि-सम्बन्धी अथवा राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक समागम की कला, आहारिकी के नियम अथवा आनन्दोपलब्धि विषयक सामान्य-शिक्षा अथवा यथासम्भव प्रवृत्तियों का निग्रह, अथवा तदर्थ मनोविकारों का संयमन व्यावहारिक दर्शन के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं—इन परवर्तियों को सामान्य दर्शन के एक द्वितीय भाग का रूपगठन करने वाला नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उन सब के बीच वे उपर्युक्त कुशलता (Skill) के उन नियमों के अतिरिक्त और कुछ भी अन्तर्धारण नहीं करते जो इस प्रकार केवल प्रावैधिक रूप से व्यावहारिक होते हैं—क्योंकि कुशलता एक ऐसे कार्य को उत्पन्न करने के लिए निर्दिष्ट होती है जो कारणों और कार्यों के (Causes and effects) की प्राकृतिक संकल्पनाओं के अनुसार सम्भव होता है। चूँकि ये सकल्पनाएँ सैद्धान्तिक दर्शन से सम्बन्ध रखती हैं, अतः ये उन सूत्रों (Precepts) की विषय है जो सैद्धान्तिक दर्शन के उपसिद्धान्त (अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान के उपसिद्धान्त) मात्र हैं और अतएव व्यावहारिक कहलाने वाले किसी भी विशिष्ट दर्शन में वे किसी स्थान का दावा नहीं कर सकतीं। दूसरी ओर नैतिक रूप से व्यावहारिक वे सूत्र जो संकल्पशक्ति के निर्धारणार्थ प्रकृति से गृहीत आधारभूमियों से सर्वथा व्यवच्छिन्न भाव से, पूर्णतया स्वातन्त्र्य की संकल्पना पर आधारित हैं, नितान्त भिन्न प्रकार के सूत्रों (Precepts) का निर्माण करते हैं। ये भी प्रकृति द्वारा अनुवर्तित नियमों की भाँति बिना विशेषण (Without qualification) के नियम कहलाते हैं यद्यपि ये परवर्ती की भाँति संवद्य उपाधियों Sensible conditions)

पर निर्भर न करके एक अतीन्द्रिय नियम (Supersensible principle) पर निर्भर करते हैं और उन्हें अवश्य ही दर्शन के एक ऐसे स्वविहित निजी भाग से युक्त होना चाहिए जो सैद्धान्तिक भाग का संवादी हो और जो व्यावहारिक दर्शन के नाम से अभिहित किया जाता हो।

अतः यह स्वतः स्पष्ट है कि दर्शन द्वारा निष्पन्न व्यावहारिक सूत्रों की एकग्रन्थि (Complex) अपने सूत्रों के व्यावहारिक होने के कारण, सैद्धान्तिक भाग के अनुबन्धी दर्शन के किसी विशिष्ट भाग की रचना नहीं करते—क्योंकि इस बात के होते हुए कि उनके नियम पूर्णतया प्रकृति के सैद्धान्तिक ज्ञान (प्रावैधिक रूप से व्यावहारिक नियम) से व्युत्पादित किये जाने पर भी वे होते। किन्तु एक उचित कारण की सत्ता वहीं होती है जहाँ, यह नियम (Principle) किसी भी प्रकार प्रकृति की उस संकल्पना से उधार लिया हुआ न होकर, जो सदा संवेद्य रूप से उपाधिबद्ध होती है, परिणामत उस अतीन्द्रिय (Supersensible) पर निर्भर करता है जिसे मात्र स्वातन्त्र्य-संकल्पना ही अपने रूपात्मक नियमों (Formal laws) द्वारा संज्ञेय बनाती है, और अतएव जहाँ वे नैतिक दृष्टि से व्यावहारिक अर्थात् इस अथवा उस वस्तु के हित में केवल सूत्र और नियम ही न होकर दृश्यों अथवा लक्ष्यों के सारे पूर्वगत सन्दर्भ से स्वतन्त्र नियम (Laws) होते हैं।

दर्शन का सामान्य क्षेत्र

नियमों (principles) से आने वाली हमारी संज्ञान शक्ति (Faculty of cognition) और उसके साथ ही दर्शन का प्रयोग प्रागनुभव संकल्पनाओं की प्रयोज्यता (Applicability) की सहविस्तारी है।

अब उन समस्त वस्तुओं (Objects) के मिश्रण का एक विभाजन, जिनसे जहाँ सम्भव है, उनके ज्ञान को परिवेष्ठित करने के लिए, उन संकल्पाओं का सन्दर्भ, निर्देश किया जाता है, उस सम्बन्ध में हमारी मनःशक्ति की नानारूप योग्यता अथवा अयोग्यता के अनुसार किया जा सकता है। संकल्पनाएँ, जहाँ तक उनका सन्दर्भ उनका ज्ञान सम्भव है अथवा नहीं, इस प्रश्न से पृथक् रूप में वस्तुओं से निर्दिष्ट किया जाता है, अपना क्षेत्र रखती हैं जो केवल उस सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होता है जिसमें उनका विषय (Object) हमारी संज्ञानशक्ति के प्रति सामान्य रूप से दृढ़ रहता है। इस क्षेत्र का वह अंश जिसमें ज्ञान हमारे लिए सम्भव है इन संकल्पनाओं और अपेक्षित संज्ञान शक्ति का प्रदेश है। प्रदेश के जिस अंश पर वे अपना वैधानिक प्राधिकार बरतती हैं वह इन संकल्पनाओं और इनकी उपयुक्त संज्ञान-शक्ति का क्षेत्र है। अतएव आनुभविक संकल्पनाओं का प्रदेश असंदिग्ध रूप से, निखिल इन्द्रिय-संबंध विषयों के सम्मिश्रण रूप प्रकृति में पड़ता है किन्तु उनका कोई क्षेत्र नहीं है (एक ठहरने का स्थान मात्र है (Domicilium), क्योंकि यद्यपि वे

नियमानुसार निर्मित होती हैं तथापि वे स्वयमेव विधायक (Legislative) नहीं होतीं किन्तु उन पर आधारित नियम अनुभवमूलक और परिणामतः अनुषंगी (Contingent) होते हैं।

हमारी सम्पूर्ण संज्ञानशक्ति (Faculty of cognition) के दो क्षेत्र हैं: नैसर्गिक संकल्पनाओं का और स्वातन्त्र्य संकल्पना का; क्योंकि यह दोनों के द्वारा 'प्रागनुभव' नियमों को निर्दिष्ट करती है, तो इस भेद के अनुसार दर्शनशास्त्र सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दर्शन में विभाज्य है। किन्तु जिस प्रदेश (Territory) के ऊपर इसका क्षेत्र (Realm) स्थित है और जिसके ऊपर यह अपने वैधानिक अधिकार का प्रयोग करता है वह अब भी, मात्र प्रपंच (Phenomena) के अतिरिक्त और कुछ न समझे जाने वाले निखिल सम्भाव्य-अनुभव विषयों (Objects) के सम्मिश्रण तक सदैव सीमित होता है क्योंकि अन्यथा बुद्धि द्वारा उनके सम्बन्ध मे विधान अचिन्त्य है।

प्रकृति की संकल्पनाओं द्वारा नियमों को विहित करने का कार्य बुद्धि द्वारा सम्पन्न होता है और सैद्धान्तिक है। स्वातन्त्र्य-संकल्पना द्वारा नियमों को विहित करने का कार्य तर्कबुद्धि (Reason) द्वारा सम्पन्न होता है और केवल व्यावहारिक है। तर्कबुद्धि केवल व्यावहारिक कार्य क्षेत्र मे ही नियमों की व्यवस्था दे सकती है; (प्रकृति के) सैद्धान्तिक ज्ञान के सम्बन्ध में यह (जैसा कि बुद्धि द्वारा न्याय मे उपदिष्ट होता है) निर्दिष्ट नियमों (Given laws) से उनके अन्वीक्षामूलक परिणामों (Logical consequences) को उपपादित कर सकती है जो फिर भी प्रकृति तक सीमित रहते हैं। किन्तु इसे हम अन्यथा करके यह नहीं कह सकते कि जहाँ नियम व्यावहारिक होते हैं वहाँ तर्कबुद्धि तत्काल विधानकारी (Legislative) होती है, क्योंकि नियम (Rules) तकनीकी रूप से व्यावहारिक हो सकते हैं।

अतएव बुद्धि और तर्कबुद्धि अनुभव के एक प्रदेश पर दो भिन्न क्षेत्राधिकार रखते हैं। किन्तु उनमें से कोई भी दूसरे को अन्तर्बाधित नहीं करती। क्योंकि स्वातन्त्र्य-संकल्पना प्रकृति के विधान को उतना ही कम क्षुब्ध करती है जितना कम कि प्रकृति की संकल्पना स्वातन्त्र्य-संकल्पना से होकर विधान को प्रभावित करती है। एक ही वस्तु (Object) में सह अस्तित्व रखने वाले इन दोनों क्षेत्राधिकारों और इनकी उपयुक्त मनःशक्तियों के सम्बन्ध में कम से कम बिना अन्तर्विरोध के सोचना सम्भव है यह तथ्य 'विशुद्ध तर्कबुद्धि की मीमांसा' में दिखाया गया था क्योंकि इसने दूसरे पक्ष में आपत्तियों के द्वन्द्व तर्कात्मक भ्रान्ति का पता लगा करके उनका परिहार कर दिया था।

फिर भी यह देखते हुए कि जहाँ वे अपने विधान (Legislation) में एक दूसरे को सीमित नहीं करते वहाँ व इन्द्रिय-सवद्य जगत् में हैं अपने कार्यों में

निरन्तर ऐसा करते हैं यह कैसे होता है, कि ये दो भिन्न क्षेत्र (Realm) एक क्षेत्र का निर्माण नहीं करते ? इसकी विवृति इस बात में निहित है कि प्रकृति संकल्पना निस्सन्देह अपने विषयों (Objects) को स्वानुभूति में प्रतिरूपित करती है फिर भी स्वलक्षण वस्तुओं के रूप में नहीं बल्कि केवल प्रपंचों के रूप में जब कि स्वातन्त्र्य संकल्पना अपने विषय (Object) में उस चीज़ को प्रस्तुत करती है जो असंदिग्ध रूप से स्वलक्षण वस्तु है किन्तु वह इसे स्वानुभूतिग्राह्य नहीं बनाती और इसीलिए इसके आगे इनमें से कोई भी स्वलक्षण वस्तु या जैसा कि यह होगी उस अतीन्द्रिय विषय के रूप में अपने विषय (Object) के किसी सैद्धान्तिक संज्ञान को सम्पन्न करने में समर्थ नहीं है—जिसके प्रत्यय को निश्चित रूप से अनुभव के उन समस्त विषयों की सम्भावना के रूप में समाविष्ट करना है हालाँकि स्वयं इसे कभी भी संज्ञान के स्तर तक उठाया या प्रसारित नहीं किया जा सकता है।

अतएव हमारी सम्पूर्ण संज्ञान शक्ति (Cognitive faculty) को एक अपरिमित किन्तु साथ ही दुरासद क्षेत्र के साथ—अतीन्द्रिय के क्षेत्र के साथ प्रस्तुत किया जाता है—जिसमें हम प्रदेश खोजने का व्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं और इसी-लिए जिसके ऊपर हमें सैद्धान्तिक संज्ञान के लिए कोई क्षेत्र प्राप्त नहीं हो सकता, चाहे वह बुद्धि की संकल्पनाओं के लिए हो अथवा तर्कबुद्धि की। इस क्षेत्र को हमें वस्तुतः तर्कबुद्धि के सैद्धान्तिक और साथ ही व्यावहारिक नियोजन के हेतु किन्तु उन नियमों के सम्बन्ध में प्रत्ययों से अवश्य अधिकृत करना चाहिए जो स्वातन्त्र्य-संकल्पना से उत्पन्न होते हैं। इन प्रत्ययों (Ideas) के लिए हम मात्र उस व्यावहारिक सत्य (Practical reality) को ही उपलब्ध कर सकते हैं जो तदनुसार हमारे सैद्धान्तिक संज्ञान को अतीन्द्रिय तत्त्व की ओर एक कदम भी अग्रसर करने में असफल रहता है।

यद्यपि उस समय इन्द्रिय-संवेद्य प्रकृति-संकल्पना (Natural concept) के क्षेत्र और अतीन्द्रिय स्वातन्त्र्य-संकल्पना के क्षेत्र के बीच एक बहुत बड़ी खाई स्थित होती है जिससे पूर्ववर्ती से परवर्ती की ओर संक्रमण करना सम्भव नहीं है (तर्कबुद्धि के सैद्धान्तिक नियोजन द्वारा) जैसे मानो वे अनेक पृथक् जगत् हों, जिनमें से प्रथम, द्वितीय पर अपना प्रभाव डालने में अशक्त है; फिर भी परवर्ती पूर्ववर्ती को प्रभावित करने के लिए उद्दिष्ट है अर्थात् स्वातन्त्र्य-संकल्पना इद्रिय-संवेद्य जगत् में अपने नियमों द्वारा प्रस्तावित उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए अभिप्रेत है और परिणामतः प्रकृति को भी इस रूप में समझी जाने योग्य होना चाहिए कि वह कम से कम अपने रूप के नियम की अनुसारिता में कम से कम उन उद्देश्यों की सम्भावना के साथ संगति स्थापित करती है जो स्वातन्त्र्य के नियमों के अनुसार उसमें परिणत होने को हैं अतएव जिस वस्तु को

संकल्पना व्यावहारिक रूप से अन्तर्धारण करती है उसके साथ उस अतीन्द्रिय तत्त्व (Supersensible) की जो प्रकृति के मूलाधार में निहित होता है, एकता की कोई आधारभूमि अवश्य होनी चाहिए और यद्यपि इस आधारभूमि की संकल्पना न तो सैद्धान्तिक रूप से और न व्यावहारिक रूप से ही इसके किसी ज्ञान को उपलब्ध करती है और अतएव इसके पास अपना निजी कोई विशिष्ट क्षेत्र नहीं है फिर भी यह नियमों के अनुसार एक के संक्रमण को दूसरे तक उसके नियमों के अनुसार सम्भव बनाती है।

सौन्दर्य-मीमांसा: दर्शन के दोनों भागों को एक सम्पूर्ण में सम्बद्ध करने का एक साधन।

मीमांसा का, जो उस वस्तु का निरूपण करती है जिसे हमारी संज्ञान-शक्तियाँ (Cognitive faculties) प्रागानुभविक या अनुभव-निरपेक्ष रूप से उत्पन्न करने में समर्थ हैं, सच पूछिए तो वस्तुओं (Objects) के सम्बन्ध में कोई क्षेत्र नहीं है; क्योंकि वह कोई मतवाद (Doctrine) नहीं है क्योंकि उसका प्रधान कार्य इस बात का अन्वेषण करना है कि क्या हमारी मनःशक्तियों के सामान्य सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए उनके द्वारा कोई मतवाद सम्भव है यदि है तो कैसे ? उन्हें उनकी उचित परिसीमाओं में सीमित करने के अभिप्राय से इसका क्षेत्र उनके सारे आडम्बरों तक प्रसृत होता है। किन्तु जिस वस्तु को दर्शन के विभाजन से बहिष्कृत किया जाता है उसे उसके उन नियमों, (Principles) को अन्तर्धारण करने की अवस्था में भी हमारी विशुद्ध संज्ञान शक्ति (Faculty of cognition) की सामान्य 'मीमांसा' में फिर भी स्वीकृत किया जा सकता है, जो स्वयमेव न तो सैद्धान्तिक नियोजन के लिए सुलभ (Available) हैं और न व्यावहारिक नियोजन के लिए।

प्रकृति संकल्पनाएँ सम्पूर्ण प्रागनुभव सैद्धान्तिक संज्ञान की आधारभूमि को अन्तर्धारण करती और जैसा कि हमने देखा है, बुद्धि के विधायी प्राधिकार (Legislative authority) पर निर्भर करती हैं। स्वातन्त्र्य-संकल्पना प्रागनुभव सम्पूर्ण ऐन्द्रिक रूप से अप्रतिबद्ध व्यावहारिक सूत्रों की आधारभूमि को अन्तर्धारण करती और तर्कबुद्धि के आप्तत्व पर निर्भर करती हैं। अतएव, दोनों मनःशक्तियाँ अन्वीक्षात्मक रूप के प्रसंगानुरूप अनिर्दिष्ट स्रोत वाले नियमों के प्रति अपने प्रयोग के अतिरिक्त अपनी अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में अपना निजी विशिष्ट अधिक्षेत्र रखती है और इसलिए उनके ऊपर कोई और (प्रागनुभव) अन्तर्विभाजन न होने के कारण सैद्धांतिक और व्यावहारिक दर्शन में दर्शन का विभाजन न्यायसंगत है।

किन्तु इससे भी आगे हमारी उच्चतर मनःशक्तियों के कुटुम्ब में बुद्धि और तर्कबुद्धि के बीच एक मध्यम पद Middle Term) है वह 'निर्णय'

(Judgment) है जिसके सम्बन्ध में हम न्यायोचित रूप से साधर्म्य द्वारा यह मान सकते हैं कि यह उसी प्रकार, यदि नियमों की व्यवस्था देने वाले किसी विशिष्ट आत्मत्व को नहीं, तथापि एक ऐसे नियम को अन्तर्धारण करता है जो स्वयं अपने मे विलक्षण है जिसके आधार पर नियमों के अन्वेषण का प्रयत्न किया जाता है— यद्यपि ऐसे नियमों के अन्वेषण का प्रयत्न जो मात्र व्यक्तिनिष्ट 'प्रागनुभव' होते है। चाहे इस नियम के पास अपने राज्य के रूप में, आत्मोपयुक्त विषयों का कोई क्षेत्र न भी हो, तो भी यह एक विशेष वैशिष्ट्यमय किसी न किसी क्षेत्र से युक्त होता है जिसके लिए एकमात्र यही नियम मान्य हो सकता है।

किन्तु उपर्युक्त विचारणाओं के साथ ही (साधर्म्य द्वारा निर्णय करना) आगे भी एक आधारभूमि है जिसके आधार पर निर्णय को हमारी प्रतिरूपण शक्तियो के एक अन्य विन्यास के सामञ्जस्य में लाया जा सकता है और एक ऐसे विन्यास के सामञ्जस्य में जो संज्ञानशक्तियों के कुटुम्ब के साथ अपनी बन्धुता के सामञ्जस्य से भी अधिक महत्त्व का प्रतीत होता है। क्योंकि अन्तरात्मा की सारी शक्तियाँ (Faculty) अथवा क्षमताएँ तीन शक्तियों में अवकार्य हैं जो एक सामान्य आधारभूमि से आगे किसी और व्युत्पादन को स्वीकार नहीं करतीं ज्ञान मनःशक्ति, (Faculty of Knowledge) आनन्द और विषाद की अनुभूति की मनःशक्ति और इच्छा मनःशक्ति। क्योंकि केवल संज्ञान की मनःशक्ति बुद्धि ही विधायिनी है, यदि (जैसी कि वह स्थिति होती है जहाँ इसे इच्छा मनःशक्ति के साथ स्वतः अन्तर्भ्रान्ति मुक्त समझा जाता है) सैद्धान्तिक संज्ञान की मनःशक्ति की भाँति इस मनःशक्ति का सन्दर्भ प्रकृति से निर्दिष्ट किया जाय एकमात्र जिस ही सम्बन्ध में (प्रपंच रूप में) हमारे लिए प्रकृति की उन प्रागनुभव संकल्पनाओं द्वारा नियमों को निर्दिष्ट करना सम्भव है जो वस्तुतः बुद्धि की विशुद्ध संकल्पनाएँ हैं। क्योंकि इच्छा मनःशक्ति के लिए स्वातन्त्र्य-संकल्पना के अन्तर्गत कार्य करने वाली एक उच्चतर मनःशक्ति रूप केवल तर्क-बुद्धि (एकमात्र जिसमें ही इस संकल्पना का स्थान होता है) ही प्रागनुभव नियमों का विधान करती है।—अब ज्ञान और इच्छा मनःशक्तियों के बीच उसी प्रकार आनन्दानुभूति का अस्तित्व है जिस प्रकार 'निर्णय' (Judgment) बुद्धि (Understanding) और तर्कबुद्धि (Reason) में माध्यमिक है। अतः हम कम से कम सामयिक या अस्थायी ढंग से यह तो मान ही सकते हैं कि निर्णय (Judgment) उसी प्रकार अपने एक निजी प्रागनुभव नियम (Principle) को अन्तर्धारण करता है और यह कि चूँकि आनन्द अथवा विषाद अनिवार्यतः इच्छा मनःशक्ति के साथ सम्बद्ध होता है (चाहे वह उसके नियम का पूर्वगत हो, जैसा कि निम्न-कोटि की इच्छाओं के साथ होता है या केवल नैतिक नियम द्वारा उसके निर्धारण पर आ टपकने वाली हो अतः वह उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञान की मनःशक्ति स

अर्थात् प्रकृति संकल्पनाओं के क्षेत्र से स्वातन्त्र्य संकल्पना के क्षेत्र की ओर संक्रमण घटित करेगा जिस प्रकार अपने अन्वीक्षात्मक नियोजन (Logical employment) मे वह बुद्धि से तर्कबुद्धि के प्रति संक्रमण को सम्भव बनाता है।

अतः दर्शन के दो प्रधान भागों सैद्धान्तिक और व्यावहारिक में विभाज्य होने के तथ्य के बावजूद और उन सारी बातों के होते हुए भी जो हमें, उसके सैद्धान्तिक भाग अर्थात् प्रकृति संकल्पनाओं के अनुसार तर्कनापरक संज्ञान को समर्पित होने पर निर्णय के विशिष्ट नियमों के सम्बन्ध में कहनी हो सकती हैं, वह 'विशुद्ध तर्कबुद्धि की मीमांसा' (Critique of pure reason), जिसे उपर्युक्त सिद्धान्त (System) के ग्रहण किए जाने के पूर्व ही अपने सम्पूर्ण प्रश्न को अवश्य ही सुलझा लेना चाहिए जिससे कि वह अपनी सम्भावना की अभिपुष्टि कर सके, तीन भागों से मिलकर निर्मित है : विशुद्ध बुद्धि की मीमांसा, विशुद्ध निर्णय की मीमांसा और विशुद्ध तर्कबुद्धि की मीमांसा, ये मनःशक्तियाँ अपने प्रागनुभविक रूप से नियम-विधायिनी होने के आधार पर विशुद्ध कहलाती हैं।

निर्णय एक ऐसी मनःशक्ति जिसके द्वारा प्रागानुभविक रूप से नियमों का विधान किया जाता है।

सामान्यतः निर्णय सार्वभौम में अन्तर्निहित विशेष के चिन्तन की मनःशक्ति है। यदि सार्वभौम (विधि, नियम या विधान) निर्दिष्ट है तो वह निर्णय जो विशेष को अपने में अन्तर्भूत करता है, 'निर्धारक' (Determinant) होता है। यह स्थिति वहाँ भी ऐसी ही होती है, जहाँ इस प्रकार का निर्णय अनुभवातीत (Transcendental) होता है और इस रूप में उन प्रागनुभव परिस्थितियों को प्रदान करता है, एकमात्र जिनके ही अनुसार उस सार्वभौम (Universal) में अन्तर्गमन सम्पन्न किया जा सकता है। तथापि यदि केवल विशेष (Particular) ही निर्दिष्ट (Given) है और सार्वभौम (Universal) को उसके लिए उपलब्ध करना या खोज निकालना है तो उस समय निर्णय केवल चिन्तनात्मक (Reflective) होता है।

निर्धारक निर्णय, बुद्धि द्वारा निष्पन्न सार्वभौम अनुभवातीत नियमों के अन्तर्गत निर्धारण करता है और मात्र उपनयशील (Subsumptive) होता है; और नियम इसके लिए प्रागानुभविक रूप से निर्दिष्ट होता है और यह प्रकृतिगत विशेष को सार्वभौम का आश्रित बनाने में अपने को सक्षम बनाने के लिए स्वयं अपने निर्देशन के हेतु किसी नियम का विधान करने की कोई आवश्यकता नहीं रखता। किन्तु प्रागानुभविक रूप से विशुद्ध बुद्धि द्वारा निष्पन्न नियमों द्वारा अनिर्धारित छोड़ दिए गये प्रकृति के ऐसे बहुत से अभिव्यक्त रूप (Manifold forms)

सार्वभौम अनुभवातीत प्रकृति संकल्पनाओं के विकार (Modifications) हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है और चूँकि ये नियम केवल एक ऐसी प्रकृति (इन्द्रिय-विषय रूप) की सामान्य सम्भावना का स्पर्श करते हैं कि वहाँ इसकी ओर से भी अवश्य ही नियम होने चाहिए। अनुभवमूलक होने के कारण ये नियम वहीं तक आनुषंगिक हो सकते हैं जहाँ तक कि हमारी बुद्धि का प्रकाश पहुँचता है किन्तु फिर भी, यदि वे नियम कहे जाते हैं (जैसा कि प्रकृति-संकल्पना अपेक्षा रखती है) तो इन्हें बहुविध की एकता के किसी नियम के आधार पर, चाहे वह अज्ञात ही क्यों न हो, अनिवार्य समझा जाना चाहिए। अतएव चिन्तनात्मक निर्णय को जो प्रकृतिगत विशेष से सार्वभौम के प्रति आरोहण करने के लिए विवश होता है, एक नियम(Principle) की आवश्यकता होती है। इस नियम को यह अनुभव से उधार नहीं ले सकता, क्योंकि इसे जो करना है वह है उच्चतर नियमों यद्यपि उसी प्रकार अनुभवमूलक नियमों के अन्तर्गत सारे अनुभवमूलक नियमों के ऐक्य (Unity) की ओर वहाँ से चलकर उच्चतर और निम्नतर नियमों की व्यवस्थित अधीनता की सम्भावना की स्थापना करना। अतएव चिन्तनात्मक निर्णय इस प्रकार की अनुभवातीत विधि (Law) को केवल एक नियम के रूप में स्वयं अपने से स्वयं अपने को प्रदान कर सकता है। यह इसे किसी अन्य दिशा से व्युत्पादित नहीं कर सकता (क्योंकि उस समय यह निर्धारक निर्णय हो जायगा)। न तो यह इसे प्रकृति के लिए ही विहित कर सकता है क्योंकि प्रकृति के नियमों पर किया जाने वाला चिन्तन स्वयं अपने को प्रकृति के साथ समंजित कर लेता है और न तो प्रकृति ही इसे उन उपाधियों (Conditions) के लिए विहित कर सकती है जिनके अनुसार हम इसकी एक संकल्पना प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं—एक ऐसी संकल्पना जो इन उपाधियों के सम्बन्ध में नितान्त आनुषंगिक है।

अब अभीष्ट नियम केवल यह हो सकता है; चूँकि प्रकृति के सार्वभौम नियमों की अपनी आधारभूमि हमारी बुद्धि में है जो कि उन्हें प्रकृति के लिए विहित करती है (यद्यपि प्रकृति रूप में केवल इसकी सार्वभौम संकल्पना के अनुसार ही) अतः एक ऐसी एकता (Unity) के अनुसार, जो उन्हें प्राप्त होती, बशर्ते किसी बुद्धि ने (भले ही वह हमारी न हो) हमारी संज्ञान शक्तियों (Cognitive faculties) के लाभ के लिए विशिष्ट प्राकृतिक नियमों के अनुसार अनुभव के किसी सिद्धान्त (System of experience) को सम्भव बनाने के लिए उन्हें प्रदान किया होता, जिसे इन सार्वभौम नियमों द्वारा उनके अन्दर अनिर्धारित छोड़ दिया गया है इस वस्तु के सम्बन्ध में विशिष्ट अनुभवमूलक नियमों द्वारा समझा जाना चाहिए इसको इस चीज़ को उपलक्षित करने वाली वस्तु के रूप में नहीं

ग्रहण किया जाना चाहिए कि इस प्रकार की मनःशक्ति (Faculty) अवश्य कल्पित की जानी चाहिए (क्योंकि यह केवल चिन्तनात्मक निर्णय ही है जो किसी वस्तु का निर्धारण करने के लिए नहीं अपितु चिन्तनार्थ एक नियम (principle) के रूप में, इस प्रत्यय से लाभ उठाता है) बल्कि यह मनःशक्ति इसके द्वारा प्रकृति को नहीं बल्कि केवल अपने को ही एक नियम प्रदान करती है ।

अब किसी वस्तु की संकल्पना जहाँ तक कि वह साथ ही उस वस्तु (Object) की वास्तविकता (Actuality) की आधारभूमि को अन्तर्धारण करती है, उसका उद्देश्य (End) कहलाती है और वस्तुओं के उस संघटन (Constitution) के साथ जो मात्र उद्देश्यों के अनुसार ही सम्भव है, किसी वस्तु की सहमति (Agreement) उसके रूप (Form) की चरमता (Finality) कहलाती है । तदनुसार सामान्यतः अनुभवमूलक नियमों के अन्तर्गत प्रकृति की वस्तुओं के रूपों के सम्बन्ध में निर्णय का नियम प्रकृति की बहुलता में उसकी (प्रकृति की) चरमता है । दूसरे शब्दों में इस संकल्पना द्वारा प्रकृति उपस्थापित होती है जैसे मानो बुद्धि उसके बहुविध आनुभविक नियमों की एकता की आधारभूमि को अन्तर्धारण करती हो ।

अतएव प्रकृति की चरमता (Finality) एक विशेष प्रागनुभव संकल्पना है जिसका उद्भव अनन्यतः चिन्तनात्मक निर्णय से होता है क्योंकि प्रकृति की कृतियों मे हम प्रकृति की कृतियों (Products of nature) के ऊपर उद्देश्यों के सम्बन्धोल्लेख जैसी किसी चीज का आरोपण नहीं कर सकते बल्कि हम केवल प्रकृतिगत प्रपञ्च के सम्पर्क के सम्बन्ध में उन पर चिन्तन करने के लिए उनका उपयोग कर सकते हैं—एक ऐसा सम्पर्क जो अनुभवमूलक नियमों के अनुसार निर्दिष्ट (Given) है । इसके आगे, यह संकल्पना, व्यावहारिक चरमता से सर्वथा भिन्न है (मानवी कला अथवा यहाँ तक कि आचार में भी) हालांकि यह निस्सन्देह, इस साधर्म्य के पश्चात् सोची जाती है ।

प्रकृति की रूपात्मक चरमता का नियम निर्णय का एक अनुभवातीत नियम है ।

अनुभवातीत नियम वह नियम है जिसके द्वारा हम प्रागानुभविक रूप से उस सार्वभौम अवस्था को उपस्थापित करते हैं एकमात्र जिसके ही अन्तर्गत वस्तुएँ (Objects) हमारे संज्ञान का विषय बन सकती हैं । दूसरी ओर वहाँ एक नियम विशेष को तत्वमीमांसात्मक (Metaphysical) कहा जाता है जहाँ वह प्रागानुभविक रूप से उस अवस्था (Condition) को उपस्थापित करता है, एकमात्र जिसके ही अन्तर्गत वे वस्तुएँ (Objects) और आगे प्रागानुभविक रूप से निर्धारित हो

सकती हैं जिनकी संकल्पना अनुभवमूलक रूप से निर्धारित करनी पड़ती है। इस प्रकार द्रव्य और परिवर्तनीय द्रव्य रूप शरीरों या पिण्डों (Bodies) के संज्ञान का नियम वहाँ अनुभवातीत (Transcendental) होता है, जहाँ यह कथन होता है कि उनके परिवर्तन का अवश्यमेव एक कारण होना चाहिए : किन्तु जहाँ यह इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि उनके परिवर्तन का अवश्य ही एक बाह्य कारण होना चाहिए। क्योंकि पहली स्थिति में न्यायवाक्य को प्रागनुभव (A-priori) रूप में संज्ञात किये जाने में सक्षम बनाने के लिए शरीरों के केवल तात्विक विधेयों (बुद्धि की विशुद्ध संकल्पनाओं) के द्वारा उदाहरणार्थ द्रव्य रूप में, सोचे जाने की आवश्यकता है, जबकि दूसरी स्थिति में शरीर की अनुभवमूलक संकल्पना को (देशगत एक चल वस्तु के रूप में) न्यायवाक्य के समर्थनार्थ अवश्यमेव समाविष्ट किया जाना चाहिए हालांकि इसके एक बार होजाने पर यह सर्वथा प्रागानुभविक रूप से देखा जा सकता है कि परवर्ती विधेय (केवल किसी बाह्य कारण द्वारा चेष्टा) शरीर पर लागू होता है। इस प्रकार, जैसा कि मैं सद्य: प्रदर्शित करूँगा, प्रकृति की चरमता (Finality) का नियम (उसके अनुभवमूलक नियमों की विविधता में) एक अनुभवातीत नियम है। क्योंकि इस नियम के अन्तर्गत अवस्थित समझी जाने वाली वस्तु-संकल्पना (The concept of objects) केवल सामान्यतया सम्भाव्य अनुभवमूलक संज्ञान है और किसी भी अनुभवमूलक वस्तु को द्योतित नहीं करती। दूसरी ओर किसी स्वतन्त्र संकल्प (Free Will) के निर्धारण में निहित व्यावहारिक चरमता (Practical finality) का नियम एक तत्वमीमांसात्मक नियम होगा, क्योंकि संकल्पशक्ति रूप इच्छा की किसी मनःशक्ति की संकल्पना में अनुभवमूलक रूप से निर्दिष्ट करना पड़ेगा अर्थात् वह अनुभवातीत विधेयों में अन्तर्भूत नहीं है। किन्तु फिर ये भी दोनों नियम अनुभवमूलक न होकर केवल प्रागानुभविक हैं, क्योंकि इनके निर्णयों के कर्ता (Subject) की अनुभवमूलक संकल्पना के साथ विधेय के समन्वय के लिए किसी और अनुभव की अपेक्षा नहीं होती बल्कि वह सर्वथा प्रागानुभविक रूप से बोधगत की जा सकती है।

प्रकृति की किसी चरमता की संकल्पना अनुभवातीत नियमों से सम्बन्ध रखती है यह बात निर्णय के उन सूत्रों (Maxims) से प्रचुरतया सुस्पष्ट है, जिन पर हम प्रकृति की अन्वेषणा में प्रागानुभविक रूप से विश्वास या निर्भर करते हैं और जिनका फिर भी अनुभव की और परिणामतः प्रकृति ज्ञान की सम्भावना के अतिरिक्त और किसी वस्तु के साथ कोई प्रयोजन नहीं है—किन्तु प्रकृति की सम्भावना केवल एक सामान्य रूप में ही नहीं बल्कि बहुविध विशिष्ट नियमों द्वारा निर्धारित रूप में। किन्तु ये सूत्र इस विज्ञान की प्रक्रिया में प्राय प्रचुर रूप से आ उभरते हैं यद्यपि केवल विकीर्ण ढग से व तत्वमीम ् मनीषा (Metaphysica

Wisdom) की सूक्तियाँ (Aphorisms) हैं जो अपने को ऐसे अनेक नियमों में प्रकट करती हैं जिनकी अनिवार्यता संकल्पनाओं से प्रदर्शित नहीं की जा सकती। प्रकृति सबसे संक्षिप्त मार्ग अपनाती है (Lex Parsimoniae) फिर भी वह छलाँगें नहीं मारती, न तो अपने परिवर्तनों के अनुक्रम में और न विशिष्टतया भिन्न रूपों (Lex continui in natura) के सन्निधान में ही, तो भी अनुभवमूलक नियमों में इसका विराट् वैविध्य कुछेक नियमों के अन्तर्गत एकता है (Principia praeter necessitatem non sunt multiplicanda) आदि-आदि।

यदि हम इन प्रारम्भिक या मूलभूत नियमों (Eementary rules) के उद्भव का निश्चय करना चाहें और ऐसा हम मनोवैज्ञानिक पद्धतियों पर करने का प्रयास करें तो हम सीधे उनके अर्थबोध के भीतर प्रवेश करते हैं। क्योंकि वे हमें यह नहीं बताते कि क्या घटित होता है अर्थात् किस नियम के अनुसार हमारे निर्णय की शक्तियाँ वस्तुतः अपने कार्य सम्पन्न करती हैं और हम कैसे निर्णय करते हैं बल्कि हमें कैसे निर्णय करना चाहिए और जहाँ नियम कोई अनुभवमूलक होते है, वहाँ हम इस अन्वीक्षात्मक वस्तुनिष्ठ अनिवार्यता को नहीं पा सकते। अतः हमारी सज्ञानी मनःशक्तियाँ और उनके नियोजन के लिए प्रकृति की चरमता या सोद्देश्यता (Finality) जो व्यक्त रूप से उनके भीतर से विच्छुरित होती है निर्णयों का एक अनुभवातीत नियम है और अतएव वह एक ऐसे अनुभवातीत निगमन (Transcendental Deduction) की भी अपेक्षा रखती है जिसके द्वारा निर्णय करने को इस विधा की आधारभूमि का ज्ञान के प्रागनुभव स्रोतों में सन्धान पाया जाना चाहिए।

अब किसी अनुभव की सम्भावना की आधारभूमियों की ओर देखते हुए निश्चय ही वह प्रथम चीज जो हमें प्राप्त होती हैं वह विशेष अनिवार्य वस्तु है अर्थात् वह वे सार्वभौम नियम (Universal laws) है जिनसे पृथक् सामान्यतः (इन्द्रियार्थ रूप में) प्रकृति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये उन प्रवर्गों पर निर्भर करते हैं जो उस सीमा तक हमारे लिए सम्भव निखिल स्वानुभूति की साधारण परिस्थितियों के प्रति प्रयुक्त किए जाते हैं, जिस सीमा तक वह प्रागनुभविक रूप से भी निर्दिष्ट की गई होती है। इन नियमों के अन्तर्गत निर्णय निर्धारक होता है: क्योंकि निर्दिष्ट नियमों (Given laws) के अन्तर्गत उपनीत करने के अतिरिक्त यह और कुछ भी नहीं करता। उदाहरणार्थ, बुद्धि कहती है: सारे परिवर्तन का अपना कारण (प्रकृति का सार्वभौम नियम) होता है; अनुभवातीत निर्णय को अपने सम्मुख स्थापित बुद्धि की संकल्पना के अन्तर्गत उपनय की परिस्थिति का प्रागानुभविक रूप से निर्माण करने के अतिरिक्त आगे और कुछ भी नहीं करना होता ' इस वस्तु को हम एक ही वस्तु के निर्धारणों के अनुक्रम में पाते हैं अब : सम्भव अनु

भव की विषय रूप प्रकृति के लिए वह नियम पूर्णतया अनिवार्य प्रज्ञात किया जाता है। किन्तु इस रूपात्मक कालोपाधि के अतिरिक्त अनुभवमूलक परिस्थिति के विषय (Objects) उस सीमा तक विविध रूप से निर्धारित अथवा निर्धार्य होते हैं जिस सीमा तक कि हम प्रागानुभविक रूप से निर्णय कर सकते हैं, जिससे कि विशिष्टतया विभेदित प्रकृतियाँ, उस वस्तु के अतिरिक्त जो सामान्यतः प्रकृति की वस्तुओं के रूप में उन सब के पास है, अनन्त प्रकार से आगे भी कारण बनने में सक्षम हैं; और इनमें से प्रत्येक विधा (Mode) निश्चय ही, सामान्यतः कारण की संकल्पना पर अपना नियम लागू करती है जो कि एक विधान है और परिणामतः अनिवार्यता को उपलक्षित करता है; यद्यपि अपनी संज्ञान-मनःशक्तियों के संघटन एवं सीमाओं के कारण हम इस अनिवार्यता (Necessity) को देखने में पूर्णतया विफल रह सकते है। तदनुसार प्रकृति के निरे अनुभवमूलक नियमों के सम्बन्ध में हमें प्रकृति में ऐसे अनुभवमूलक नियमों के अनन्त बाहुल्य (Endless multiplicity) की सम्भावना की अवश्य कल्पना करनी चाहिए जो भी उस सीमा तक अनुषंगी हैं जिस सीमा तक कि हमारी अन्तर्दृष्टि पहुँचती है अर्थात् वे प्रागानुभविक रूप से प्रज्ञात नहीं किये जा सकते। इनके सम्बन्ध में हम अनुभवमूलक नियमों के अनुसार प्रकृति की एकता का प्राक्कलन करते हैं और अनुभवमूलक नियमों के अनुसार एक तन्त्र के रूप में अनुभव की एकता की सम्भावना के अनुषंगी होने का प्राक्कलन करते है। किन्तु अब इस प्रकार की एकता एक ऐसी एकता है जिसे अनिवार्यतः पूर्वकल्पित और गृहीत होना चाहिए क्योंकि अन्यथा हम एक सम्पूर्ण अनुभव में अनुभवमूलक संज्ञान का एक आद्यान्त-व्यापी सम्बन्ध नहीं पायेंगे। क्योंकि प्रकृति के सार्वभौम नियम निश्चय ही जहाँ सामान्यतः प्रकृति-वस्तुओं रूप-वस्तुओं के बीच उत्पत्ति की दृष्टि से ऐसा सम्बन्ध प्रदान करते हैं वहाँ वे उनके लिए प्रकृति की विशिष्ट वस्तुओं-रूप उनके लिए विशिष्टतया नहीं करते। अतः निर्णय स्वयं अपने निर्देशन के लिए इसे एक ऐसे प्रागनुभव नियम के रूप में ग्रहण करने के लिए विवश है, कि वह वस्तु जो प्रकृत्ति के विशेष (अनुभवमूलक) नियमों में मानवी अन्तर्दृष्टि के लिए अनुषंगी है, वह फिर भी आन्तरिक रूप से सम्भव किसी अनुभव में अपने बहुगुण के समन्वय में नियम के ऐक्य को अन्तर्धारण करता है—एक ऐसा अनुभव जो अपरिमेय है, यद्यपि जो अब भी चिन्त्य है क्योंकि ऐसा ऐक्य निस्सन्देह अब भी हमारे लिए हो सकता है। परिणामतः, चूँकि किसी ऐसे समन्वय में, नियम की एकता, जो किसी आवश्यक लक्ष्य (बुद्धि की किसी आवश्यकता) के आज्ञानुवर्तन से हमारे द्वारा संज्ञात किया जाता है, यद्यपि वह साथ ही अनुषंगी भी माना जाता है वस्तुओं की (यहाँ प्रकृति की) चरमता या उद्देश्यमयता के रूप में उपस्थापित किया जात ह अत निणय, जो कि (फिर भी गवष्य) नियमों के

अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में मात्र मननात्मक है हमारी उस संज्ञानशक्ति के लिए चरमता के एक नियम (A principle of finality) के अनुसार प्रकृति को उसे परवर्ती के सम्बन्ध में समझना चाहिए, जो उस समय निर्णय के उपर्युक्त सूत्रों (Maxims) में अभिव्यक्ति पाती है। अब प्रकृति की चरमता की यह अनुभवातीत संकल्पना न तो प्रकृति की संकल्पना है और न ही स्वातन्त्र्य की क्योंकि यह वस्तु को अर्थात् प्रकृति को नितान्त कुछ भी नहीं प्रदान करती वल्कि केवल उस विशिष्ट (Unique) विधा को प्रस्तुत करती है जिसमें एक पूर्णतया अन्तःसम्बद्ध सम्पूर्ण अनुभव को प्राप्त करने के अभिप्राय से, हमें प्रकृति की वस्तुओं पर चिन्तन की दिशा में अवश्य अग्रसर होना चाहिए और इसलिए वह एक व्यक्तिनिष्ठ नियम अर्थात् निर्णय का एक सूत्र है। इस कारण भी, जैसे मानो यह एक ऐसा भाग्यशाली सुयोग रहा हो जिसने हमारा पक्षपोषण किया, वहाँ हम हर्षोल्लसित होते है (सच पूछिए तो अभावों से मुक्त होते हैं) जहाँ हमें निरे अनुभवमूलक नियमों के अन्तर्गत इस प्रकार की सुव्यवस्थित एकता प्राप्त होती है : यद्यपि हमें अपनी ओर से इसे (एकता को) बोधगत करने अथवा इसकी सत्ता को सिद्ध करने की किसी भी योग्यता से पृथक् इस प्रकार की एकता की उपस्थिति को अनिवार्यतः मान लेना चाहिए।

अपने सम्मुख उपस्थित संकल्पना के इस निगमन की शुद्धता और संज्ञान के एक अनुभवातीत नियम के रूप में इसे ग्रहण करने की आवश्यकता के सम्बन्ध मे अपने को विश्वास दिलाने के लिए आइए हम जरा कार्य की महत्ता का स्मरण करें। हमें एक ऐसी प्रकृति के निर्दिष्ट प्रत्यक्षानुभवों (Given perceptions) से एक सम्पृक्त अनुभव (Connected experience) का निर्माण करना है, जो अनुभवमूलक नियमों के एक सम्भाव्य अनन्त बाहुल्य को अन्तर्धारण करती है और इस समस्या का अधिष्ठान प्रागानुभविक रूप से हमारी बुद्धि में है। यह बुद्धि (Understanding) निस्सन्देह, प्रागानुभविक रूप से प्रकृति के उन सार्वभौम नियमों के अधीन है जिनसे पृथक् प्रकृति अनुभव का विषय होने में सर्वथा अक्षम होगी। किन्तु इसके अतिरिक्त यह अपने उन विशिष्ट नियमों में प्रकृति की किसी विशेष व्यवस्था (Order) की अपेक्षा रखती है जो केवल अनुभवमूलक रीति से ही इसके द्वारा अवगत होने में समर्थ हैं और जो, जहाँ तक कि इसका सम्बन्ध है, अनुषंगी हैं। ये नियम, जिनके बिना सामान्यतः किसी सम्भव अनुभव के सार्वभौम साधर्म्य (Universal analogy) से विशेष साधर्म्य की ओर बढ़ने का हमारे पास कोई भी साधन न होता, बुद्धि द्वारा अवश्य ही नियम (Laws) अर्थात् अनिवार्य (Necessary) समझे जाने चाहिए—क्योंकि अन्यथा उनके पास प्रकृति का कोई क्रम विन्यास नहीं होगा—भले ही यह उनकी अनिवार्यता को प्रज्ञात

करने अथवा उसमें कभी भी कोई एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने में अक्षम ही क्यों न हो। यद्यपि, उस समय, यह इनके (इन वस्तुओं के) सम्बन्ध में प्रागानुभविक रूप से कुछ भी निर्धारित नहीं कर सकता, इस प्रकार के तथाकथित अनुभवमूलक नियमों के व्यवसाय में इसे उन पर होने वाले सम्पूर्ण चिन्तन के मूल में एक ऐसे प्रागनुभव-नियम को स्थापित करना चाहिए जो इस प्रकार के अभिप्राय का हो कि प्रकृति की एक संज्ञेय सुव्यवस्था उनके अनुसार सम्भव है। इस प्रकार का एक नियम निम्नलिखित न्यायवाक्यों में व्यक्त है। प्रकृति में हमारे द्वारा अवबोध्य प्रजातियों और उपजातियों की एक अधीनता (Subordination) देखी जाती है। इन प्रजातियों में से प्रत्येक एक सर्वसामान्य नियम के आधार पर पुनः दूसरी के सन्निकट पहुँचती है जिससे कि एक से दूसरी तक और फलतः एक उच्चतर प्रजाति तक संक्रमण सम्भव हो सके। जबकि हमारी बुद्धि के लिए नितान्त आरम्भ से ही प्राकृतिक संक्रियाओं के विशिष्ट वैविध्य के लिए वैसी अनेक प्रकार की कारणता को ग्रहण करना या मानना अपरिहार्य प्रतीत होता है तथापि ये सबके सब ऐसे बहुत थोड़े से नियमों में अपचित किए जा सकते हैं जिनका अनुसंधान करना हमारा कार्य है; इत्यादि-इत्यादि। हमारी संज्ञान शक्तियों (Cognitive faculties) के प्रति प्रकृति का यह अनुकूलीकरण (Adaptation) अनुभवमूलक नियमों के अनुसार निर्णय द्वारा उस पर विहित उसके चिन्तन की ओर प्रागानुभविक रूप से पूर्वकल्पित किया जाता है। किन्तु बुद्धि इसे सदैव वस्तुनिष्ठ रूप से अनुषंगी मानती है और यह मात्र निर्णय ही है जो इसे अनुभवातीत चरमता या सोद्देश्यता अर्थात् विषयी की संज्ञानशक्ति के सम्बन्ध में होने वाली सोद्देश्यता रूप प्रकृति पर आरोपित करता है। क्योंकि यदि यह इस पूर्वकल्पना के लिए न होती तो अनुभवमूलक नियमों के अनुरूप हमारे पास प्रकृति की कोई क्रम-व्यवस्था न होती और परिणामतः किसी अनुभव के लिए कोई ऐसा निर्देशक-सूत्र न होता जिसे इनको इनकी सम्पूर्ण विविधता में एकसूत्रित करने अथवा इनका अन्वेषण करने के लिए लाना पड़ता।

क्योंकि यह सर्वथा अनुमेय है कि सार्वभौम नियमों के अनुसार प्रकृति की वस्तुओं की उस सम्पूर्ण एकरूपता के होते हुए, जिसके बिना, हमारे पास सामान्य अनुभवमूलक ज्ञान का कोई रूप ही न होता प्रकृति के अनुभवमूलक नियमों का विशिष्ट वैविध्य अपने प्रभावों (Effects) के साथ फिर भी इतना महान् हो सकता है कि वह हमारी बुद्धि के लिए यह सम्भव बना सकता है कि वह प्रकृति में एक बुद्धिगम्य क्रम-व्यवस्था (Order) की खोज कर सके और उसकी कृतियों (Products) को प्रजातियों (Genera) और जातियों (Species) में विभक्त कर सके जिससे कि हम दूसरी व्याख्या और भाष्य करने के लिए एक की व्याख्या और बोध के नियम

से लाभ उठा सकें और इस प्रकार की अन्तर्भ्रान्ति (Confusion) से हाथ लगने वाली सामग्री से (सच पूछिए तो केवल अनिश्चित विविध रूपात्मक और हमारी बोधशक्ति के प्रति कुअनुकूलित) अनुभव का एक सुसंगत सन्दर्भ बना सकें।

इस प्रकार निर्णय भी प्रकृति की सम्भावना (Possibility) के लिए एक प्रागनुभव नियम से सुसज्जित होता है किन्तु केवल व्यक्तिनिष्ठ सम्बन्ध में। इसके द्वारा यह, प्रकृति पर अपने चिन्तन के निर्देशनार्थ एक नियम का विधान करता है, (स्वाधीनता रूप) प्रकृति के लिए नहीं अपितु (ह्यूटोनामी रूप) स्वयं अपने लिए। इस नियम (Law) को प्रकृति के अनुभवमूलक नियमों के सम्बन्ध में प्रकृति के विशिष्टीकरण का नियम कहा जा सकता है। यह एक ऐसा नियम नहीं है जिसे प्रकृति में प्रागानुभविक रूप से प्रज्ञात किया जाता है, बल्कि निर्णय इसे उस विभाजन में, हमारी बुद्धि द्वारा संज्ञेय प्राकृतिक क्रम-व्यवस्था के हितों में ग्रहण करता है जिसे यह उस समय प्रकृति के सार्वभौम नियमों का करता है, जिस समय यह विशिष्ट नियमों के एक वैविध्य को उनके अधीन बनाने का प्रयास करता है। अतः जब यह कहा जाता है कि प्रकृति हमारी सज्ञान शक्तियों की चरमता (Finality) के लिए अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान द्वारा मानव बुद्धि के सम्मुख प्रस्तुत विशेष (Particular) के लिए सामान्य (Universal) की खोज करने वाली मानव बुद्धि और उसकी अनिवार्य क्रिया की उपयुक्तता लिए और पुनः नियम की एकता में विविधताओं (जो निस्सन्देह प्रत्येक वर्ग या प्रजाति के लिए सर्वसामान्य हैं) के सम्बन्ध के सार्वभौम नियमों का एक सिद्धान्त (Principle) के आधार पर वर्गीकरण करती है उस समय हम उसके द्वारा न तो प्रकृति के लिए किसी नियम (Law) का विधान करते हैं और न निरीक्षण द्वारा उससे किसी नियम को सीखते ही हैं—यद्यपि विवादास्पद नियम इसके द्वारा पुष्ट हो सकता है। क्योंकि यह निर्धारक निर्णय का नियम न होकर केवल चिन्तनात्मक निर्णय का नियम है। जो कुछ अभिप्रेत है वह यह है, कि अपने सार्वभौम नियमों के सम्बन्ध में प्रकृति का क्रम (Order) और विन्यास (Disposition) चाहे कुछ भी हो, हमें उन नियम और सूत्रों के आधार पर, जो उसके आधार पर निर्मित हैं, आद्यन्त उसके अनुभवमूलक नियमों (Empirical laws) की अवश्य छान-बीन करनी चाहिए, क्योंकि केवल वहीं तक हम अपनी अनुभवगत बुद्धि के नियोजन में आगे कोई पथ बना सकते अथवा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जहाँ तक कि वह नियम लागू होता है।

प्रकृति की सोद्देश्यता के ऐक्य के साथ आनन्दानुभूति का साहचर्य

अपने बहुविध विशेष नियमों में प्रकृति के लिए नियमों की सार्वभौमता खोजने की हमारी आवश्यकता के साथ प्रकृति की कल्पित (Conceived) संगति

जहाँ तक कि हमारी अन्तर्दृष्टि पहुँचती है, अवश्य आनुषंगिक समझी जानी चाहिए, किन्तु साथ ही हमारी बुद्धि की आवश्यकताओं के लिए अनिवार्य और परिणामतः एक ऐसी चरमता या सोद्देश्यता (Finality) समझी जानी चाहिए जिसके द्वारा प्रकृति हमारे लक्ष्य (Aim) के सामञ्जस्य में होती है, किन्तु मात्र वहीं तक, जहाँ तक कि यह ज्ञान की दिशा में निदेशित होती है। बुद्धि के सार्वभौम नियम, जो समान रूप से प्रकृति के नियम हैं, यद्यपि वे स्वाभाविकता (Spontaniety) से उद्भूत होते हैं, प्रकृति के लिए उतने ही अनिवार्य हैं जितने कि पदार्थ पर प्रयोज्य गति के नियम। यह देखते हुए कि यह केवल उनके ही द्वारा सम्भव है कि हम सर्वप्रथम वस्तुओं के (प्रकृति के) किसी ज्ञान के अर्थ की किसी सकल्पना के सन्निकट पहुँचते हैं और वे विवश होकर सामान्यतः हमारे संज्ञान के विषय रूप में प्रकृति पर प्रयुक्त होते हैं, उनका उद्भव (Origin) हमारी संज्ञान-शक्तियों के किसी सम्बन्ध को पूर्वकल्पित नहीं करता। किन्तु, जहाँ तक हम देख सकते हैं यह आनुषंगिक है कि अपने विशेष नियमों में प्रकृति की क्रम-व्यवस्था को (Order) कम से कम अपने सम्भव वैविध्य या वैजात्य (Heterogeneity) के वैभव के साथ हमारे बोध की सम्पूर्ण शक्ति का अतिक्रमण करते हुए भी इन शक्तियों के साथ यथार्थतः समानुपातिक होना चाहिए। इस क्रम-व्यवस्था को खोज निकालना हमारी उस बुद्धि की ओर से एक दायित्व है जो इसका, अपने एक निजी अनिवार्य लक्ष्य अर्थात् प्रकृति में नियम की एकता का समावेश करने के सम्बन्ध में अनुष्ठान करती है। तो इस लक्ष्य को अवश्यमेव निर्णय द्वारा प्रकृति पर आरोपित किया जाना चाहिए क्योंकि यहाँ बुद्धि द्वारा इसके लिए किसी भी नियम का विधान नहीं किया जा सकता है।

प्रत्येक लक्ष्य की उपलब्धि एक आनन्दानुभूति से संयुक्त होती है। अब जहाँ इस प्रकार की उपलब्धि के पास अपनी उपाधि के लिए कोई प्रागनुभव उपस्थापन होता है—जैसा कि यहाँ सामान्य रूप में चिन्तनात्मक निर्णय के लिए एक नियम है—वहाँ आनन्दानुभूति भी उस आधारभूमि द्वारा निर्धारित होती है जो प्रागनुभव और सर्वजन-मान्य है और वह भी मात्र वस्तु का हमारी संज्ञानशक्ति के साथ सन्दर्भ के कारण। चूँकि यहाँ चरमता की संकल्पना इच्छा मनःशक्ति (Faculty of desire) पर किसी भी प्रकार का कोई भी ध्यान नहीं देती, अतः यह प्रकृति की समस्त व्यावहारिक चरमता से सर्वथा भिन्नता प्रकट करती है।

वास्तव में, हम स्वयं अपने भीतर प्रत्यक्ष बोधों (Percept) के साथ उन नियमों (Laws) के सम्पात से, जो प्रकृति की सार्वभौम संकल्पनाओं (बुद्धि-विकल्पों) के अनुरूप हैं आनन्दानुभूति पर किञ्चित्मात्र भी प्रभाव (पड़ता हुआ) नहीं पाते और नहीं पा सकते क्योंकि उनकी स्थिति में बुद्धि बिना दूरवर्ती लक्ष्य क अपनी

निजी प्रकृति की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अनुसरण करती है। किन्तु जिस समय यह ऐसा है दूसरी ओर यह खोज कि प्रकृति के दो या अधिक अनुभवमूलक भिन्न जातीय नियम एक ऐसे सिद्धान्त के अन्तर्गत सम्बद्ध होते हैं जो उन दोनों को आत्मसात् करता है, प्रत्येक श्लाघ्य आनन्द, प्रायः सराहना की भी आधारभूमि है, ऐसी भी (आधारभूमि) जो क्षीण नहीं होती भले ही हम उसके विषय (Object) से पूर्वतः यथेष्ट परिचित हों। यह सत्य है कि अब हम इससे आगे प्रकृति की बोधगम्यता अथवा उन प्रवर्गों और प्रजातियों में, इसके विभाजन की एकता में किसी सुनिश्चित आनन्द को नहीं देखते, जिनके बिना वे अनुभवमूलक संकल्पनाएँ जो हमें प्रकृति सम्बन्धी हमारे ज्ञान को उसके विशिष्ट नियमों में प्रधान करती हैं, सम्भव नहीं होंगी। तथापि यह निश्चित है कि आनन्द यथासमय प्रकट हुआ और इसके बिना अत्यन्त साधारण अनुभव के असम्भव होने के कारण मात्र से ही, यह सहज संज्ञान के साथ घुलमिल कर एकाकार हो गया है और अब और आगे यह विशेष अवधान को आकृष्ट नहीं करता। तो कोई ऐसी वस्तु जो हमें प्रकृति के अपने आकलन में हमारी बुद्धि के लिए उसकी चरमता (Finality) के प्रति अवधानशील बनाती है—जहाँ सम्भव हो वहाँ इसके विषमांग नियमों (Heterogeneous laws) को उच्चतर यद्यपि फिर भी सतत अनुभवमूलक नियमों के अन्तर्गत लाने का एक प्रयास अपेक्षित होता है इसलिए कि सफलता प्राप्त होने पर संज्ञान शक्तियों (Cognitive faculties) के साथ उनके इस सामञ्जस्य में आनन्द अनुभव किया जा सके जो सामञ्जस्य कि हमारे द्वारा विशुद्धतः आनुषंगिक समझा जाता है। इसके विरुद्ध, प्रकृति की प्रस्तुति (Representation) हमारे लिए सर्वथा विषादजनक होगी। बशर्ते हम इस बात से पूर्वापसूचित हों कि सामान्यतम अनुभव के परे किञ्चिद् भी अनुसंधान किए जाने पर हम इसके नियमों की एक ऐसी विषमांगता (Heterogeneity) के ससर्ग में आयेंगे जो हमारी बुद्धि के लिए सार्वभौम अनुभवमूलक नियमों के अन्तर्गत विशेष नियमों के सम्मेल (Union) को असम्भव बना देगा। क्योंकि यह अपने प्रवर्गों में प्रकृति के व्यक्तिनिष्ठतः चरम विशेषोल्लेख (Subjectively final specification of nature in its genera) के नियम (Principle) और उसके सम्बन्ध में स्वयं हमारे चिन्तनात्मक निर्णय के साथ टकराएगा।

फिर भी निर्णय की यह पूर्वकल्पना, संज्ञान शक्तियों (Cognitive Faculties) के लिए प्रकृति की उस आदर्श चरमता (Ideal Finality) के प्रचलन सीमा के प्रश्न पर इतना अनिर्दिष्ट (Indeterminate) है कि यदि हम से यह कहा जाय, कि निरीक्षण से व्युत्पादित प्रकृति के अपेक्षाकृत एक अधिक अन्वेषणशील अथवा परिवर्द्धित ज्ञान को अन्ततः हमें ऐसे नियमों (Laws) की बहुलता में लाना चाहिए जिन्हें कोई भी मानवीय बुद्धि किसी सिद्धान्त या सूत्र (Principle) में अवकृत नहीं

कर सकती तो हम विचार (Thought) के साथ अपना समन्वय स्थापित कर सकते हैं। किन्तु फिर भी हम उन अन्य लोगों की बात अधिक आह्लाद के साथ सुनते हैं जो हमें इस आशा से प्रलुब्ध करते हैं कि जितनी ही अधिक निकटता के साथ हम प्रकृति के रहस्यों को जानने लगते हैं अथवा जितने ही अधिक उत्कृष्ट ढंग से हम इसकी उन बाह्य सदस्यों के साथ तुलना करने में सक्षम होते हैं जो अब भी अज्ञात हैं, उतना ही अधिक सहज हम इसे इसके नियमों में पाते हैं और जितना ही और आगे हमारा अनुभव बढ़ता है उतना ही अधिक सामञ्जस्यपूर्ण हम इसे इसके अनुभवमूलक नियमों की प्रतीयमान विषमांगता में पायेंगे। क्योंकि हमारा निर्णय उस सीमा तक हमारी संज्ञान शक्ति (Faculty of cognition) के साथ प्रकृति की नियमानुसारिता के सिद्धान्त पर आगे बढ़ना हमारे लिए अपरिहार्य बना देता है जिस सीमा तक बिना यह निश्चय किए, वह सिद्धान्त प्रसार पाता है—क्योंकि किसी निर्धारक निर्णय द्वारा नियम (Rule) हमें नहीं प्रदान किया जाता—कि सीमाएँ कहीं इसे बाँधे हुए हैं अथवा नहीं। क्योंकि जहाँ हमारी संज्ञान शक्ति के तर्कनापरक नियोजन के सम्बन्ध में सीमाएँ निश्चित रूप से निर्धारित की जा सकती हैं वहाँ अनुभवमूलक क्षेत्र में सीमाओं (Bonds) का कोई ऐसा निर्धारण सम्भव नहीं है।

प्रकृति की चरमता या सोद्देश्यता (Finality of Nature) **का सौन्दर्यपरक उपस्थापन।**

वह वस्तु जो किसी वस्तु (Object) के उपस्थापन में विशुद्धतः व्यक्तिपरक है अर्थात् जो वस्तु के साथ नहीं अपितु व्यक्ति के साथ इसके सन्दर्भ निर्देश (Reference) का संघटन करती है, इसका सौन्दर्यपरक गुण (Aesthetic quality) है। दूसरी ओर वह वस्तु जो इस प्रकार के प्रतिरूपण में वस्तु के निर्धारण के लिए व्यवहृत अथवा उपलब्ध होती है (ज्ञानार्थ), उसकी तर्कगत मान्यता (Logical validity) है। किसी इन्द्रिय-विषय के संज्ञान में दोनों पक्ष संयुक्त रूप से प्रस्तुत किये जाते हैं। बाह्य वस्तुओं के इन्द्रिय-उपस्थापन में, देश (Space), जिसमें हम उन्हें स्वानुभूत (Intuite) करते हैं, का गुण ही एकमात्र हमारे उनका प्रतिरूपण करने का व्यक्तिपरक पक्ष (Subjective side) है। (जिससे वस्तुएँ विषय रूप में स्वयं अपने में क्या हैं यह (प्रश्न) सर्वथा विवृत रह जाता है) और यह उस सन्दर्भ के ही कारण है कि वस्तु देश के अन्तर्गत स्वानुभूत होने में मात्र प्रपञ्च रूप में भी सोची या ग्रहण की जाती है। किन्तु अपने विशुद्धतः व्यक्तिनिष्ठ गुण के बावजूद देश (Space) प्रपञ्च रूप वस्तुओं के ज्ञान का एक सघटक तत्त्व (Constituent) है। सम्वेदन (यहाँ बाह्य) भी बाह्य वस्तुओं के (Representations के केवल पक्ष (Subjective side)

को अभिव्यक्त करने में सहमत होता है किन्तु एक ऐसे पक्ष को जो समुचित रूप से उनका उपादान (Matter) है (जिसके माध्यम से हमें कोई सत्सत्ता वाली वस्तु प्रदान की जाती है), जैसे कि देश, उनकी स्वानुभूति की सम्भावना का एक निरा प्रागनुभव रूप है; और अतएव सम्वेदन (Sensation) भी बाह्य-विषयों के संज्ञान में कुछ कम प्रयुक्त नहीं किया जाता।

किन्तु उपस्थापन या प्रतिचित्रण (Representation) का वह व्यक्तिनिष्ठ पक्ष, जो संज्ञान का कोई तत्त्व बनने में असमर्थ है, इससे सम्बद्ध आनन्द अथवा विषाद है; क्योंकि इसके द्वारा मैं प्रतिचित्रण की वस्तु में कुछ भी संज्ञात नहीं करता, यद्यपि यह सरलतापूर्वक किसी न किसी संज्ञान की संक्रिया का परिणाम हो सकता है। अब किसी वस्तु की चरमता (Finality), जिस सीमा तक वह हमारे द्वारा किए गये तद्गत प्रत्यक्ष बोध में प्रतिचित्रित की जाती है, किसी भी प्रकार स्वयं विषय (Object) का ही गुण नहीं है (क्योंकि इस प्रकार का गुण ऐसा नहीं होता जिसे प्रत्यक्षीकृत किया जा सकता हो) यद्यपि यह वस्तुओं के किसी संज्ञान से अनुमित किया जा सकता है। अतएव चरमता (Finality) में, जो किसी वस्तु के संज्ञान की प्राग्वर्ती (Prior) होती है और किसी संज्ञान के लिए उसके (वस्तु के) प्रतिचित्रण (Representation) का उपयोग करने की किसी भी कामना से पृथक् रहकर भी जो उसके साथ अव्यवहित रूप से सम्बद्ध होती है, हमें वह व्यक्तिपरक गुण (Quality) प्राप्त होता है जो इससे (वस्तु से) सम्बन्ध रखता है और जो ज्ञान का कोई संघटक तत्त्व (Constituent) बनने में अक्षम होता है। अतएव हम वस्तु (Object) के प्रति, उसके प्रतिचित्रण (Representation) के अव्यवहित रूप से आनन्दानुभूति से युक्त होने के कारण, मात्र 'चरम' या 'सोद्देश्य' (Final) पद का प्रयोग करते हैं; और यह प्रतिचित्रण स्वयमेव चरमता या सोद्देश्यता (Finality) का एक सौन्दर्यपरक प्रतिचित्रण है। प्रश्न केवल यह है कि क्या चरमता के इस प्रकार के प्रतिचित्रण का वस्तुतः अस्तित्व है।

यदि आनन्द, उस किसी भी सम्बन्ध से पृथक्, जिसे वह किसी निश्चित संज्ञान के हेतु किसी संकल्पना के साथ रख सकता है, स्वानुभूति के किसी विषय (Object of intuition) के रूप (Form) के निरे बोध (Apprehension) से सम्बद्ध हो तो वह प्रतिचित्रण को वस्तु (Object) से अनुमेय न बना कर एकमात्र व्यक्ति से अनुमेय (Referable) बनाता है। ऐसी स्थिति में आनन्द, चिन्तनात्मक निर्णय में क्रियान्वित संज्ञान शक्तियों के साथ, और जिस सीमा तक कि वे क्रियारत हैं, विषय (Object) की अनुसारिता और अतएव विषय की एक निरी व्यक्तिपरक रूपात्मक चरमता (Finality) के अतिरिक्त और कुछ भी व्यक्त नहीं कर सकता क्योंकि उनको रूपों की) कम से कम

संकल्पनाओं से स्वानुभूतियों को अनुमित करने वाली इसकी मनःशक्ति के साथ तुलना करते हुए कल्पना में रूपों का वह बोध (Apprehension) बिना चिन्तनात्मक निर्णय के कदापि घटित नहीं हो सकता, यहाँ तक कि उस समय भी जिस समय इसका ऐसा करने का कोई उद्देश्य नहीं होता। अब, यदि इस तुलना में कल्पना (प्रागनुभव स्वानुभूतियों की मनःशक्ति रूप कल्पना) का अनभिकल्पित रूप से (Unbesignedly) बुद्धि (संकल्पना की मनःशक्ति) के साथ एक निर्दिष्ट प्रतिचित्रण (Given representation) के द्वारा सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है और उसके द्वारा एक आनन्दानुभूति उद्बुद्ध हो उठती है तो विषय या वस्तु को चिन्तनात्मक निर्णय के लिये अवश्य चरम या सोद्देश्य (Final) माना जाना चाहिए। वस्तु की चरमता (Finality) पर विहित इस प्रकार का निर्णय एक सौन्दर्यपरक निर्णय होता है जो विषय या वस्तु की किसी वर्तमान संकल्पना पर निर्भर नहीं करता और कोई (संकल्पना) प्रदान भी नहीं करता। जब किसी वस्तु का रूप, (उसके उपस्थापन की वस्तु के विरोधी रूप में, सम्वेदन रूप में) इस प्रकार की वस्तु (Object) के प्रतिचित्रण में किसी आनन्द (Pleasure) की आधारभूमि आकलित किए जाने वाले इससे उपलभ्य बिना किसी संकल्पना की अपेक्षा किए, इसके ऊपर मात्र प्रतिबिम्बित होने के व्यापार में होता है तो इसलिए यह आनन्द भी इस रूप को बोधगत करने वाले मात्र व्यक्ति के लिए नहीं अपितु सामान्यतः उन सबों के लिए जो निर्णय देते हैं, इसके उपस्थापन के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध निर्णीत किया जाता है। उस समय वस्तु सुन्दर कहलाती है; और इस प्रकार के आनन्द के द्वारा (और अतएव सार्वभौम मान्यता के साथ भी) निर्णय करने वाली शक्ति रुचि (Taste) कही जाती है। चूँकि आनन्द की आधारभूमि को, सामान्यतः मात्र चिन्तन के विषय के रूप (Form) में निवास करने को प्रेरित किया जाता है, परिणामतः विषय या वस्तु के किसी सम्वेदन में निवास करने को नहीं, और किसी ऐसी संकल्पना के साथ बिना किसी सम्बन्ध के रहने को प्रेरित किया जाता है जिसकी दृष्टि में कोई न कोई चीज़ (उद्देश्य) हो, अतः यह सामान्यतः व्यक्ति में और मात्र उसी के साथ, निर्णय के अनुभवमूलक नियोजन में नियमानुसारिता के साथ है (कल्पना और बुद्धि की एकता) कि चिन्तनगत विषय या वस्तु का प्रतिचित्रण, जिसकी शर्तें प्रागानुभविक रूप से सार्वभौमतः मान्य हैं, मेल खाता है। और चूँकि व्यक्ति की मनः शक्तियों के साथ वस्तु का यह सामञ्जस्य आनुषंगिक (Contingent) है अतः यह व्यक्ति (Subject) की संज्ञान शक्तियों (Cognitive faculties) के सम्बन्ध में वस्तु (Object) की ओर से चरमता (Finality) के प्रतिचित्रण को जन्म देता है।

अब यहाँ एक ऐसा आनन्द है जिसे—जैसी कि स्थिति उस सारे आनन्द

अथवा विषाद की होती है जो स्वातन्त्र्य-संकल्पना के अभिकर्तृत्व के माध्यम से (अर्थात् विशुद्ध तर्कबुद्धि के द्वारा इच्छा की उच्चतर मनःशक्ति के पूर्वगत निर्धारण के माध्यम से) घटित नहीं होता--किसी वस्तु के प्रतिचित्रण के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध मानने के लिए कोई भी संकल्पनाएँ हमें समर्थ नहीं बना सकतीं। यह सदैव मात्र चिन्तनात्मक प्रत्यक्षबोध द्वारा होना चाहिए कि यह इस प्रतिचित्रण के साथ संयुक्त प्रज्ञात हो। जैसा कि समस्त अनुभवमूलक निर्णयों के साथ होता है यह परिणामतः व्यक्तिपरक अनिवार्यता की घोषणा करने अथवा प्रागनुभव मान्यता का दावा करने में अक्षम है। किन्तु फिर भी रुचि-निर्णय वस्तुतः प्रत्येक अन्य अनुभवमूलक निर्णय की भाँति, केवल प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य होने का दावा करता है और अपनी आन्तरिक आनुषंगिकता के बावजूद यह सदैव सम्भव है। इसके सम्बन्ध में वह एकमात्र तथ्य जो विचित्र या असम्बद्ध है, यह है कि यह कोई अनुभवमूलक संकल्पना न होकर मात्र एक ऐसी आनन्दानुभूति (और अत-एव नितान्त कोई संकल्पना नहीं) है जिसकी अब भी रुचि-निर्णय द्वारा प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है जैसे मानो यह वस्तु के संज्ञान के साथ एकीभूत कोई विधेय हो और जो इसके प्रतिचित्रण के साथ संयोजित होने के लिए अभिप्रेत है।

एक एकात्मक अनुभवमूलक निर्णय, उदाहरणार्थ जैसे उस व्यक्ति का निर्णय जो एक चञ्चल जल-बिन्दु को किसी विमल स्फटिकाश्म में देखता है, ठीक ही प्रत्येक तथ्यान्वेषी व्यक्ति को वैसा ही दीखता है जैसा कि बताया गया है, क्योंकि निर्णय का निर्माण सामान्यतः सम्भव अनुभव के नियमों के अन्तर्गत निर्धारक निर्णय की सार्वभौम उपाधियों (Universal conditions) के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार वह व्यक्ति जो अपने मन में बिना किसी संकल्पना को रखे हुए, किसी वस्तु के रूप पर विहित, सहज चिन्तन (Reflection) में आनन्द का अनुभव करता है, न्यायतः ठीक ही प्रत्येक व्यक्ति की सहमति का दावा करता है, यद्यपि यह निर्णय अनुभवमूलक और एक एकात्मक (Singular) निर्णय है। क्योंकि इस आनन्द की आधारभूमि चिन्तनात्मक निर्णयों की सार्वभौम यद्यपि व्यक्तिपरक अवस्था में अर्थात् उन संज्ञान शक्तियों (कल्पना और बुद्धि) के अन्योन्य सम्बन्ध के साथ किसी वस्तु (चाहे वह प्रकृति की कृति हो या कला की) के चरम सामञ्जस्य में पायी जाती है जो प्रत्येक अनुभवमूलक संज्ञान के लिए अपेक्षित है। अतएव रुचि-निर्णयों में निहित आनन्द निःसन्देह किसी अनुभवमूलक प्रतिचित्रण पर आश्रित होता है और प्रागानुभविक रूप से किसी संकल्पना के साथ एकान्वित नहीं किया जा सकता है (व्यक्ति प्रागानुभविक रूप से यह निर्धारित नहीं कर सकता कि कौन सी वस्तु रुचि के अनुकूल अथवा कौन सी नहीं होगी—व्यक्ति को

उस वस्तु को अवश्य खोज निकालना चाहिए जो ऐसी है); किन्तु सामान्यतः वस्तुओं (Objects) के ज्ञान के साथ उस चिन्तन की संगति के चिन्तन (Reflection) और सार्वभौम यद्यपि मात्र व्यक्तिपरक उपाधियों (Subjective conditions) पर इसके आश्रित होने मात्र के कारण, इसे इस निर्णय की निर्धारिणी आधारभूमि बनाया जाता है, जिसके लिए वस्तु का रूप (Critique) चरम या सोद्देश्य है।

यही कारण है कि रुचि-निर्णय अपनी सम्भावना के सम्बन्ध में एक 'मीमांसा' (Critique) के विषय बनाये जाते हैं। क्योंकि उनकी सम्भावना एक प्रागनुभव नियम (A priori principle) की पूर्वकल्पना करती है, यद्यपि वह नियम संकल्पशक्ति का न तो कोई सज्ञान-नियम (Cognitive principle) है और न कोई व्यावहारिक नियम, और इस प्रकार कथमपि प्रागानुभविक रूप से निर्धारक नहीं है। तथापि वस्तुओं (चाहे वे प्रकृति की हों या कला की) के रूप पर विहित चिन्तन से उद्भूत होने वाले आनन्द की ग्रहण-क्षमता वस्तुओं (Object) की ओर से प्रकृति की संकल्पना के अनुसार व्यक्ति में चिन्तनात्मक निर्णय के साथ, उनके सम्बन्ध में, न केवल किसी चरमता या सोद्देश्यता (Finality) को सूचित करती है अपितु विपरीततः वस्तुओं के रूप अथवा रूपहीनता के सम्बन्ध में, स्वातन्त्र्य-संकल्पना के सम्वादी किसी व्यक्ति (Subject) की ओर से एक चरमता (Finality) को भी द्योतित करती है। परिणाम यह है कि रुचि-निर्णय रूप सौन्दर्य-निर्णय न केवल सुन्दर का ही सन्दर्भ-निर्देश करता है बल्कि एक उच्चतर बौद्धिक अनुभूति से उद्भूत होने वाली एक वस्तु के रूप में उदात्त से भी अपना सन्दर्भ-निर्देश करता है। अतः उपर्युल्लिखित 'सौन्दर्य-निर्णय की मीमांसा' इन्हीं पद्धतियों पर दो प्रमुख भागों में विभक्त की जानी चाहिए।

प्रकृति की चरमता (Finality) का अन्वीक्षात्मक प्रतिचित्रण

अनुभव में निर्दिष्ट किसी वस्तुगत चरमता को दो प्रकार से प्रतिचित्रित किया जा सकता है। इसे उस वस्तु पर आश्रित किया जा सकता है जो विशुद्धतः व्यक्तिपरक है। इस स्थिति में वस्तु पर किसी भी संकल्पना से प्राग्वर्ती 'बोध' (Apprehensio) में विद्यमान रूप (Form) के सम्बन्ध में विचार किया जाता है; और सामान्यतः संज्ञानार्थ संकल्पनाओं के साथ अन्तः प्रज्ञा के संयोजन को प्रोन्नत करने वाली संज्ञान शक्तियों के इस रूप की संगति वस्तु के रूप की चरमता के रूप में उपस्थापित की जाती है। अथवा दूसरी ओर चरमता (Finality) के प्रतिचित्रण को उस वस्तु पर निर्भर करने को प्रेरित किया जा सकता है जो वस्तुपरक है जिस स्थिति में इसे, इस रूप की आधारभूमि को अन्तर्धारण करने वाली एक प्राक्कल्पना के अनुसार स्वयं वस्तु की सम्भावना के साथ वस्तु (Object) के रूप की सगति के रूप में उपस्थापित किया जाता है हमने देखा है कि प्रथम प्रकार की
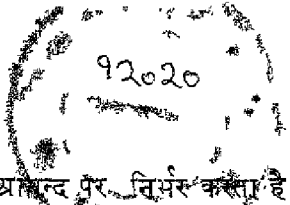
चरमता का उपस्थापन (Representation) उस आनन्द पर निर्भर करता है जो वस्तु के रूप पर किए जाने वाले चिन्तन मात्र में अव्यवहित रूप से अनुभव किया जाता है। किन्तु चूँकि द्वितीय प्रकार की चरमता का आनन्द वस्तु के रूप के सन्दर्भ को बोध (Apprehension) में लगी हुई व्यक्ति (Subject) की संज्ञान शक्तियों से निर्दिष्ट न करके किसी निर्दिष्ट (Given) संकल्पना के अन्तर्गत वस्तु के सुनिश्चित संज्ञान से निर्दिष्ट करता है, अतः उसका वस्तुओं से उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति से कोई प्रयोजन न होकर मात्र बुद्धि और उनके आकलन से प्रयोजन है। जहाँ किसी वस्तु (Object) की क्रिया निर्दिष्ट (Given) होती है वहाँ निर्णय-व्यापार, संज्ञानार्थ उस संकल्पना के अपने नियोजन में, उपस्थापन (Exhibition) अर्थात् संकल्पना के पार्श्व मे उसकी सम्वादिनी किसी स्वानुभूति को प्रस्तुत करने में निहित होता है। यहाँ यह हो सकता है कि हमारी निजी कल्पना नियुक्त अभिकर्त्री है, जैसा कि कला की स्थिति में होता है, जहाँ हम किसी ऐसी वस्तु (Object) की एक पूर्वकल्पित संकल्पना पाते हैं जिसे हम लक्ष्य रूप में अपने समक्ष रखते हैं अथवा जिस समय हम उसमें (प्रकृति में) उसकी कृति के अपने आकलन के सहायतार्थ किसी लक्ष्य की अपनी व्यक्तिगत संकल्पना को देखते हैं, उस समय अभिकर्ता (Agent) अपनी शिल्पविधि में प्रकृति हो सकता है (जैसा कि अवयवी पिण्डों की स्थिति में होता है) इस स्थिति में जो वस्तु उपस्थापित की जाती है, वह वस्तु रूप में प्रकृति की चरमता (Finality) मात्र न होकर एक प्राकृतिक लक्ष्य के रूप में यही कृति है। यद्यपि हमारी यह संकल्पना कि प्रकृति अपने अनुभवमूलक नियमों में, अपने रूपों (Forms) में वस्तुनिष्ठ रूप से चरम या सोद्देश्य (Final) है, किसी भी प्रकार वस्तु की संकल्पना न होकर प्रकृति के विराट् बाहुल्य में स्वयं अपने को संकल्पनाओं से सम्भृत करने के लिए निर्णय का केवल एक नियम है, जिससे कि यह किसी लक्ष्य (End) के साम्य पर अपना अवलम्ब ग्रहण करने में समर्थ हो सके तथापि जैसे यह हमारी संज्ञान शक्तियों की एक अपेक्षा हो। इसे प्रकृति पर आरोपित किया जाता है। अतः 'प्राकृतिक सौन्दर्य' रूपात्मक अथवा मात्र व्यक्तिनिष्ठ संकल्पना के 'उपस्थापन' (Presentation) के रूप में समझा जा सकता है और 'प्राकृतिक उद्देश्य' (Natural ends) किसी यथार्थ अथवा वस्तुनिष्ठ चरमता की संकल्पना के उपस्थापन के रूप में। इनमें से पूर्ववर्ती का हम रुचि द्वारा (सौन्दर्यपरक दृष्टि से आनन्दानुभूति द्वारा) आकलन करते हैं तथा परवर्ती का बुद्धि और तर्कबुद्धि द्वारा (तर्कतः संकल्पनाओं के अनुसार)।

इन्हीं विचारणाओं पर, सौन्दर्यपरक-निर्णय की मीमांसा का सौन्दर्यपरक निर्णय और उद्देयवादी निर्णय में विभाजन आधारित है। पहले का अर्थ है आनन्द अथवा विषाद की अनुभूति द्वारा आकारिक चरमता (अन्यथा जो व्यक्तिपरक कही

जाती है) का आकलन करने वाली मनःशक्ति, दूसरे से अभिप्राय है बुद्धि और तर्कबुद्धि द्वारा प्रकृति की यथार्थ चरमता (वस्तुपरक) का आकलन करने वाली मनःशक्ति।

किसी 'निर्णय की मीमांसा' में सौन्दर्यपरक निर्णय का विवेचन करने वाला भाग तत्त्वतः प्रसंगोचित होता है क्योंकि एकमात्र यही प्रकृति पर विहित इसके चिन्तन के आधार रूप निर्णय द्वारा प्रस्तुत सर्वथा प्रागनुभव एक नियम को अन्तर्धारित करता है। संज्ञान शक्तियों के लिए प्रकृति की रूपात्मक चरमता का उसके विशेष (अनुभवमूलक) नियमों में यही नियम है—एक ऐसा नियम जिसके बिना बुद्धि स्वयं को प्रकृति में अभिज्ञ अनुभव न कर पाती जब कि कोई भी तर्कबुद्धि प्रागानुभविक रूप से निर्धारणीय नहीं है, न तो उतना ही है जितना कि वह तर्कबुद्धि होती है जो अनुभव के एक विषय रूप प्रकृति की संकल्पना से स्पष्ट होती है, चाहे अपने सार्वभौम पक्षों में अथवा अपने विशेष पक्षों में, तो फिर प्रकृति के वस्तुपरक उद्देश्य (Objective ends) क्यों हों अर्थात् ऐसी वस्तुएँ जो मात्र प्राकृतिक उद्देश्यों के ही रूप में सम्भव हैं। किन्तु यह केवल निर्णय ही है जो उसकी ओर से प्रागानुभविक रूप से स्वयं बिना किसी नियम से युक्त हुए, वस्तुतः घटित होने वाली स्थितियों में (किन्हीं कृतियों की) तर्कबुद्धि के हित में उद्देश्यों की संकल्पना का उपयोग करने के नियम (Rule) को अन्तर्धारण करता है, उसके पश्चात् उपर्युक्त अनुभवातीत नियम (Transcendental-Principle) ने पहले ही बुद्धि को, किसी उद्देश्य-संकल्पना को (कम से कम अपने रूप के सम्बन्ध में) प्रकृति के प्रति प्रयुक्त करने के लिए तैयार कर लिया।

किन्तु जिस अनुभवातीत नियम (Transcendental Principle) के द्वारा प्रकृति की कोई चरमता, संज्ञान शक्तियों से साथ अपने व्यक्तिपरक सन्दर्भ में अपने आकलन के एक नियम रूप किसी वस्तु के रूप में उपस्थापित की जाती है वह इस प्रश्न को सर्वथा अनिर्धारित छोड़ देता है कि कहाँ और किन स्थितियों में एक कृति रूप वस्तु (Object) के अपने आकलन को हमें बजाय केवल प्रकृति के सार्वभौम नियमों के अनुसार निश्चित करने के चरमता के किसी नियम के अनुसार निश्चित करना है। यह रुचि के प्रश्न रूप (एक ऐसा तथ्य जिसे सौन्दर्य-निर्णय संकल्पनाओं के साथ किसी संगति के द्वारा नहीं बल्कि अनुभूति के द्वारा निश्चित करता है) हमारी संज्ञान शक्तियों के साथ इस कृति (अपने रूप में) की अनुसारिता को निश्चित करने का कार्य सौन्दर्य-निर्णय (Aesthetic judgment) के लिए छोड़ देता है। दूसरी ओर उद्देश्यवादी रूप से अधियोजित या व्यवहृत निर्णय उन निर्दिष्ट उपाधियों (Determinate conditions) का नियोजन करता है जिनके कोई वस्तु (यें, एक सघटित शरीर) प्रकृति के

किसी उद्देश्य के प्रत्यय (Idea) के पीछे आकलित की जाने को है। किन्तु यह इसे (इस नियम को) प्रकृति पर प्रागानुभविक रूप से उद्देश्यों का कोई सन्दर्भ आरोपित करने अथवा यहाँ तक कि केवल अनिर्दिष्ट रूप से इस प्रकार की कृतियों की स्थिति में वास्तविक अनुभव से उन्हें ग्रहण करने का अधिकार देने के किसी भी नियम को, अनुभव के एक विषय रूप प्रकृति-संकल्पना से प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि मात्र आनुभविक रूप से किसी विशेष वस्तु में वस्तुपरक चरमता को प्रज्ञात करने में सक्षम होने के लिए इस नियम की एकता के अन्तर्गत अनेक विशेष अनुभवों को अवश्यमेव संगृहीत और पुनर्नवीकृत किया जाना चाहिए। अतएव सौन्दर्य-निर्णय, संकल्पनाओं के अनुसार नहीं बल्कि नियमानुसार आकलन करने की एक विशिष्ट मनःशक्ति है। उद्देश्यपरक निर्णय कोई विशिष्ट मनःशक्ति नहीं है, बल्कि मात्र सामान्य चिन्तनात्मक निर्णय है जो कि, जैसा कि यह सैद्धान्तिक संज्ञान में सदैव करता है, संकल्पनाओं के अनुसार आगे बढ़ता है, किन्तु विशेष नियमों अर्थात् उस निर्णय के नियमों का जो मात्र चिन्तनात्मक है और वस्तुओं (Objects) को निर्धारित नहीं करता— अनुसरण करते हुए प्रकृति की केवल किन्हीं विशेष वस्तुओं के सम्बन्ध में। अतः जहाँ तक इसके प्रयोग (Application) का सम्बन्ध है, यह दर्शनशास्त्र के सैद्धान्तिक अंग से सम्बन्ध रखता है और अपने उन विशिष्ट नियमों के कारण, जो उस मतवाद (Doctrine) से सम्बन्ध रखने वाले नियमों के रूप में निर्धारक नहीं हैं, जो मतवाद होने को हैं, यह 'मीमांसा' का भी एक विशिष्ट अंग है। दूसरी ओर सौन्दर्य-निर्णय अपने विषयों के संज्ञान के लिए कुछ भी संघटित नहीं करता। अतः इसे उस सीमा तक केवल निर्णायक व्यक्ति (Judging subject) और उसकी ज्ञान-मनःशक्तियों की मीमांसा के लिए ही नियत किया जाना चाहिए जिस सीमा तक कि ये (मनःशक्तियाँ) प्रागनुभव नियमों (apriori principles) को धारण करने में समक्ष हैं। भले ही उनका उपयोग (सैद्धान्ति अथवा व्यावहारिक) अन्यथा वह हो जो वह हो सकता है—एक ऐसी 'मीमांसा' जो अखिल दर्शन के लिए प्रारम्भिक ज्ञानपरक मीमांसा है।

निर्णय द्वारा बुद्धि और तर्कबुद्धि के विधानों का संयोजन

बुद्धि अनुभव के एक विषय रूप प्रकृति के लिए प्रागनुभव नियमों को निर्दिष्ट करती है जिससे कि हम एक सम्भव अनुभव में उसका एक सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। तर्कबुद्धि व्यक्तिमें अतीन्द्रिय तत्वभूत मुक्तिऔर उसकी प्रविशे कारणता के लिए नियमों का विधान करती है, जिससे कि हम विशुद्धतः व्याव हारिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। प्रकृति-संकल्पना का क्षेत्र एक विधान के अन्तर्गत औ मुक्ति का क्षेत्र दूसरे विधान के उस सम्पूर्ण अन्योन्य-प्रभा

से सर्वथा पृथक् हैं, जिसे वे उस विस्तीर्ण गर्त.द्वारा जो अतीन्द्रिय तत्त्व को प्रपञ्चों से पृथक् करता है, एक दूसरे.के ऊपर पृथक्-पृथक् रूप से (प्रत्येक अपने व्यक्तिगत नियमों के अनुसार) डाल सकें। स्वातन्त्र्य-संकल्पना प्रकृति के सैद्धान्ति संज्ञान के सम्बन्ध में कुछ भी निर्धारित नहीं करती और उसी प्रकार प्रकृति-संकल्पना स्वातन्त्र्य के व्यावहारिक नियमों के सम्बन्ध में कुछ भी निर्धारित नहीं करती, तो फिर उसी सीमा तक एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक सेतु बाँधना सम्भव नहीं है। तथापि यद्यपि स्वातन्त्र्य संकल्पना (और व्यावहारिक नियम जिसे यह अन्तर्धारण करती है) के अनुसार कारणता (Causality) की निर्धारिणी आधारभूमियाँ प्रकृति में कोई स्थान नहीं रखतीं और व्यक्ति में निहित इन्द्रिय-संवेद्य (Sensible) अतीन्द्रिय का निर्धारण नहीं कर सकता तथापि विपरीत सम्भव है (यह प्रकृति के ज्ञान के सम्बन्ध में सत्य नहीं है अपितु उन परिणामों के सम्बन्ध में सत्य है जो अतीन्द्रिय से उत्पन्न होते हैं और इन्द्रिय-संवेद्य से सम्बन्ध रखते हैं।) कारणता की संकल्पना में स्वातन्त्र्य से वस्तुतः इतना अधिक अभिप्रेत है कि स्वातन्त्र्य के रूपात्मक नियमों के अनुसार जिसका प्रयोग संसार में लागू होता है। तो भी 'कारण' शब्द अतीन्द्रिय के प्रति अपने प्रयोग में मात्र उस आधारभूमि का अर्थ देता है जो वस्तुओं के समुचित प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्रकृति की वस्तुओं की कारणता को किसी निष्पत्ति (Effect) के लिए निर्धारित करती है, किन्तु साथ ही तर्कबुद्धि के रूपात्मक नियमों (Formal laws) के मेल में भी—एक ऐसी आधारभूमि जो अपनी सम्भावना के अभेद्य (Impenetrable) होने पर भी, उस विरोधाभियोग (Charge of contradiction) से पूर्णतया मार्जित हो सकती है जिसमें अन्तर्ग्रस्त[1] होने के लिए यह अभिकथित है। स्वातन्त्र्य-संकल्पना

1. One of the various supposed contradictions in this complete distinction of the causality of nature from that through freedom, is expressed in the objection that when I speak of 'hindrances' opposed by nature to causality according to laws of freedom (moral laws) or of assistance lent to it by nature, I am all the time admitting an influence of the former upon the latter. But the misinterpretation is easily avoided if attention is only paid to the meaning of the statement, that resistance or furtherance is not between nature and freedom, but between the former as phenomenon and the effects of the latter as Phenomena in the world of sense. Even the causality of the freedom (of pure and practical reason) is the causality of a natural cause subordinated to freedom (a causality of the subject regarded as man and consequently as phenomenon) and on the ground of whose determination is contained in the intelligible that is thought under freedom in a manner that is not further or otherwise explicable (just as in the case of that

के अनुसार कार्य (Effect) वह चरम उद्देश्य (Final end) है जो (इन्द्रिय-संवेद्य जगत् में जिसकी अभिव्यक्ति) अपना अस्तित्व रखता है और यह प्रकृति में उस लक्ष्य की सम्भावना की उपाधि (Condition) की पूर्वकल्पना करता है (अर्थात् इन्द्रिय-संवेद्य जगत् के एक जीव रूप अर्थात् मानव रूप व्यक्ति की प्रकृति में ।) यह इस रूप में निर्णय द्वारा प्रागानुभविक रीति से और बिना व्यावहारिक उद्देश्य के पूर्वकल्पित है। यह मनःशक्ति प्रकृति की चरमता की अपनी संकल्पना के साथ हमें, प्रकृति-संकल्पनाओं और स्वातन्त्र्य-संकल्पना के के बीच की मध्यवर्ती संकल्पना प्रदान करती है—एक ऐसी संकल्पना जो विशुद्ध सैद्धान्तिक (बुद्धि के विधान) से विशुद्ध व्यावहारिक (तर्कबुद्धि के विधान) और पूर्ववर्ती के अनुसार नियमानुसारिता से परवर्ती के अनुसार चरम लक्ष्य के प्रति संक्रमण को सम्भव बनाती है। क्योंकि उस संकल्पना के माध्यम से हम चरम लक्ष्य की उस सम्भावना को प्रज्ञात करते हैं जो मात्र प्रकृति और उसके नियमों के सामञ्जस्य में ही वास्तवीकृत की जा सकती है।

बुद्धि, प्रकृति के लिए प्रागनुभव नियमों को प्रदान करने की अपनी सम्भावना द्वारा इस तथ्य के लिये एक प्रमाण प्रस्तुत करती है कि प्रकृति हमारे द्वारा मात्र प्रपंच रूप में ही प्रज्ञात की जाती है और ऐसा करने में अपने एक अतीन्द्रिय अधोस्तर (Supersensible substrata) से सम्पन्न होने की ओर संकेत करती है; किन्तु इस अधोस्तर को यह नितान्त 'अनिर्धारित' छोड़ देती है। निर्णय अपने सम्भव विशेष-नियमों के अनुसार प्रकृति के अपने आकलन 'प्रागनुभव' नियम द्वारा इस अतीन्द्रिय अधोस्तर को (हमारे अन्दर बाहर दोनों ही) बौद्धिक मनःशक्ति द्वारा निर्धार्यता प्रदान करता है। किन्तु तर्कबुद्धि इसी को प्रागानुभविक रूप से अपने व्यावहारिक नियम द्वारा 'निर्धारण' प्रदान करती है। इस प्रकार निर्णय प्रकृति संकल्पना के क्षेत्र से स्वातन्त्र्य-संकल्पना के क्षेत्र के प्रति संक्रमण को सम्भव बनाता है।

सामान्यतः उच्चतर मानी जाने वाली अर्थात् अधिराज्य को अन्तर्धारण करने वाली मनःशक्तियाँ समझी जाने वाली अन्तरात्मा की मनःशक्तियों के सम्बन्ध में बुद्धि वह मनःशक्ति है जो संज्ञानशक्ति (प्रकृति सैद्धान्तिक ज्ञान) के लिए 'संघटक प्रागनुभव नियमों' (Constitutive apriori principles) को अन्तर्धारण करती है। आनन्द और विषाद की अनुभूति निर्णय द्वारा उन संकल्पनाओं और संवेदनाओं से अपनी स्वतन्त्रता या निरपेक्षता में प्रदान की जाती है जो इच्छा मनःशक्ति के निर्धारण के साथ अपना सन्दर्भ निर्देश करती हैं और जो इस प्रकार अव्यवहित रूप से (Immediately) व्यावहारिक होने में सक्षम होंगी इच्छा मन शक्ति के लिए तर्कबुद्धि है जो किसी भी स्रोत से उद्भूत होने वाले किसी भी

आनन्द के अन्तरायण के बिना व्यावहारिक है और जो एक उच्चतर मनःशक्ति के रूप में इसके लिए उस चरम लक्ष्य को निर्धारित करती है जो तत्क्षण वस्तु में निहित विशुद्ध बौद्धिक आनन्द द्वारा अनुगत होता है। इसके अतिरिक्त निर्णय की प्रकृति की चरमता की संकल्पना, प्राकृतिक संकल्पनाओं के अन्तर्गत आती है, किन्तु केवल संज्ञान शक्तियों के एक विनियामक नियम (Regulative principle) के रूप में ही—यद्यपि किन्हीं विशेष वस्तुओं (प्रकृति की अथवा कला की) पर निहित सौन्दर्य-निर्णय, जो उस संकल्पना को घटित करता है, आनन्द अथवा विषाद की अनुभूति के सम्बन्ध में एक विधायक या संघटक नियम है। उन संज्ञान शक्तियों की क्रिया में पाई जाने वाली स्वतःप्रेरकता (Spontaneity) जिनका संगतिमय सामञ्जस्य इस आनन्द की आधारभूमि को अन्तर्धारण करता है, विवादास्पद संकल्पना को उसके परिणामों में एक ऐसी उपयुक्त मध्यस्थ कड़ी बनाती है जो स्वातन्त्र्य-संकल्पना के क्षेत्र के साथ प्रकृति-संकल्पना के क्षेत्र को सम्बद्ध करती है क्योंकि यह सामञ्जस्य साथ ही नैतिक भावना के लिये मन की संवेदन-शक्ति को अभिवर्द्धित करता है। निम्नलिखित तालिका उपर्युक्त समस्त मनःशक्तियों के निरूपण को उनकी क्रमबद्ध एकता[१] में सुविधाजनक बना सकती है।

मानसिक शक्तियाँ	संज्ञान शक्तियाँ
ज्ञान शक्तियाँ	बुद्धि
आनन्द और विषाद की अनुभूति	निर्णय
इच्छा मनःशक्ति	तर्कबुद्धि
प्रागनुभव नियम	**विनियोग**
नियमानुसारिता	प्रकृति
चरमता या सोद्देश्यता	कला
चरम लक्ष्य	स्वातन्त्र्य

[१] It has been thought somewhat suspicious that my divisions in pure philosophy should almost always come out threefold. But it is due to the nature of the case. If a division is to be a priori it must be either analytic, according to the law of contradiction—and then it is always twofold (quodlibet ens est aut A aut non A) or else it is synthetic. If it is to be derived in the latter case from a priori concepts (not as in mathematics, from a priori intuition corresponding to the concept) then to meet the requirements of synthetic unity in general, namely (1) a condition (2) a conditioned (3) the concept arising from the union of the conditioned with its condition the d vis on must of n ty be tr chotomous

प्रथम परिच्छेद

सौन्दर्य-निर्णय की वैश्लेषिकी

सुन्दरम् की वैश्लेषिकी

रुचि-निर्णय[1] का प्रथम परिच्छेद : गुण-परिच्छेद

रुचि-निर्णय सौन्दर्यानुभूतिपरक है

यदि हम यह विवेचन करना चाहें कि कोई वस्तु-विशेष सुन्दर है अथवा नहीं तो हम संज्ञानार्थ बुद्धि द्वारा उसके प्रतिरूपण (Representation) का सम्बन्ध वस्तु (Object) के साथ न जोड़कर कल्पना (कदाचित् बुद्धि की युति में कार्य करती हुई कल्पना) द्वारा उस प्रतिरूपण का सम्बन्ध व्यक्ति (Subject) और उसकी आनन्द और विषाद की अनुभूति के साथ जोड़ते हैं। अतः रुचि-निर्णय संज्ञानात्मक निर्णय नहीं है और इसीलिए वह तर्कमूलक न होकर सौन्दर्यमूलक (Aesthetic) है—अर्थात् वह एक ऐसी वस्तु है जिसकी निर्धारिणी आधारभूमि व्यक्ति से भिन्न नहीं हो सकती। प्रतिरूपों (Representations) का प्रत्येक निर्देश (Reference) वस्तुनिष्ठ होने मे समर्थ है यहाँ तक कि संवेदनों का भी (जिस स्थिति में कि वह एक अनुभवमूलक प्रतिरूप के अन्तर्गत सत् को एक नूतन अर्थवत्ता प्रदान करता है)। इसका मात्र एक अपवाद आनन्द और विषाद की अनुभूति है। यह वस्तु में कुछ भी निर्दिष्ट नहीं करती अपितु यह एक ऐसी अनुभूति है जो व्यक्ति को स्वयं अपने और उस रीति के सम्बन्ध में होती है जिस रीति से वह प्रतिरूपण द्वारा प्रभावित होता है।

अपनी संज्ञानात्मक शक्तियों (Cognitive Faculties) द्वारा किसी नियमित और संगत इमारत को समझना, प्रतिरूपण की पद्धति चाहे स्पष्ट हो अथवा अन्त-

---

१. रुचि की जिस परिभाषा पर यहाँ निर्भर किया गया है वह सुन्दरम् के आकलन की मनःशक्ति (Faculty) है। किन्तु किसी वस्तु को सुन्दर कहने के लिए जि[illegible] वस्तु की अपेक्षा होती है उसकी गवेषणा रुचि-निर्णय के विश्लेषणार्थ अवश्य सुरक्षि[illegible] रहनी चाहिए। जिन परिच्छेदों के प्रति मेरी चिन्तन-प्रक्रिया में इस निर्णय के द्वारा ध्यान दिया गया है उन परिच्छेदों के प्रति मैंने अपनी गवेषणा में निर्णय कर्म के तर्क-मूलक-व्यापारों के निर्देशन का अनुसरण किया है (क्योंकि रुचि-निर्णय सदैव बुद्धि के सन्दर्भ को सोसित करता है) मैंने सर्वप्रथम गुण-परिच्छेद की समीक्षा की है क्योंकि

भ्रान्ति, अपनी अनुषंगी आनन्द-संवेदना के साथ उसके प्रतिरूपण के सम्बन्ध में जागरूक होने से एक सर्वथा भिन्न चीज़ है। यहाँ प्रतिरूपण का सन्दर्भ पूर्णतया व्यक्ति (subject) के साथ निर्दिष्ट होता है और इससे भी अधिक आनन्द अथवा विषाद की अनुभूति की संज्ञा के अन्तर्गत उसकी जीवनानुभूति के साथ और यह तथ्य विवेचन और आकलन की एक ऐसी सर्वथा भिन्न मनःशक्ति के आधार को निर्माण करता है जो ज्ञान में कोई योग नहीं देती। जो कुछ वह करती है वह व्यक्ति के अन्तःस्थ प्रतिरूप विशेष की, प्रतिरूपों की उस सम्पूर्ण मनःशक्ति के साथ तुलना करना है जिसके सम्बन्ध में मन अपनी अवस्था की अनुभूति में सतर्क होता है। किसी निर्णय में निर्दिष्ट प्रतिरूप विशेष अनुभवमूलक और सौन्दर्यपरक हो सकते हैं; किन्तु उनके द्वारा जो निर्णय अधिघोषित होता है वह तर्कमूलक होता है बशर्ते कि वह वस्तु (object) के साथ उनका सन्दर्भ निर्दिष्ट करता हो। इसके विपरीत तथाकथित प्रतिरूप चाहे तर्क बुद्धिपरक (Rational) भी क्यों न हों किन्तु किसी निर्णय में वे प्रधानतया व्यक्ति (उसकी अनुभूति) के साथ सन्दर्भित हों तो वे हमेशा उसी हद तक सौन्दर्यपरक होते हैं।

रुचि-निर्णय का निर्धारण करने वाला आनन्द सर्व कामना निरपेक्ष होता है

वह आनन्द जिसे हम वस्तु की यथार्थ सत्ता (Real existence) के प्रतिरूपण के साथ सम्बद्ध करते हैं कामना (interest) कहलाता है। इस प्रकार का आनन्द सदैव या तो अपनी निर्धारिणी आधारभूमि के रूप में या फिर अपनी निर्धारिणी आधार भूमि में अनिवार्यतः अभिप्रेत रूप में इच्छा मनःशक्ति (Faculty of desire) के साथ अपना सन्दर्भ उपलक्षित करता है। अब जहाँ प्रश्न यह है कि क्या एक वस्तु विशेष सुन्दर है वहाँ हम यह नहीं जानना चाहते कि हम अथवा कोई अन्य उस वस्तु की यथार्थ सत्ता में भाग लेते हैं अथवा यहाँ तक कि ले सकते थे, बल्कि हम मात्र इतना ही जानना चाहते हैं कि निरे भावन (स्वानुभूति और चिन्तन) के आधार पर हम उसका क्या आकलन निश्चित करते हैं। यदि कोई मुझसे यह पूछता है कि क्या जो प्रासाद मैं अपने नेत्रों के सम्मुख खड़ा देख रहा हूँ उसे सुन्दर समझता हूँ तो कदाचित् मैं यह उत्तर दूँ कि मैं ऐसी चीजों की चिन्ता नहीं करता, जो मात्र देखकर आश्चर्य-चकित होने के लिए बनी हुई हैं। अथवा मैं उस एरोक्वास सैकेम के से अन्दाज में उत्तर दे सकता हूँ जिसने कहा था कि पेरिस में उसे उसके भोजनालयों से अधिक प्रसन्न और किसी चीज ने नहीं किया यहाँ तक कि मैं एक कदम और आगे बढ़ कर रूसो के ओज के साथ उन बड़े लोगों के दम्भ या मिथ्याभिमान की अच्छी तरह खबर ले सकता हूँ जो इस प्रकार

की अनावश्यक चीज़ों के पीछे जनता का खून-पसीना एक करते रहते हैं अथवा अन्त में मैं अपने को सर्वथा आसानी से इस दिशा में बहका सकता हूँ कि यदि मैं फिर कभी भी मनुष्यों के बीच लौट पाने की आशा से शून्य स्वयं को किसी निर्जन द्वीप में पाता और इच्छा मात्र से छूमन्तर करके इस प्रकार के प्रासाद की सृष्टि कर लेता तो भी मैं ऐसा करने का तब तक कष्ट न उठाता जब तक कि मुझे यथेष्ट आनन्द प्रदान करने वाली एक भी झोपड़ी मेरे पास होती। यह सब का सब स्वीकृत और अनुमोदित हो सकता है; बात केवल इतनी ही है कि यह प्रस्तुत समस्या का विषय नहीं है। व्यक्ति जो कुछ जानना चाहता है वह मात्र यह है कि क्या वस्तु का निरा प्रतिरूपण (Mere representation) मेरे पसन्द की चीज़ है, भले ही मैं इस प्रतिरूपण की, इस वस्तु की यथार्थ सत्ता के प्रति कितना ही उदासीन क्यों न हूँ। यह कहने के लिए कि वस्तु सुन्दर है और यह दिखाने के लिए कि मैं रुचिसम्पन्न हूँ यह नितान्त स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु अपने निश्चय के लिए उस अर्थ (Meaning) पर निर्भर करती है जो मैं इस प्रतिरूपण को प्रदान कर सकता हूँ और किसी ऐसे तत्त्व पर नहीं जो मुझे वस्तु का यथार्थ सत्ता पर आश्रित होने के लिए प्रेरित करता है। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात को अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि सुन्दरम् पर विहित वह निर्णय जो किञ्चिन्मात्र भी कामना-रंजित है अत्यन्त पक्षपातग्रस्त है और विशुद्ध निर्णय नहीं है। व्यक्ति को वस्तु की यथार्थ सत्ता के पक्ष में तनिक भी अभिभूत नहीं होना चाहिये, बल्कि रुचि के विषय में निर्णेता (Judge) का कार्य करने के लिए उसे इस सम्बन्ध मे पूर्ण तटस्थता वरतनी चाहिये।

इस न्याय वाक्य का जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण है, स्पष्टीकरण विशुद्ध निष्काम[१] आनन्द (Pure disinterested delight) के साथ जो रुचि-निर्णय के भ तर आविर्भूत होता है, सकाम आनन्द का वैषम्य प्रदर्शित करने से अपेक्षाकृत और अधिक उत्कृष्ट ढंग से और किसी प्रकार नहीं किया जा सकता—विशेषतः यदि हम स्वयं अपने को यह विश्वास दिला सकें कि उन सद्यः उल्लिखित होने वाले कामना के प्रकारों के परे और कोई अन्य प्रकार की कामनाएँ नहीं हैं।

---

[१] **हमारे आनन्द के किसी विषय (Object) पर विहित निर्णय पूर्णतया निष्काम (disinterested) किन्तु फिर भी अत्यन्त रोचक हो सकता है अर्थात् वह किसी कामना पर निर्भर नहीं करता बल्कि वह एक कामना की सृष्टि करता है। सारे विशुद्ध नैतिक निर्णय इसी प्रकार के होते हैं; किन्तु रुचि-निर्णय स्वयमेव किसी भी कामना की प्रतिष्ठापना भी नहीं करते चाहे वह कोई भी क्यों न हो। केवल समाज में ही रुचि रखना 'रोचक' है—एक ऐसा तथ्य जिसकी व्याख्या निष्पत्ति में होगी**

अनुकूलवेदनीयगत आनन्द सकाम आनन्द है।

अनुकूलवेदनीय वह वस्तु है जिसे इन्द्रियाँ सम्वेदना में सुखप्रद पाती है। यह तथ्य तत्काल ही एक ऐसे दोहरे अर्थ की प्रचलित अन्तर्भ्रान्ति के खण्डन और उसकी ओर विशेष ध्यान निर्दिष्ट करने का एक सुविधाजनक अवसर प्रदान करता है जिसके लिए सम्वेदन (Sensation) शब्द समर्थ है। सारा का सारा आनन्द (जैसा कि कहा अथवा सोचा जाता है) स्वयं सम्वेदन है (किसी सुख का)। परिणामतः वह हर एक वस्तु जो आनन्द प्रदान करती है और मात्र इसी कारण कि वह आनन्द प्रदान करती है अनुकूलवेदनीय होती है और अपनी विभिन्न कोटियों अथवा अन्य अनुकूलवेदनीय संवेदनों के साथ अपने सम्बन्ध के अनुसार आकर्षक, मनोरम, रुचिर, उपभोग्य आदि होती है। किन्तु यदि इस तथ्य को मान लिया जाता है तो इन्द्रिय के अन्तः संस्कार जो प्रवृत्ति का अथवा तर्क-बुद्धि के नियम जो संकल्पशक्ति का अथवा स्वानुभूति के निरे भावित रूप जो निर्णय का निर्धारण करते हैं वे उनकी आनन्दानुभूति पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु में समान या समरूप हैं क्योंकि यह व्यक्ति की अपनी दशा के सम्वेदन में अनुकूलवेद-नीयता होगी; और चूँकि अन्ततोगत्वा हमारी मनःशक्तियों का सारा का सारा विस्तृत कार्य अपने लक्ष्य रूप व्यावहारिक में ही परिणत और एकान्वित होता है अतः वस्तुओं के उस मूल्यांकन अथवा मूल्य (Worth) के अतिरिक्त, जो उनकी उस तृप्ति में निहित होता है जिसका कि वे वादा करती हैं, और किसी भी प्रकार हम अपनी मनः शक्तियों पर विश्वास नहीं कर सकते। इस चीज़ की उपलब्धि कैसे होती है यह अन्ततः नगण्य है; और साधनों के विकल्प के रूप में यहाँ यही एक मात्र वह वस्तु है जो एक भेद कर सकती है, पुरुष वस्तुतः मूढ़ता अथवा अविवेक के लिए एक दूसरे पर दोषारोपण कर सकते हैं; नीचता अथवा दुष्टता के लिए वे ऐसा कभी नहीं कर सकते; क्योंकि वे सब-के-सब और उनमें से प्रत्येक, जगत् के प्रति अपनी विचार-दृष्टि के अनुसार एक ऐसे लक्ष्य के पीछे पड़े हैं जो प्रत्येक के लिए विवादास्पद तृप्ति (gratification in question) है।

जब आनन्द अथवा विषाद की अनुभूति के किसी विकार को संवेदन (Sensation) कहा जाता है तो इस शब्दावली को उस शब्दावली से एक सर्वथा भिन्न अर्थ प्रदान किया जाता है जिसको वह उस समय धारण करता है जिस समय हम किसी वस्तु के प्रतिरूपण (ग्राहक इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान की मनःशक्ति से सम्बन्ध रखता है) को संवेदन कहते हैं। क्योंकि परवर्ती स्थिति में प्रतिरूपण का सम्बन्ध वस्तु (object) से जोड़ा जाता है किन्तु पूर्ववर्ती स्थिति में उसका सन्दर्भ व्यक्ति (Subject से निर्दिष्ट किया जाता है और वह किसी भी ज्ञान

के लिए प्राप्य नहीं होता यहाँ तक कि उस संज्ञान के लिए भी नहीं जिसके द्वारा व्यक्ति (Subject) स्वयं अपना संज्ञान करता है।

अब, ऊपर की परिभाषा में संवेदन (Sensation) शब्द इन्द्रिय (sense) के एक वस्तुनिष्ठ प्रतिचित्रण को निर्दिष्ट करने के लिए व्यवहृत है; और निरन्तर होने वाले भ्रामक भाष्य (Misinterpretation) के खतरे को दूर करने के लिए हम उस (परिभाषा) का आह्वान करेंगे जो अनिवार्यतः सन्तत विशुद्ध रूप से व्यक्ति-निष्ठ बनी रहे और जो अनुभूति के परिचित नाम से किसी वस्तु के प्रतिरूपण की सृष्टि करने में पूर्णतया असमर्थ हो। चरागाहों का हरिद्वर्ण एक इन्द्रिय-विषय के प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में वस्तुनिष्ट सम्वेदन से सम्बन्ध रखता है किन्तु उसकी अनुकूलवेदनीयता (agreeableness) उस 'व्यक्तिनिष्ठ' संवेदन से सम्बन्ध रखती है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु प्रतिरूपित नहीं की जाती अर्थात् वह उस वस्तु से सम्बन्ध रखती है जिसके द्वारा वस्तु (object) को एक आनन्द की वस्तु माना जाता है (जिसमें वस्तु का कोई भी संज्ञान अन्तर्विष्ट नहीं होता।)

अब, किसी वस्तु पर विहित निर्णय जिससे कि उसकी अनुकूलवेदनीयता की सम्पुष्टि होती है उसमें निहित किसी कामना की अभिव्यक्ति करता है, यह इस तथ्य से पूर्णतया स्पष्ट है कि संवेदन के द्वारा वह तदनुरूप वस्तुओं (Similar objects) की एक इच्छा जाग्रत करता है, परिणामतः आनन्द उसके सम्बन्ध में सहज-निर्णय की पूर्वकल्पना न करके मेरी अवस्था के साथ जहाँ तक कि वह एक ऐसी वस्तु से प्रभावित होती है, उसके यथार्थ अस्तित्व का सम्बन्ध होने की पूर्व कल्पना करता है। अतएव अनुकूलवेदनीय के सम्बन्ध में हम मात्र यही नहीं कहते कि वह आनन्दित करता है अपितु यह भी कहते हैं कि वह तृप्त करता है। मैं उसे एक साधारण अभिमति (Simple approval) नहीं प्रदान करता किन्तु प्रवृत्ति उसके द्वारा जाग्रत होती है और जहाँ अनुकूलवेदनीयता अत्यन्त सजीव ढंग की होती है वहाँ वस्तु के वैशिष्ट्य पर विहित निर्णय इतना नितान्त असम्बद्ध होता है कि वे लोग जो सदैव उपभोग के ही उद्देश्य में डूबे होते हैं (क्योंकि तृप्ति की गहनता को निर्दिष्ट करने के लिए यही एकमात्र शब्द है) सम्पूर्ण निर्णय से छुटकारा पा लेना चाहेंगे।

श्रेयस्गत आनन्द सकाम आनन्द है !

श्रेयस् (good) वह है जो तर्कबुद्धि द्वारा अपनी निरी संकल्पना (Concept) से स्वयं अपनी संस्तुति करता है। हम उस वस्तु को किसी चीज के लिए (उपयोगी) श्रेयस् कहते हैं जो मात्र एक साधन के रूप में आनन्दित करती है; किन्तु वह वस्तु जो स्वत आनन्दित करती है उसे हम श्रयस् (good in itself) कहते हैं

दोनों ही स्थितियों में किसी उद्देश्य (End) की संकल्पना और परिणामतः संकल्प-शक्ति के साथ तर्कबुद्धि का सम्बन्ध (कम से कम सम्भाव्य) और इस प्रकार किसी वस्तु अथवा कार्य के अस्तित्व में एक आनन्द (delight) अर्थात् कोई न कोई कामना निहित होती है।

किसी वस्तु को श्रेयस् (good) कल्पित करने के लिए मुझे अनिवार्यतः यह सदैव जानना चाहिए कि वह किस प्रकार की वस्तु होने के लिए उद्दिष्ट है अर्थात् मेरे पास उसकी कोई संकल्पना होनी चाहिए। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह मुझे किसी वस्तु में सौन्दर्य का दर्शन करने की योग्यता प्रदान करे! पुष्प, स्वतन्त्र संरूप (Free Pattern) निरुद्देश्य रूप से अन्तर्जटित रेखाएँ, शिल्पपूर्ण ढंग से विन्यस्त पर्णावली कोई सार्थकता नहीं रखतीं, किसी निश्चित संकल्पना पर निर्भर नहीं करतीं और फिर भी वे आह्लादित करती हैं। सुन्दरगत आनन्द किसी ऐसी वस्तु के चिन्तन पर निर्भर करता है जो किसी (अनिश्चिततः निर्धारित) संकल्पना की पुरोगामी होती है। इस प्रकार भी यह उस अनुकूलवेदनीय से भिन्न हो जाता है जो पूर्णतया संवेदन पर आश्रित होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अनेक अवस्थाओं में अनुकूलवेदनीय और श्रेयस् परस्पर परिवर्त्य-पद (Convertible Terms) प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यह सामान्यतः कहा जाता है कि सारी (विशेषतः स्थायी) तृप्ति स्वयं श्रेयस् या शिव की ही होती है जो कि प्रायः यह कहने के सदृश है कि शाश्वत् रूप से अनुकूलवेदनीय होना और श्रेयस् होना दोनों तद्रूप हैं। किन्तु यह सद्यः स्पष्ट है कि यह शब्दों की एक थोथी अन्तर्भ्रान्ति मात्र है क्योंकि इन शब्दावलियों की वाहक समुचित संकल्पनाएँ अन्योन्य-विनिमयसाध्य होने से बहुत दूर पड़ती हैं। उस अनुकूलवेदनीय को जो कि अपने यथावत् रूप में वस्तु (object) को इन्द्रिय सम्बन्धान्तर्गत प्रतिरूपित करता है किसी उद्देश्य-संकल्पना द्वारा श्रेयस् संज्ञक संकल्पशक्ति का विषय होने के लिए सर्वप्रथम तर्कबुद्धि के नियमों के अन्तर्गत लाया जाना चाहिए। किन्तु आनन्द का सन्दर्भ-निर्देश वहाँ सर्वथा भिन्न होता है जहाँ वह वस्तु जो तृप्त करती है तत्काल श्रेयस् कही जाती है; यह चीज इस बात से स्पष्ट सिद्ध है कि श्रेयस् के साथ यह प्रश्न सदैव लगा रहता है कि क्या वह व्यवहित रूप से (Mediately) श्रेयस् है अथवा अव्यवहित रूप से (immediately) अर्थात् वह उपयोगी है या स्वलक्षण श्रेयस् (good in itself); जब कि अनुकूलवेदनीय के सम्बन्ध में यह प्रश्न कभी उठ ही नहीं सकता क्योंकि वहाँ इस शब्द का अभिप्राय सदैव उस वस्तु से होता है जो अव्यवहित रूप से आनन्दित करती है और ठीक यही चीज उस वस्तु के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है जिसे हम सुन्दर कहते हैं।

यहाँ तक कि प्रतिदिन के सम्भाषण में भी अनुकूलवेदनीय और श्रेयस् में भेद किया जाता है। हम किसी ऐसी थाली के लिए जो मिर्च-मसालों और चरपरी चीजों से हमारी अभिरुचि को उत्तेजित करती है, उसके श्रेयस् न होने के कारण को सतत समझते हुए भी यह कहने में ननु-नच नहीं करते कि वह अनुकूलवेदनीय है; क्योंकि जहाँ वह इन्द्रियों को अव्यवहित रूप से आह्लादित करती है वहीं वह व्यवहित रूप से अर्थात् उस तर्कबुद्धि की दृष्टि से दुःखद है जो भावी परिणामों पर ध्यान रखती है। यहाँ तक कि हमारे स्वास्थ्य के आकलन में भी ठीक यही भेद खोजा जा सकता है। उन सब के लिए जो इससे युक्त होते हैं यह अव्यवहित रूप से— कम से कम निषेधात्मक रीति से अर्थात् सम्पूर्ण कायिक दुःखों की विप्रकृष्टता के रूप में अनुकूलवेदनीय है। किन्तु यदि हम यह कहना चाहते हों कि वह श्रेयस् है तो हमें तर्कबुद्धि से उसे उद्देश्यों की ओर निर्देशित करने का अनुरोध करना चाहिए अर्थात् हमें उसको एक ऐसी दशा समझना चाहिए जो उस सब के लिए जो हमे करना है हमें एक समधर्मी मनःस्थिति (Congenial mood) में रखती है। अन्ततः आनन्द के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति का यह विश्वास है कि कालावधि (Duration) और साथ ही संख्या (Number) पर विचार करते हुए जीवन के सुखों का अधिकतम योग (Greatest aggregate) सच्चे ही नहीं यहाँ तक कि परम श्रेयस् (highest good) की संज्ञा के योग्य है। किन्तु तर्कबुद्धि का रुख इसके भी विपरीत रहता है। अनुकूलवेदनीयता उपभोग है। किन्तु जिस वस्तु के लिए हम तुले हुए हैं वह यदि मात्र इतनी ही सब है तो फिर उन साधनों के सम्बन्ध मे आचारनिष्ठ होना मूर्खता होगी जो उसे हमारे लिए उपलब्ध बनाते हैं चाहे वह निष्क्रियता-पूर्वक प्रकृति की उदारता से प्राप्त हो या सक्रियतापूर्वक हमारे अपने हाथों के कार्य से। किन्तु यह कि, उस व्यक्ति से यथार्थ अस्तित्व (real existence) मे कोई आन्तरिक मूल्य (Intrinsic worth) है जो मात्र उपभोग के लिए जीता है इस सम्बन्ध में वह चाहे कितना ही व्यापृत क्यों न हो, यहाँ तक कि ऐसा करने के भीतर भी जब वह उन सभी लोगों की सेवा करता है जो उस एक उद्देश्य के एक अत्यन्त उत्कृष्ट साधन के रूप में, उसके साथ ही समान रूप से मात्र उपभोग के उद्देश्य में निमग्न हैं—और वह ऐसा करता भी है—क्योंकि प्रायः सहानुभूति द्वारा वह उनकी सारी तृप्तियों में भाग लेता है—यह एक ऐसा मत है जिस पर तर्कबुद्धि स्वयं अपने को समझा-बुझाकर नहीं लाने देगी। मनुष्य केवल उसी कार्य के द्वारा पुरुष के यथार्थ अस्तित्व के रूप में अपने अस्तित्व को एक निरपेक्ष मूल्य (absolute worth) प्रदान करता है जो वह उपभोग से असावधान रहकर पूर्ण स्वातन्त्र्य में और जो कुछ वह प्रकृति के हाथों निष्क्रियतापूर्वक प्राप्त कर सकता है उससे निरपेक्ष रहकर करता है आनन्द (Happiness) अपने सुखों के

प्रचुरता के साथ निरुपाधिक श्रेयस्[१] (Unconditioned good) होने से बहुत दूर है।

किन्तु अनुकूलवेदनीय और श्रेयस् के बीच इस सारे भेद के बावजूद अपने उद्देश्य के सम्बन्ध में वे दोनों ही नित्य रूप से कामनामय होने में मतैक्य रखते हैं। यह बात मात्र अनुकूलवेदनीय और श्रेयस् अर्थात् उस उपयोगी के सम्बन्ध में ही सत्य नहीं है जो किसी सुख के साधन के रूप में आह्लादित करता है अपितु उस वस्तु के सम्बन्ध में भी सत्य है जो निरपेक्ष रूप से और प्रत्येक दृष्टिकोण से श्रेयस् है अर्थात् नैतिक मंगल जो अपने साथ परम कामना (highest interest) को वहन करता है। क्योंकि श्रेयस् संकल्पशक्ति का अर्थात् तर्कबुद्धिपरक दृष्टि से सुनिर्धारित इच्छा-मनःशक्ति का विषय है। किन्तु किसी वस्तु के लिए संकल्प करना और उसके अस्तित्व में आनन्द लेना अर्थात् उसमें अभिरुचि रखना दोनों एक है।

तीन विशिष्टतया भिन्न प्रकार के आनन्दों की तुलना—

अनुकूलवेदनीय और श्रेयस् दोनों ही इच्छा मनःशक्ति के साथ अपना सन्दर्भ सूचित करते हैं और इस प्रकार उनमें से पूर्ववर्ती (उद्दीपनों द्वारा) व्याधिकीय रूप से सोपाधिक (Pathologically Conditioned) आनन्द द्वारा और परवर्ती विशुद्ध व्यावहारिक आनन्द द्वारा अनुगत होता है। इस प्रकार का आनन्द मात्र वस्तु के प्रतिरूपण द्वारा ही निर्धारित नहीं होता अपितु व्यक्ति और वस्तु के यथार्थ अस्तित्व के बीच के प्रतिरूपित संसर्ग-बन्ध (represented bond of condition) द्वारा भी होता है। केवल व्यक्ति (subject) ही नहीं बल्कि उसका यथार्थ अस्तित्व भी प्रभावित करता है। दूसरी ओर रुचि-निर्णय मात्र भावनात्मक है अर्थात् वह एक ऐसा निर्णय है जो वस्तु की सत्ता के सम्बन्ध में उदासीन रहता है और केवल इतना ही निश्चय करता है कि उसका वैशिष्ट्य (Character) आनन्द और विषाद की अनुभूति का साथ देता है। किन्तु यह भावन (Contemplation) भी संकल्पनाओं की ओर निर्दिष्ट नहीं होता; क्योंकि रुचि-निर्णय कोई संज्ञानात्मक निर्णय नहीं है (न सैद्धान्तिक और न व्यावहारिक) और इसीलिए सकल्पनाओं पर आधारित भी नहीं होता और न तो उसकी ओर **सोद्देश्य निर्देशित** ही होता है।

१—उपभोग के प्रति कोई आभार एक प्रामाणिक बेहूदगी है। और ठीक यही बात उन कार्यों के प्रति कल्पित आभार के लिए कही जा सकती है जिनका लक्ष्य मात्र उपभोग है, चाहे यह उपभोग विचारान्तर्गत कितनी ही आध्यात्मिक दृष्टि से परिष्कृत (अथवा अलंकृत) क्यों न हो और इतना ही नहीं यहाँ तक कि चाहे वह स्वर्गीय उपभोग ही क्यों न हो

इस प्रकार अनुकूलवेदनीय, सुन्दरम् और श्रेयस् आनन्द और विषाद की अनुभूति के साथ एक ऐसी अनुभूति के रूप में, जिसके सम्बन्ध में हम तीन वस्तुओं अथवा प्रतिरूपणों की रीतियों को पृथक् करते हैं, प्रतिरूपों के तीन विभिन्न सम्बन्धों को निर्दिष्ट करते हैं। वे संवादी शब्दावलियाँ भी भिन्न हैं जो उनके प्रति हमारी तुष्टि को सूचित करती हैं। अनुकूलवेदनीय वह तत्व है जो किसी व्यक्ति को तृप्त करता है, सुन्दरम् वह है जो उसे मात्र आनन्दित करता है, श्रेयस् वह है जो समादृत (तर्कानुमोदित अभिमत) है: अर्थात् वह एक ऐसा तत्त्व है जिसके ऊपर वह एक वस्तुनिष्ठ मूल्य (objective worth) स्थिर करता है। अनुकूलवेदनीयता तर्कनाशून्य पशुओं के लिए भी एक महत्वपूर्ण तत्व है; सौन्दर्य केवल मनुष्यो अर्थात् ऐसे प्राणियों के लिए सार्थकता (Significance) रखता है जो एक साथ ही पशु और तर्कनाजीवी दोनों हैं जबकि श्रेयस् प्रत्येक तर्कनापरक व्यक्ति के लिए सामान्यतः श्रेयस् है; यह एक ऐसा न्यायवाक्य है जो पूर्ण न्यायायन (Justification) एवं व्याख्या अपने अन्तिम रूप में ही पा सकता है। इन समस्त तीन प्रकार के आनन्दों में सुन्दरगत रुचि (Taste in The beautiful) का आनन्द ही एक मात्र निष्काम एवं स्वतन्त्र आनन्द कहा जा सकता है क्योंकि इसके साथ कोई भी कामना (interest) चाहे वह इन्द्रिय की हो या तर्कबुद्धि की, समर्थन (approval) का आग्रह नहीं करती। और इसलिए हम कह सकते हैं कि उल्लिखित तीनों अवस्थाओं में आनन्द प्रवृत्ति (Inclination) अनुग्रह (Favour) और समादर (Respect) से सम्बद्ध है। क्योंकि केवल अनुग्रह ही स्वतन्त्र प्रीति है। प्रवृत्ति का कोई विषय और एक ऐसा विषय जिसे तर्कबुद्धि का कोई नियम हमारी इच्छा पर आरोपित करता है हमारे लिए किसी भी वस्तु को आनन्द की वस्तु में परिणत करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं छोड़ता। सारी-की-सारी कामना किसी अभाव की पूर्व कल्पना करती है अथवा किसी अभाव को जन्म देती है और आधारभूमि का निर्धारण करने वाली एक अभिमति होने के कारण वस्तु पर विहित निर्णय को उसकी स्वच्छन्दता से वंचित कर देती है।

अनुकूलवेदनीय की स्थिति में जहाँ तक कि प्रवृत्ति की कामना की जाती है, प्रत्येक व्यक्ति कहता है: बुभुक्षा सर्वाधिक स्वादिष्ट व्यंजन है और स्वस्थ क्षुधासम्पन्न लोग उस सीमा तक हर वस्तु का रसास्वादन करते हैं जिस सीमा तक कि वह कोई ऐसी वस्तु होती है जिसका भोग वे कर सकते हैं परिणामतः ऐसा आनन्द उस रुचि का कोई संकेत नहीं देता जिसे अपनी पसन्द के विषय में कुछ कहना हो। केवल तभी हम यह कह सकते हैं कि मानव-समुदाय मे किस व्यक्ति के भीतर रुचि है अथवा किस व्यक्ति के भीतर नहीं है जबकि मनुष्यों को वह सब कुछ प्राप्त हो जो वे चाहते हैं। इसी प्रकार बिना सद्गुण के उचित स्वभाव ( ) बिना के दाक्षिण्य (Pohteness

बिना प्रतिष्ठा के सौजन्यादि सम्भव हैं। क्योंकि जहाँ नैतिक-नियम निरंकुश आदेश देता है वहाँ व्यक्ति को क्या करना चाहिए इस सम्बन्ध में वस्तुनिष्ठ दृष्टि से स्वतन्त्र विकल्प (Free choice) के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता; और उस ढंग से, जिस ढंग से कि व्यक्ति इन आदेशों का पालन करता है अथवा जिस पद्धति से अन्य लोग ऐसा करते है उसके आकलन की प्रक्रिया में रुचि दर्शाना अपने मन के नैतिक ढाँचे का प्रदर्शन करने से सर्वथा भिन्न चीज है। क्योंकि परवर्ती आदेश (Command) द्योतित करता है और किसी वस्तु की आवश्यकता उत्पन्न करता है जब कि नैतिक-रुचि स्वयं अपने को सचाई के साथ बिना किसी को समर्पित किए आनन्द-वस्तुओं के साथ केवल विलास करती है।

प्रथम परिच्छेद से व्युत्पादित सुन्दरम् की परिभाषा

रुचि, किसी भी कामना से स्वतन्त्र आनन्द अथवा विरक्ति द्वारा किसी वस्तु (object) अथवा प्रतिरूपण-पद्धति के आकलन की मनःशक्ति (Faculty) है। ऐसे ही आनन्द की वस्तु सुन्दर कहलाती है।

रुचि-निर्णय का द्वितीय परिच्छेद : परिणाम परिच्छेद

सुन्दरम् वह है जिसे संकल्पनाओं से स्वतन्त्र, सार्वभौम आनन्द की वस्तु के रूप में प्रतिरूपित किया जाता है

सुन्दरम् की यह परिभाषा किसी भी कामना से स्वतन्त्र एक आनन्द-वस्तु रूप पूर्वगामी परिभाषा से निगम्य है। क्योंकि जहाँ कोई व्यक्ति इस बात के प्रति सतर्क है कि उसका वस्तु-जन्य आनन्द उसके साथ ही कामना निरपेक्ष है वहाँ यह अनिवार्य है कि वह वस्तु की ओर सर्वजन सुलभ आनन्द की आधारभूमि को अन्तर्धारण करने वाली वस्तु के रूप में देखे। क्योंकि चूँकि आनन्द (delight) व्यक्ति (Subject) की किसी प्रवृत्ति (inclination) पर आधारित नहीं है (और न तो किसी अन्य विमृष्ट कामना पर ही) बल्कि व्यक्ति अपने को उस प्रीति (liking) के सम्बन्ध में पूर्णतया स्वतन्त्र अनुभव करता है जिसे वह वस्तु (object) को प्रदान करता है। वह अपने आनन्द के लिए तर्क रूप में ऐसे कोई प्रतियोग (conditions) नहीं रखता जिसमें मात्र उसका व्यक्तिपरक आत्म भाग ले सके। अतः उसे उसको उसी वस्तु पर आधारित समझना चाहिए जिसकी वह प्रत्येक अन्य व्यक्ति के अन्दर भी पूर्व-कल्पना कर सके। अतएव इस बात पर विश्वास करना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति से वैसे ही आनन्द की माँग करने के लिए उसके पास पर्याप्त युक्ति है। तदनुसार वह सुन्दरम् की इस प्रकार-चर्चा करेगा जैसे मानो सौन्दर्य वस्तु का कोई गुण-धर्म (quality) हो और निर्णय कोई तर्कमूलक (वस्तु की संकल्पनाओं द्वारा उसके

संज्ञान का रूपायन करने वाला) निर्णय हो; हालाँकि वह मात्र तर्कमूलक (logical) होता है और केवल वस्तु के प्रतिरूपण का व्यक्ति के साथ एक सन्दर्भ द्योतित करता है क्योंकि तर्कमूलक निर्णय के साथ वह फिर भी यह साहश्य रखता है कि वह सभी व्यक्तियों के लिए मान्य (Valid) पूर्वकल्पित किया जा सकता है। किन्तु यह सार्वभौमता संकल्पनाओं से उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि संकल्पनाओं से आनन्द और विषाद की अनुभूति के प्रति कोई संक्रमण नहीं होता (मात्र उन विशुद्ध व्यावहारिक नियमों की स्थिति के अलावा जो फिर भी अपने साथ एक कामना को वहन करते हैं; और इस प्रकार की कामना रुचि के विशुद्ध निर्णय से सम्बद्ध नहीं होती।) परिणाम यह होता है कि रुचि-निर्णय यावत् कामना के प्रति निःसंगता की अपनी अनुषंगी चेतना द्वारा निश्चय ही सभी व्यक्तियों की मान्यता (Validity) का दावा द्योतित करती है और वह ऐसी वस्तुओं से सम्बद्ध सार्वभौमता से स्वतन्त्र रूप में करती है अर्थात् उसके साथ व्यक्तिनिष्ठ सार्वभौमता का दावा संयुक्त होता है।

उपर्युक्त वैशिष्ट्य (Characteristic) के द्वारा सुन्दरम् की अनुकूलवेदनीय और श्रेयस् के साथ तुलना।

अनुकूलवेदनीय के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति इस बात को स्वीकार करता है कि उसका वह निर्णय जिसे वह एक व्यक्तिगत अनुभूति (Private Feeling) पर आधारित करता है और जिसमें वह यह घोषणा करता है कि एक वस्तु-विशेष उसे आह्लादित करती है, वह व्यक्तिगत रूप से उसी तक सीमित होता है। इस प्रकार वह उसे असम्बद्ध नहीं मानता, बशर्ते जिस समय वह यह कहता कि कनारा शराब अनुकूलवेदनीय है उसी समय एक अन्य व्यक्ति उसकी शब्दावली का संशोधन करके उसे यह स्मृति दिला दे कि उसे कहना चाहिए : वह मेरे लिए अनुकूलवेदनीय है। यह बात मात्र जिह्वा, तालु और कण्ठ की ही रुचि पर लागू न होकर उस सब कुछ पर लागू होती है जो किसी के लिए, उसके नेत्र या कान के लिए अनुकूलवेदनीय हो सकता है। वायलेट वर्ण एक व्यक्ति के लिए कोमल और कमनीय है तो दूसरे के लिए मनहूस और निष्प्रभ। एक व्यक्ति वायु-वाद्यों के स्वर को पसन्द करता है तो दूसरा तार-वाद्यों के स्वर को। दूसरे के निर्णय की, जब वह हमारे अपने निर्णय से मतभेद प्रकट करता है, अशुद्ध कहकर भर्त्सना करने के विचार से जैसे मानो दोनों का विरोध तर्कमूलक हो, ऐसे प्रश्नों के ऊपर झगड़ना मूर्खता होगी। अतएव अनुकूलवेदनीय के सम्बन्ध में यह स्वयं तथ्य ठीक उतरता है : प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी व्यक्तिगत रुचि (इन्द्रिय रुचि) होती है।

सुन्दरम् एक सर्वथा भिन्न धरातल पर खड़ा होता है। इसके विपरीत य
बात होगी यदि कोई व्यक्ति जिसने अपनी रुचि पर गर्व प्रकट किया स्वय

अपने को यह कहकर न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करे : यह वस्तु (यह भवन जो मैं देख रहा हूँ, वह परिधान जिसे वह व्यक्ति धारण किये हुए है, वह समवेत स्वर जिसे मैं सुन रहा हूँ, वह कविता जो समालोचनार्थ मुझे अर्पित की गई है) मेरे लिए सुन्दर है। क्योंकि यदि वह मात्र उसे ही आह्लादित करती है तो उसे उस वस्तु को सुन्दर नहीं कहना चाहिए। ऐसी बहुत-सी चीजें हो सकती हैं जो उसके लिए आकर्षण और अनुकूलवेदनीयता रखती हों—इस सम्बन्ध में कौन चिन्ता करता है; किन्तु जब वह किसी एक वस्तु को किसी आधार पर रखकर सुन्दर कहता है तो वह अन्य लोगों से भी उसी आनन्द की माँग करता है। वह मात्र अपने ही लिए निर्णय न करके सभी व्यक्तियों के लिए निर्णय करता है और फिर सौन्दर्य की इस प्रकार चर्चा करता है जैसे मानो वह वस्तुओं का गुण-धर्म हो। इस प्रकार वह कहता है कि अमुक वस्तु सुन्दर है; और ऐसा होता है जैसे मानो उसने दूसरों को अनेक अवसरों पर इस प्रकार की पारस्परिक सहमति में पाकर ऐसे निर्णय के प्रति उनके एकमत होने की चिन्ता ही न की हो अपितु वह उन सब से उस सहमति की माँग करता है। यदि वे भिन्न ढंग से निर्णय करते हैं तो वह उन पर दोष लगाता है और उन्हें उस रुचि से विहीन बताता है जिसकी कि वह अब भी उनसे एक ऐसी वस्तु के रूप में अपेक्षा करता है जो उनके पास अवश्य होनी चाहिए : और इस हद तक सभी व्यक्तियों को यह कहने की स्पष्ट छूट नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रुचि होती है। यह तथ्य यह कहने के समान होगा कि रुचि जैसी कोई वस्तु है ही नहीं अर्थात् ऐसा कोई सौन्दर्यमूलक निर्णय नहीं है जो सर्वजन की सहमति का समुचित दावा कर सकने में समर्थ हो।

तथापि अनुकूलवेदनीय की स्थिति में भी हम यह पाते हैं कि जो आकलन लोग करते हैं वे उनके बीच प्रचलित एक पारस्परिक मतैक्य को अवश्य व्यक्त करते है जो हमें कुछ लोगों के रुचि सम्पन्न और दूसरों के उससे विहीन होने का विश्वास करने की दिशा में अग्रसर करता है और वह भी किसी नैतिक चेतना के रूप में नहीं अपितु प्रायः अनुकूलवेदनीय के सम्बन्ध में एक आलोचनशील मनःशक्ति के रूप मे। इसी प्रकार उस व्यक्ति के लिए जो यह जानता है कि किस प्रकार वह अपने अतिथियों का सुखों (सारी इन्द्रियों द्वारा उपभोग के सुखों) द्वारा मनोरंजन कराए कि वे सब के सब प्रसन्न हो उठें, हम यह कहते हैं कि वह रुचि सम्पन्न है। किन्तु सार्वभौमता यहाँ एक तुलनात्मक अर्थ में गृहीत है और अन्य सारे आनुभविक नियमों की भाँति जो नियम लागू होते हैं वे मात्र सामान्य है, सार्वभौम नहीं हैं—परवर्ती वे है जिनका सुन्दरम् पर विहित निर्णय व्यवहार करता अथवा व्यवहार करने का दावा करता है जहाँ तक यह आनुभविक नियमों पर आधारित है वहाँ तक यह सामाजिकता-सम्बन्धी निर्णय है श्रेयस के सम्बन्ध में यह सत्य है कि निर्णय औचित्यपूर्ण

ढंग से प्रत्येक की मान्यता के दावे का समर्थन भी करते हैं; किन्तु श्रेयस् संकल्पना द्वारा सार्वभौम प्रत्यय के रूप में केवल प्रतिरूपित किया जाता है जो कि न तो अनुकूलवेदनीय की स्थिति में होता है और न सुन्दर की।

किसी रुचि-निर्णय में आनन्द की सार्वभौमता केवल व्यक्तिनिष्ठ रूप में ही प्रतिरूपित की जाती है।

सौन्दर्य-निर्णय की सार्वभौमता का यह विशिष्ट रूप जिसकी कठिनाइयों का सामना रुचि-निर्णय में करना है, निश्चय ही नैयायिक (Logician) के लिए नहीं अपितु अनुभवातीतवादी दार्शनिक के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। अपने उद्भव की खोज निकालने के लिए वह उसकी ओर से किसी लघु प्रयास की अपेक्षा नहीं रखता बल्कि बदले में यह हमारी संज्ञानात्मक मनःशक्ति के एक ऐसे गुण-धर्म को प्रकाश में लाता है जो विश्लेषण के बिना अज्ञात रह गया होता।

सर्वप्रथम व्यक्ति को यह बात दृढ़तापूर्वक अपने मन में बैठा लेनी चाहिए कि रुचि-निर्णय (सुन्दरम् पर विहित) द्वारा वस्तुगत आनन्द (Delight in an object) प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर अध्यारोपित हो जाता है फिर भी बिना किसी संकल्पना (Concept) पर आधारित हुए (क्योंकि तब तो वह श्रेयस् हो जायगा) और यह कि सार्वभौमता का यह दावा एक ऐसे निर्णय का एक ऐसा अपरिहार्य तत्त्व है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु को सुन्दर वर्णित करते हैं जो यदि अपने अस्तित्व के रूप में व्यक्ति के मन में विद्यमान न होता तो इस शब्दावली का प्रयोग करने की बात कदापि उसके मन में न प्रवेश करती अपितु वह प्रत्येक वस्तु जो किसी संकल्पना के बिना आह्लादित करती है अनुकूलवेदनीय के रूप में यथाक्रम प्रतिष्ठित होती। क्योंकि अनुकूलवेदनीय के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति को अपना निजी मत रखने का अधिकार है और कोई भी व्यक्ति दूसरों से अपने रुचि-निर्णय के प्रति सहमत होने का आग्रह नहीं करता यह वही वस्तु है जो सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि-निर्णय के अन्तर्गत अपरिवर्तनीय रूप से की जाती है। इनमें से प्रथम को मैं इन्द्रिय-रुचि और द्वितीय को चिन्तन-रुचि (Taste of reflection) कह सकता हूँ। प्रथम केवल व्यक्तिगत निर्णयों की स्थापना करतो है तो दूसरी ओर द्वितीय प्रदर्शनपूर्ण ढंग से सामान्य मान्यतामय (लौकिक) निर्णयों की स्थापना करती है किन्तु दोनों ही सामान्य रूप से आनन्द और विषाद की अनुभूति पर केवल उनके प्रतिरूपण के व्यवहारों के सम्बन्ध से सौन्दर्यपरक (व्यावहारिक नहीं) निर्णय हैं। अब यह अवश्य ही विचित्र प्रतीत होता है कि जबकि इन्द्रिय-रुचि के सन्दर्भ में वह केवल अनुभव ही नहीं है जो यह दर्शाता है कि इसका निर्णय (किसी वस्तु में होने वाले आनन्द अथवा विषाद के) सार्वभौमत मान्य नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति र इस मतैक्य को दूसरे

पर अध्यारोपित करने से आत्मनिग्रह करता है (यहाँ तक कि इन निर्णयों में सामान्य मत के पर्याप्त ऐकमत्य के सतत वास्तविक प्रचलन के होते हुए भी) चिन्तन-रुचि जो अनुभव रूप में शिक्षा देती है अपने (सुन्दर के) निर्णय की सार्वभौम मान्यता के प्रति अपने भावों के अनगढ़ उत्सर्जन को सहन कर जाने की पर्याप्त शक्ति रखती है वह (जैसा कि वस्तुतः करती है) उस सब के लिए ऐसे निर्णयों को सूत्रबद्ध करना सम्भव पाती है जो उसकी सार्वभौमता में इस मतैक्य की माँग करने में समर्थ हों। इस प्रकार का मतैक्य—जिसे वह वस्तुतः अपने रुचि-निर्णयों में से प्रत्येक के सम्बन्ध मे प्रत्येक व्यक्ति से चाहता है—ऐसे लोगों से चाहता है जो इन निर्णयों को ऐसे किसी दावे की सम्भावना के ऊपर झगड़ करके नहीं बल्कि इस मनःशक्ति के ठीक प्रयोग के सम्बन्ध में सहमत होने में असफल रहकर प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ सर्वप्रथम हमें इस बात पर ध्यान देना है कि कोई ऐसी सार्वभौमता जो वस्तु की संकल्पनाओं (यहाँ तक कि चाहे वे मात्र अनुभविक ही क्यों न हों।) पर निर्भर नहीं करती, किसी भी प्रकार तर्कमूलक न होकर केवल सौंदर्यमूलक होती है अर्थात् वह निर्णय की किसी वस्तुनिष्ठ मात्रा को द्योतित न करके मात्र उस मात्रा को द्योतित करती है जो व्यक्तिनिष्ठ है। इस सार्वभौमता के लिए मैं "सामान्य-मान्यता" की शब्दावली का प्रयोग करता हूँ जो कि संज्ञानात्मक मनःशक्तियों के साथ नहीं अपितु प्रत्येक व्यक्ति (Subject) के लिए आनन्द और विषाद की अनुभूति के साथ किसी प्रतिरूपण के सन्दर्भ की मान्यता को निर्दिष्ट करती है। (ठीक यही शब्दावली निर्णय की तर्कमूलक मात्रा के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है बशर्ते इसे मात्र व्यक्तिनिष्ठ मान्यता से, जो सदैव सौन्दर्यपरक होती है, पृथक् करने के लिए हम उसमें वस्तुनिष्ठ मान्यता को जोड़ दें।)

अब एक ऐसा निर्णय जो वस्तुनिष्ठ सार्वभौम मान्यता से सम्पन्न होता है उसके पास सदैव व्यक्तिनिष्ठ मान्यता भी होती है अर्थात् यदि निर्णय उस प्रत्येक वस्तु के लिये मान्य है जो एक विशेष संकल्पना में समाविष्ट होती है तो वह उन सब के लिए भी मान्य है जो इस संकल्पना के द्वारा किसी वस्तु को प्रतिरूपित करती है। किन्तु किसी व्यक्तिनिष्ठ सार्वभौम अर्थात् सौन्दर्यमूलक मान्यता से जो किसी संकल्पना पर आधारित नहीं होती, तर्कमूलक मान्यता का कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि उस प्रकार के निर्णय वस्तु (object) से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। किन्तु यह देखते हुए कि अपने सम्पूर्ण तर्कगत क्षेत्र में गृहीत यह वस्तु की संकल्पना के सौन्दर्य-विधेय में सम्मिलित नहीं होता और फिर भी यह अनिवार्य रूप से निर्णेता व्यक्तियों के इस विधेय का प्रसार करता है, एकमात्र इसी कारण किसी निर्णय को प्रदान की जाने वाली सौन्दर्यमूलक सार्वभौमता की भी एक विशेष प्रकार का होना चाहिए

सारे रुचि-निर्णय अपने तर्कमूलक परिमाण में एकनिष्ठ निर्णय होते हैं। चूँकि मुझे वस्तु (object) को अव्यवहित रूप से अपनी आनन्द अथवा विषाद की अनुभूति के प्रति प्रस्तुत करना चाहिए और वह भी बिना संकल्पनाओं की सहायता के अतः ऐसे निर्णयों के पास वस्तुनिष्ठ सामान्य मान्यता के साथ निर्णयों के परिमाण नहीं हो सकते। तथापि रुचि-निर्णय की वस्तु (object) के एकनिष्ठ प्रतिरूपण को लेकर और तुलना द्वारा उस निर्णय का निर्धारण करनेवाली उपाधियों (Conditions) के अनुसार उसे एक संकल्पना में रूपान्तरित करके हम एक तर्कतः सार्वभौम निर्णय पर पहुँच सकते हैं। उदाहरणार्थ, रुचि निर्णय द्वारा मैं उस गुलाब का वर्णन करता हूँ जिसे मैं एक सुन्दर गुलाब से रूप में देख रहा हूँ। दूसरी ओर है अनेक एकनिष्ठ प्रतिरूपों की तुलना से उत्पन्न होने वाला निर्णय : गुलाब सामान्यतः सुन्दर होते हैं, जो सर्वथा विशुद्ध सौन्दर्यपरक निर्णय की संज्ञा से अभिघोषित न किया जाकर एक ऐसे तर्कमूलक निर्णय के रूप में व्याहृत किया जाता है जो सौन्दर्यपरक है। अब, गुलाब (सूँघने के लिए) अनुकूलवेदनीय है यह निर्णय भी निस्सन्देह एक सौन्दर्यपरक एवं एकनिष्ठ निर्णय है किन्तु साथ ही यह रुचि-निर्णय न होकर इन्द्रिय-निर्णय है। क्योंकि रुचि-निर्णय के साथ इसके मतभेद का विषय यह है कि परवर्ती सार्वभौमता का, अर्थात् प्रत्येक जनगत मान्यता का एक सौन्दर्यपरक परिमाण ध्वनित करता है जो कि अनुकूलवेदनीय के किसी भी निर्णय में अनुभूत नहीं किया जा सकता। यह केवल श्रेयस् के निर्णय हैं जो किसी वस्तु-जन्य आनन्द का निर्धारण करते हुए भी निरा सौन्दर्यपरक सार्वभौमता को अधिकृत न करके तर्कमूलक सार्वभौमता को अधिकृत करते हैं; क्योंकि वस्तु के किसी संज्ञान को द्योतित करने के कारण वे उसके लिए मान्य हैं और इसीलिए प्रत्येक के लिए मान्य हैं।

मात्र संकल्पनाओं से वस्तुओं का आकलन करने में सौन्दर्य का सारा प्रतिरूपण लड़खड़ा पड़ता है। अतएव ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता जिसके अनुसार कोई किसी वस्तु को सुन्दर मानने के लिए बाध्य हो। क्या कोई परिधान भवन अथवा पुष्प सुन्दर है, यह एक ऐसा तथ्य है जिसके सम्बन्ध में व्यक्ति अपने निर्णय के किन्हीं तर्कों अथवा सिद्धान्तो से विचलित होने से इन्कार कर देता है। हम अपनी ही आँखों द्वारा वस्तु (Object) को देखना चाहते हैं जैसे मानों हमारा आनन्द सम्वेदन (Sensation) पर निर्भर कर रहा हो। और फिर भी यदि ऐसा करने पर हम वस्तु को सुन्दर कहते हैं तो हम स्वयं अपने प्रति यह विश्वास करते हैं कि हम सार्वभौम स्वर में बोल रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति का सहमति का दावा करते है जबकि मात्र निरीक्षक और उसकी रुचि के अलावा और कोई भी व्यक्तिगत संवेदन निर्णायक नहीं होगा

अब यहाँ हम यह प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि उस आनन्द के सम्बन्ध में जो संकल्पनाओं द्वारा व्यवहित नहीं होता, रुचि-निर्णय में ऐसे सार्वभौम स्वर के अतिरिक्त और कुछ भी आधारतत्व के रूप में गृहीत नहीं है : परिणामतः सौन्दर्य-निर्णय की केवल सम्भावना ही आधारतत्त्व के रूप में गृहीत होती है जो कि साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य मानी जाने योग्य होती है। रुचि-निर्णय स्वयं प्रत्येक व्यक्ति की सहमति (Agreement) को आधारतत्व नहीं बनाता (क्योंकि यह करना केवल किसी न्यायतः सार्वभौम निर्णय की ही शक्ति के अन्तर्गत है, उसमें यह तर्क प्रस्तुत करने में समर्थ है) यह इस सहमति को उस नियम के दृष्टान्त रूप में प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर केवल आरोपित करता है जिसके सम्बन्ध में वह संकल्पनाओं से नहीं अपितु दूसरों की सहमति से पुष्टीकरण की आशा करता है। अतएव सार्वभौम स्वर केवल एक प्रत्यय (Idea) है जो ऐसी आधारभूमियों पर स्थित है जिनकी गन्वेषणा यहाँ स्थगित की जाती है। यह एक अनिश्चितता का विषय हो सकता है कि कोई व्यक्ति जो यह सोचता है कि वह रुचि-निर्णय का विधान कर रहा है क्या वह वस्तुतः उस प्रत्यय (Idea) के अनुसार निर्णय कर रहा है; किन्तु यह प्रत्यय (Idea) वही है जो कुछ उसके निर्णय में भावित होता है और परिणामतः यह रुचि-निर्णय होने के लिए अभिप्रेत है यह तथ्य 'सौन्दर्य' की शब्दावली के इस प्रयोग से प्रतिष्ठित हो जाता है। अनुकूलवेदनीय और श्रेयस् से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु का तज्जन्य आनन्द के विश्लेष की मात्र चेतना द्वारा ही वह स्वय अपने लिए इस तथ्य के सम्बन्ध में असंदिग्ध हो सकता है; और यही वह सब कुछ है जिसके हेतु वह स्वयं प्रत्येक व्यक्ति की सहमति या मतैक्य का वादा करता है। यह एक ऐसा दावा है जिसे इन उपाधियों के अन्तर्गत करने में वह भी समाश्वस्त या वैध होगा बशर्तें बात ऐसी न हो कि उसने बहुशः उनके विरुद्ध व्यवहार किया हो और इस प्रकार एक भ्रामक रुचि-निर्णय को प्रस्तुत किया हो।

आनन्दानुभूति के रुचि-निर्णय और वस्तु (object) के आकलन में सापेक्ष प्राथमिकता के प्रश्न की गवेषणा।

इस प्रश्न का समाधान रुचि-निर्णय की कुञ्जी है और इसीलिए सबके लिए ध्येय है। यदि किसी निर्दिष्ट वस्तु से उत्पन्न होने वाला आनन्द पूर्वगत (Antecedent) हो और यदि इस आनन्द की सार्वभौम प्रेषणीयता, मात्र वही सब हो जिसे रुचि-निर्णय वस्तु (object) के प्रतिरूपण को प्रदान करने के लिए उद्दिष्ट है तो इस प्रकार का अनुक्रम (Sequence) आत्म-विरोधी (Self Contradictory) होगा। क्योंकि इस प्रकार का आनन्द इन्द्रियों के लिये निरी अनुकूलवेदनीयता की अनुभूति के और कुछ भी न होगा और इसी लिए अपनी

प्रकृति से ही, यह देखते हुए कि वह अव्यवहित रूप से उस प्रतिरूपण पर निर्भर होगा जिसके द्वारा वस्तु को उपस्थापित किया जाता है, वह व्यक्तिगत मान्यता के अलावा और कोई भी मान्यता नहीं रखेगा।

अतः किसी प्रतिरूप विशेष (in a given represenation) में यह घटना की मानसिक अवस्था के प्रति सम्प्रेषित होने की सार्वभौम क्षमता ही है जिसे रुचि-निर्णय की व्यक्तिनिष्ठ उपाधि (Subjective condition) के रूप में, वस्तु से उसके परिणाम रूप में जनित होने वाले आनन्द के साथ ही अवश्य प्रधान होना चाहिये। संज्ञान और प्रतिरूपण के अलावा जहाँ तक कि वे संज्ञान अनुषंगी हैं, और कोई भी वस्तु सार्वभौमतः सम्प्रेषित होने योग्य नहीं है। क्योंकि इस प्रकार केवल आनुषांगिक रूप में ही प्रतिरूपण वस्तुनिष्ठ होता है और मात्र यही वह तत्व है जो इसे एक ऐसा सार्वभौम सन्दर्भ बिन्दु प्रदान करता है जिसके साथ प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिरूपण की शक्ति संगत होने के लिए बाध्य है फिर भी यदि प्रतिरूपण की इन सार्वभौम सम्प्रेषणीयता सम्बन्धी निर्णय की निर्धारिणी आधारभूमि मात्र व्यक्तिनिष्ठ है अर्थात् वस्तु (Object) की किसी भी संकल्पना से निरपेक्ष रूप में चिन्त्य है तो यह उस मानसिक अवस्था के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती जो स्वयं अपने को प्रतिरूपण की शक्तियों के अन्योन्य सम्बन्ध में उस हद तक उपस्थित करती है जिस हद तक कि वे एक प्रतिरूप विशेष का सामान्य रूप में संज्ञान सन्दर्भ निर्देश करती हैं।

इस प्रतिरूपण द्वारा क्रियान्वित संज्ञानात्मक शक्तियाँ यहाँ एक स्वतन्त्र व्यापार मे संलग्न हैं क्योंकि कोई भी मिश्रित संकल्पना उन्हें संज्ञान के किसी विशेष नियम तक सीमित नहीं करती। अतएव इस प्रतिरूपण मे निहित मानसिक अवस्था सामान्यतः संज्ञान के लिए एक प्रतिरूप विशेष में प्रतिरूपण की शक्तियों के स्वच्छन्द व्यापार की अनुभूति की होती है। अब एक ऐसा प्रतिरूप जिसके द्वारा कोई वस्तु निर्दिष्ट (given) होती है एतदर्थ कि वह संज्ञान का एक स्रोत बन सके, बहुविधि स्वानुभूति को एकीभूत करने के लिए कल्पना को, प्रतिरूपों को एकान्वित करने वाली संकल्पना की एकता के लिए बुद्धि को द्योतित करता है। एक ऐसे प्रतिरूपण का साथ देने वाली, जिसके द्वारा कोई वस्तु निर्दिष्ट (given) की जाती है, संज्ञानात्मक मनः शक्ति के स्वच्छन्द व्यापार की यह अवस्था सार्वभौम को अवश्य स्वीकार करती है ; क्योंकि संज्ञान उस वस्तु की परिभाषा के रूप में, जिसके साथ प्रतिरूप विशेष (किसी भी व्यक्ति के अन्दर) संगत होने को है, वह एकमात्र प्रतिरूपण है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य है।'

चूँकि किसी रुचि निर्णय में प्रतिरूपण की रीति की व्यक्तिनिष्ठ सार्वभौम किसी भी निश्चित की पूर्वकल्पना के बिना अपना अस्तित्व

बनाए रख सकती है अतः यह कल्पना और बुद्धि (जिस हद तक कि ये पारस्परिक सामञ्जस्य की स्थिति में होती हैं जैसा कि संज्ञान के लिए सामान्यतः वाञ्छित है) के स्वच्छन्द व्यापार में विद्यमान रहने वाली मानसिक अवस्था के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती : क्योंकि हम इस बात के प्रति सतर्क हैं कि सामान्यतः एक संज्ञान के लिये उपयुक्त इस व्यक्तिनिष्ठ सम्बन्ध को प्रत्येक व्यक्ति के लिए इतना मान्य और परिणामतः सार्वभौमरूपेण इतना सम्प्रेषणीय होना चाहिए जितना कि कोई इस प्रकार से निर्धारित संज्ञान होता है जो अपनी व्यक्तिनिष्ठ उपाधि के रूप में सदैव उस सम्बन्ध पर निर्भर करता है।

अब वस्तु अथवा उस प्रतिरूपण का जिसके द्वारा इसको (वस्तु को) निर्दिष्ट किया जाता है, यह विशुद्धतः व्यक्तिनिष्ठ (सौन्दर्यपरक) मूल्यांकन तज्जन्य आनन्द का पूर्वपद (Antecedent) होता है और संज्ञानात्मक मनः शक्तियों के सामञ्जस्य में इस आनन्द का आधार है। पुनः वस्तुओं का आकलन करने वाली व्यक्तिनिष्ठ उपाधियों की उपर्युक्त सार्वभौमता उस आनन्द की इस सार्वभौम व्यक्तिनिष्ठ मान्यता की सर्वथा मूलभूत आधारभूमि का निर्माण करती है जिसे हम उस वस्तु के प्रतिरूपण से सम्बद्ध करते हैं जिसे हम सुन्दर कहते हैं।

अपनी मानसिक अवस्था को, चाहे वह केवल हमारी संज्ञानात्मक शक्तियो के सम्बन्ध में ही हो, सम्प्रेषित करने की योग्यता, एक आनन्द विशेष द्वारा अनुगत होती है, यह एक ऐसा तथ्य है जो सामाजिक जीवन के प्रति मानव जाति की नैसर्गिक प्रवृत्ति द्वारा अर्थात् अनुभवमूलक और मनोवैज्ञानिक रीति से प्रतिपादित किया जा सकता है। किन्तु यहाँ जो वस्तु हमारी दृष्टि में है वह इससे अधिक किसी वस्तु की माँग करती है। रुचि-निर्णयान्तर्गत हमारे द्वारा अनुभूत होने वाले आनन्द के प्रति प्रत्येक अन्य व्यक्ति द्वारा भी अनिवार्य होने का आग्रह किया जाता है जैसे मानो जिस समय हम किसी वस्तु को सुन्दर कहते हैं उस समय सौन्दर्य उस वस्तु के गुण रूप में ग्राह्य हो जो संकल्पनाओं के अनुसार उसके अन्तर्गत निर्धारण का एक अंग है; यद्यपि सौन्दर्य स्वयं अपनी ओर से व्यक्ति की अनुभूति के किसी भी सन्दर्भ से स्वतन्त्र रूप में, कुछ भी नहीं है। किन्तु इस प्रश्न की चर्चा उस समय तक भविष्य के लिए सुरक्षित रहनी चाहिए जब तक कि हम आगे के इस प्रश्न का समाधान न कर लें कि क्या और कैसे सौन्दर्य-निर्णय अनुभव-निरपेक्ष या प्रागनुभव (apriori) हैं।

सम्प्रति हम उस ढंग के अपेक्षाकृत अधिक छोटे प्रश्न के सम्बन्ध में व्यस्त हैं जिस ढंग से हम किसी रुचि-निर्णय के अन्तर्गत संज्ञान की शक्तियों के किसी परस्पर व्यक्तिनिष्ठ सामान्य सामञ्जस्य (------ n accord) के सम्बन्ध में सतर्क

होते हैं। क्या सौन्दर्यमूलक दृष्टि से ऐसा संवेदन (Sensation) के कारण है अथवा केवल हमारे आन्तर-बोध (Internal Sense) के कारण ? अथवा बौद्धिक दृष्टि से यह इन शक्तियों को सक्रिय बनाने की प्रक्रिया में हमारे उद्देश्यमूलक व्यापार की चेतना के कारण ?

अब यदि प्रतिरूपण विशेष रुचि-निर्णय को घटित करने वाली एक ऐसी संकल्पना हो जो वस्तु का कोई संज्ञान प्रस्तुत करने के लिए वस्तु के प्राक्कलन की प्रक्रिया में बुद्धि और कल्पना को एकान्वित करे तो इस सम्बन्ध की चेतना बौद्धिक होगी (जैसा कि निर्णय की वस्तुनिष्ठ आयोजना में 'मीमांसा' में विवेचित किया गया है) किन्तु फिर उस स्थिति में निर्णय की स्थापना आनन्द और विषाद के सम्बन्ध में नहीं होगी और इसलिए वह रुचि-निर्णय नहीं होगा। किन्तु अब रुचि-निर्णय, आनन्द और सौन्दर्य विधेय के सम्बन्ध में, वस्तु का निर्धारण संकल्पनाओं से स्वतन्त्र रूप में करता है। अतः विवादास्पद सम्बन्ध की व्यक्तिनिष्ठ एकता के पास अपने को स्पष्ट करने के लिए इन्द्रिय-सम्वेदन के अलावा और कोई ढंग नहीं है। दोनों मनःशक्तियों (कल्पना और बुद्धि) के एक अनिश्चित किन्तु, फिर भी प्रतिरूपण विशेष को धन्यवाद है, ऐसे सामाञ्जस्यपूर्ण व्यापार के प्रति जो कि प्रायः संज्ञान से ही सम्बन्ध रखता है, स्फुरण संवेदन है जिसकी सार्वभौम सम्प्रेषणीयता रुचि-निर्णय द्वारा आधारतत्व रूप में स्थापित होती है। एक वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध निस्सन्देह, फिर भी केवल वहीं तक सोचा जा सकता है जहाँ तक कि अपनी परिस्थतियों के सम्बन्ध में वह व्यक्तिनिष्ठ है, वह मन में अपने प्रभाव के रूप में अनुभव किया जा सकता है और एक ऐसे सम्बन्ध की अवस्था में (प्रायः संज्ञान की किसी मनःशक्ति के प्रति प्रतिरूपण की शक्तियों की भाँति) जो किसी संकल्पना पर निर्भर नहीं करता, संवेदन द्वारा मन पर पड़ने वाले इसके प्रभाव की चेतना के बाहर इसकी और कोई चेतना सम्भव नहीं है—एक ऐसा प्रभाव जो अपने अन्योन्य-सामञ्जस्य द्वारा स्फूर्त दोनों मनः शक्तियों (कल्पना और बुद्धि) के अपेक्षाकृत अधिक सुकर व्यापार में निहित है। वह प्रतिरूपण जो अन्य प्रतिरूपणों (Representations) की तुलना से एकनिष्ठ और निरपेक्ष है और जो ऐसा होते हुए भी सार्वभौमता की उपाधियों के साथ, जो कि बुद्धि की सामान्य चिन्ता का विषय है, मिलता-जुलता है जो संज्ञानात्मक मनः शक्तियों को उस सापेक्ष सामञ्जस्य (proportionate accord) में लाता है जिसकी हमें समस्त संज्ञान के लिए अपेक्षा होती है और अतएव जिसे हम उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य (Valid) समझते है जो इस प्रकार संघटित है कि वह संयुक्त रूप से बुद्धि और इन्द्रिय द्वारा निर्णय कर सकता है (अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिए)।

द्वितीय परिच्छेद से व्युत्पादित सुन्दरम् की परिभाषा।

सुन्दरम् वह है जो किसी भी संकल्पना से स्वतन्त्र, सार्वभौम रूप से आह्लादित करता है।

रुचि-निर्णयों का तृतीय परिच्छेद

ऐसे निर्णयों में पर्यालोचित उद्देश्यों के सम्बन्ध का परिच्छेद

चरमता सामान्य रूप में

आइये हम उद्देश्य (end) के अर्थ की परिभाषा अनुभवातीत पदों (Transcendental Terms) में करें (अर्थात् बिना किसी अनुभवमूलक पद, जैसे आनन्द की अनुभूति, की पूर्वकल्पना किये)। उद्देश्य (end) जहाँ तक कि वह वस्तु का कारण (उसकी सम्भावना की यथार्थ आधारभूमि) समझा जाता है, किसी संकल्पना का विषय है; और अपने 'विषय' (object) के सम्बन्ध में किसी संकल्पना की कारणता (Causality), चरमता (Forma finalies) है। तो जहाँ किसी वस्तु का मात्र संज्ञान ही नहीं अपितु एक प्रभाव के रूप में केवल उसकी किसी संकल्पना द्वारा स्वयं वस्तु ही (उसका रूप या यथार्थ अस्तित्व) सम्भव समझ ली जाता है वहाँ हम किसी उद्देश्य की कल्पना करते हैं। यहाँ प्रभाव का प्रतिरूपण (representation) उसके कारण (Cause) की निर्धारिणी आधारभूमि है और उसका नेतृत्व करता है। व्यक्ति की उस अवस्था के सम्बन्ध में, जो एक ऐसी अवस्था है कि उस अवस्था के सातत्य को बनाए रखने की दिशा में प्रवृत होती है, किसी प्रतिरूपण की कारणता (Causality) यहाँ सामान्यतः उस वस्तु को निर्दिष्ट करने वाली कही जाती है जिसे आनन्द (Pleasure) कहते हैं; जब कि विषाद (displeasure) वह प्रतिरूपण है जो प्रतिरूपों (Representations) की अवस्था को उनकी विपरीतावस्था में (उन्हें बाधित अथवा अपसृष्ट करने के लिए) रूपान्तरित कर देने वाली आधारभूमि को अन्तर्धारण करती है।

इच्छा मनःशक्ति (Faculty of desire), जहाँ तक कि वह मात्र संकल्पनाओं द्वारा ही निर्धार्य है अर्थात् इसलिए जिससे कि वह किसी उद्देश्य (End) के अनुसार कार्य कर सके, वहाँ तक वह संकल्पशक्ति (Will) होगी। किन्तु कोई वस्तु या मनःस्थिति (State of mind) अथवा यहाँ तक कि कोई कर्म (Action) यद्यपि इसकी सम्भावना अनिवार्यतः किसी उद्देश्य के प्रतिरूपण की पूर्वकल्पना नहीं करती, मात्र अपनी इस सम्भावना के कारण चरम (Final) कहा जा सकता है कि उद्देश्यों अर्थात् संकल्पशक्ति के अनुसार हमारी ओर से एक मूलभूत कारणता (Fundame tal causality) की कल्पना के कारण इसकी

के केवल व्याख्य और बुद्धिग्राह्य होने के कारण, जिसने इसे एक विशेष प्रतिरूपित नियम (Represented rule) के अनुसार इस प्रकार से विहित किया होता। अतएव चरमता वहीं तक किसी उद्देश्य से पृथक् अपना अस्तित्व रख सकती है जहाँ तक कि हम इस रूप के कारणों को किसी संकल्पशक्ति (Will) में स्थानबद्ध नहीं करते किन्तु फिर भी इसकी सम्भावना की व्याख्या को किसी सकल्पशक्ति से व्युत्पादित करके ही अपने लिए बोधगम्य बनाने में समर्थ होते हैं। अब जिस किसी वस्तु की हम छानबीन करते हैं उसे सदैव तर्कबुद्धि की दृष्टि से देखने (अर्थात् उसे उसकी सम्भावना में समझने) के लिए बाध्य नहीं होते। अस्तु हम कम से कम रूप की किसी चरमता (Finality of form) का निरीक्षण कर सकते और उसे वस्तुओं में ढूँढ़ सकते हैं—यद्यपि ऐसा हम किसी उद्देश्य (चरमता के सम्बन्ध के उपादान रूप) का आश्रय लिए बिना केवल चिन्तन द्वारा ही कर सकते हैं।

रुचि-निर्णय की एकमात्र नींव वस्तु की चरमता का रूप (अथवा उसके प्रतिरूपण की रीति) है।

जब कभी किसी उद्देश्य (End) को आनन्द (Delight) का एक स्रोत माना जाता है तो वह सदैव आनन्द वस्तु (Object of pleasure) पर विहित निर्णय की निर्धारिणी आधारभूमि रूप किसी कामना (Interest) को उपलक्षित करता है। अतएव रुचि-निर्णय अपनी आधारभूमि के रूप में किसी व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्य पर निर्भर नहीं कर सकता। किन्तु न तो किसी वस्तुनिष्ठ उद्देश्य का अर्थात् चरम सम्बन्ध (Final relation) के नियमों के आधारपर स्वयं वस्तु की सम्भावना का प्रतिरूपण ही रुचि-निर्णय का निर्धारण कर सकता है और परिणामतः न श्रेयस् की कोई संकल्पना (Concept) ही। क्योंकि रुचि-निर्णय सौन्दर्यमूलक निर्णय है वह संज्ञानात्मक निर्णय नहीं है और इसीलिए वह व्यक्ति (Subject) के किसी न किसी कारण द्वारा प्रकृति अथवा आन्तर या बाह्य की किसी संकल्पना का निरूपण न करके जहाँ तक कि वह किसी सकल्पना द्वारा निर्धारित होता है वहाँ तक वह प्रतिरूपक शक्तियों के सम्बन्ध का निरूपण करता है।

अब जिस समय किसी वस्तु को सुन्दर के रूप में विशेषित किया जाता है उस समय प्रस्तुतः यह सम्बन्ध आनन्दानुभूति से युक्त होता है। यह आनन्द रुचि-निर्णय द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य घोषित किया जाता है, अतः प्रतिरूपण की अनुषंगिनी कोई अनुकूलवेदनीयता निर्णय की आधारभूमि को अन्तर्धारण करने मे उतनी ही अक्षम है जितना कि वस्तु की पूर्णता का प्रतिरूपण अथवा श्रेयस् की संकल्पना इस प्रकार हम, किसी उद्देश्य (वस्तुनिष्ठ अथवा व्यक्तिनिष्ठ) को छोड़कर किसी वस्तु की (Svbjective finality)

के, परिणामतः उस प्रतिरूपण की जिसके द्वारा कोई वस्तु हमें प्रदान की जाती है जहाँ तक कि हम उस वस्तु के रूप में, उसके सम्बन्ध में जागरूक होते हैं जो ही एकमात्र उस आनन्द का संघटन करने में समर्थ है, जिसे किसी भी संकल्पना से स्वतन्त्र हम सार्वभौमतः सम्प्रेषणीय अतएव, रुचि-निर्णय की निर्धारिणी आधार भूमि का निर्माण करने में समर्थ समझते हैं, चरमता (Finality), के नग्न रूप के साथ छूट जाते हैं।

रुचि-निर्णय प्रागनुभव आधारभूमियों पर निर्भर करता है।

अनुभव-निरपेक्ष ढंग से एक कार्य (effect) रूप आनन्द और विषाद की अनुभूति का सम्बन्ध उसके कारण रूप किसी न किसी प्रतिरूपण (सम्वेदन अथवा संकल्पना) के साथ निर्धारित करना सर्वथा असम्भव है क्योंकि वह एक ऐसा कारण-सम्बन्ध होगा जो (अनुभव की वस्तुओं के साथ) सदैव ऐसा होता है कि जिसे केवल अनुभव-सापेक्ष रूप से ही और अनुभव की सहायता से ही समझा जा सकता है। यह सत्य है कि 'व्यावहारिक तर्कबुद्धि की मीमांसा' (Critique of practical reason) में अवश्य हमने सार्वभौम नैतिक संकल्पनाओं से वस्तुतः प्रागनुभविक रूप से समादर-भावना को व्युत्पादित किया (इस भावना के जो कि यथार्थ में न तो उस आनन्द की संवादिनी है और न उस विषाद की जिसे हम आनुभविक वस्तुओं से प्राप्त करते हैं, एक विशेष एवं विलक्षण विकार के रूप में) किन्तु वहाँ हम इससे आगे भी अनुभव के सीमान्त का अतिक्रमण करने और सहायतार्थ एक ऐसी कारणता (Causality) का आह्वान करने में समर्थ थे जो व्यक्ति (Subject) के एक अतीन्द्रिय धर्म (Supersensible attribute) पर निर्भर करती है अर्थात् स्वातन्त्र्य की (कारणता का) किन्तु यहाँ तक कि वहाँ भी वह ठीक यही भावना (Feeling) नहीं थी जिसे हमने नैतिक कारण (Moral as cause) के प्रत्यय (Idea) से व्युत्पादित किया बल्कि इससे तो केवल संकल्पशक्ति (Will) का निर्धारण ही व्युत्पादित किया गया था। किन्तु संकल्पशक्ति के निर्धारण में विद्यमान मानसिक अवस्था (Mental state) किसी न किसी प्रकार तत्काल स्वयं अपने में ही एक आनन्दानुभूति है और उसके साथ तद्रूप है और इसलिए वह उससे किसी कार्य के रूप में उद्भूत नहीं होती। इस प्रकार का कोई कार्य (effect) केवल वहीं कल्पित किया जाना चाहिए जहाँ कि नैतिक श्रेयस् (Moral as good) की संकल्पना नियम द्वारा संकल्पशक्ति के निर्धारण का पुरस्सरण करती है; क्योंकि उस स्थिति में मात्र संज्ञान रूप इस संकल्पना से संकल्पना-सम्बद्ध आनन्द को व्युत्पादित करना व्यर्थ होगा।

अब सौन्दर्य-निर्णयगत आनन्द (Pleasure in aesthetic judgments) एक समान पर खड़ा होता है बात केवल इतनी ही है कि यहाँ वह मात्र

भावनात्मक (Contemplative) होता है और वस्तु के सम्बन्ध में किसी कामना (Interest) को घटित नहीं करता; जब कि नैतिक-निर्णय में वह व्यावहारिक होता है। एक ऐसे प्रतिरूपण की अनुगामिनी जिसके द्वारा कोई वस्तु निर्दिष्ट की जाती है, व्यक्ति की संज्ञानात्मक मनःशक्तियों के व्यापार (Play) में, निरी रूपात्मक चरमता (Mere formal finality) की चेतना स्वयं आनन्द ही है क्योंकि यह व्यक्ति की संज्ञानशक्तियों के स्फुरण (Quickening) के सम्बन्ध में उसके कार्य-व्यापार (Activity) को निर्धारिणी आधारभूमि को और इस प्रकार सामान्यतः संज्ञान के सम्बन्ध में एक आन्तारिक कारणता को (जो कि चरम है) किन्तु बिना किसी मिश्रित संज्ञान तक सीमित हुए और परिणामतः किसी सौन्दर्य-निर्णयगत प्रतिरूपण की व्यक्तिनिष्ठ चरमता के निरे रूप को द्योतित करती है। यह आनन्द किसी भी प्रकार व्यावहारिक भी नहीं है न तो यह उस आनन्द के साथ कोई सादृश्य ही रखता है जो अनुकूलवेदनीयता के कायिकीय आधार से उत्पन्न होता है और न उसी आनन्द के साथ ही जो प्रतिरूपित श्रेयस् के आधार पर उत्पन्न होता है। किन्तु फिर भी यह स्वयं प्रतिरूपण की अवस्था की सातत्य रक्षा नामक अन्तर्जात कारणता और बिना सुदूर लक्ष्यवाली संज्ञानशक्तियों की सक्रिय विनियुक्ति को द्योतित करता है। हम सुन्दरम् के भावन (Contemplation) का सविस्तार निरूपण करते हैं क्योंकि यह भावन स्वयं अपने को सशक्त बनाता और प्रतिसृष्ट करता है। यह स्थिति उस रीति के अनुरूप है (किन्तु केवल अनुरूप ही) जिस रीति से हम किसी ऐसी वस्तु के प्रतिरूपणगत चमत्कार में अटके रह जाते हैं जो ध्यान को निगृहीत किए रहती है, मन इस बीच सतत निष्क्रिय बना रहता है।

विशुद्ध रुचि-निर्णय, चमत्कार और भाव (Emotion) निरपेक्ष हैं

प्रत्येक कामना (Interest) रुचि-निर्णय को विकृत कर देती और उसकी निष्पक्षता (Impartiality) का अपहरण कर लेती है। ऐसा विशेषतः वहाँ होता है जहाँ वह तर्कबुद्धि की कामना की भाँति चरमता (Finality) का विधान करने के बजाय उस आनन्दानुभूति का नेतृत्व करती है जिसे वह इस अनुभूति पर आधारित करती है जो कि ठीक वही चीज है जो किसी भी वस्तु पर, जहाँ तक कि वह तृप्त अथवा पीड़ित करती है, विहित निर्णयों के अन्तर्गत सदैव घटित होती है। अस्तु इस प्रकार से प्रभावित निर्णय या तो सार्वभौमतः मान्य आनन्द का सर्वथा दावा ही नहीं कर सकते या उस अनुपात में वे अपने दावे को क्षीण कर देते हैं जिस अनुपात में कि विवादास्पद संवेदनों का प्रकार रुचि की निर्धारिणी आधारभूमियों में प्रवेश करता है। वह रुचि जो अपने आनन्द के लिए, इसे अपनी अभिमति की माप के रूप में ग्रहण करने के लिए नहीं ‹ (Charm) और भाव (Emotion) के किसी

प्रक्षिप्त तत्त्व (Added element) की अपेक्षा रखती है, अब भी बर्बरता से ऊपर नहीं उठ सकी है। और फिर भी सौन्दर्य (जिसे औचित्यपूर्ण ढंग से मात्र रूप का प्रश्न होना चाहिए) के साथ सौन्दर्यमूलक सार्वभौम आनन्द के सम्पूरक रूप में चमत्कार केवल प्रतिष्ठित ही नहीं किए जाते अपितु वे सहज आभ्यन्तर सौन्दर्य भी माने जाते हैं और परिणामतः आनन्दोपादान (Matter of delight) को क्रमशः अपक्षिप्त करके रूप के लिए विलीन कर दिया गया है। यह एक ऐसी भ्रान्त धारणा है जो उन अन्य अनेक भ्रान्त धारणाओं की भाँति इन संकल्पनाओं की सतर्क परिभाषा द्वारा दूर की जा सकती है जिनके पास अब भी सत्यता का कोई एक अन्तर्निहित तत्त्व (Underlying element) है।

एक ऐसा रुचि-निर्णय जो चमत्कार अथवा भाव (यद्यपि ये सौन्दर्यजन्य आनन्द के साथ सम्बद्ध हो सकते हैं) से अप्रभावित है अतएव जिसकी निर्धारिणी आधारभूमि केवल रूपचरमता (Finality of form) है, वह विशुद्ध, रुचि-निर्णय है।

दृष्टान्त-समर्थन

सैद्धान्तिक (तर्कमूलक) निर्णयों की भाँति सौन्दर्यपरक निर्णय, अनुभवमूलक और विशुद्ध निर्णयों में विभाज्य हैं। प्रथम वे हैं जिनके द्वारा किसी वस्तु की अथवा उसके प्रतिरूपण की रीति, अनुकूलवेदनीयता अथवा प्रतिकूलवेदनीयता को विहित किया जाता है और द्वितीय वे हैं जिनके द्वारा सौन्दर्य को। पूर्ववर्ती इन्द्रियबोध-निर्णय (वास्तव सौन्दर्य-निर्णय) हैं, परवर्ती ही एकमात्र (रूपात्मक) समीचीन रुचि-निर्णय हैं।

अतएव कोई रुचि-निर्णय केवल वहीं तक विशुद्ध होता है जहाँ तक कि उसकी निर्धारिणी आधारभूमि किसी भी निरे अनुभवमूलक आनन्द से रंजित नहीं है किन्तु जहाँ चमत्कार अथवा भाव उस निर्णय में कोई भाग लेते हैं जिसके द्वारा कोई वस्तु सुन्दर वर्णित की जाती है वहाँ इस प्रकार की रंजना सतत विद्यमान रहती है।

अब यहाँ ऐसी अनेक आपाततः सत्याभासी दलीलों का पुनस्संक्रमण होता है जो इस स्थिति को ले जाकर इस पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है कि चमत्कार न केवल सौन्दर्य का एक अंग है, अपितु यहाँ तक कि वह स्वयं सुन्दर की संज्ञा को ग्रहण करने योग्य है। मात्र कोई वर्ण, जैसे किसी घास के मैदान का हरिद्वर्ण अथवा मात्र कोई स्वर (ध्वनि अथवा कोलाहल से भिन्न) जैसे वीणा (Violin) का स्वर, इस बात के बावजूद अधिकांश लोगों द्वारा सुन्दर वर्णित किए जाते हैं कि दोनों ही केवल प्रतिरूपों की वस्तु पर, दूसरे शब्दों में मात्र संवेदन पर आश्रित होने वाले प्रतीत होते हैं जो उन्हें केवल कहलाने योग्य बनाता

है किन्तु साथ ही यह निरीक्षण किया जायगा कि मात्र वर्ण और साथ ही स्वर की ही संवेदनाएँ जहाँ वे दोनों में से प्रत्येक स्थिति में विशुद्ध होती हैं तत्काल अव्यवहित रूप से सुन्दर मानने योग्य होती हैं। यह एक ऐसा निर्धारण है जो तत्काल उनके रूप (Form) के पास चला जाता है और मात्र यही ऐसा है जिसे ये प्रतिरूपण अन्तर्धारण करते हैं जो मिश्रित रूप से सार्वभौमतः सम्प्रेषित होना स्वीकार करता है। क्योंकि यह कल्पनीय नहीं है कि यहाँ तक कि संवेदनों का गुण भी समस्त व्यक्तियों (Subject) में परस्पर मेल खाता है और हम मुश्किल से इस बात को बिना प्रमाण के मान ले सकते हैं कि किसी वर्ण अथवा किसी संगीत-वाद्य का स्वर जिसे हम किसी दूसरे की अपेक्षा अधिक वरेण्य निश्चित कर लेते हैं, उसे प्रत्येक व्यक्ति के आकलन में उसी प्रकार की वरेण्यता प्रदान की जाती है। मूलर के साथ यह मान लेने पर, कि जिस प्रकार स्वर, ध्वनि द्वारा स्पन्दनो मे विन्यस्त आकाश के स्पन्दन हैं उसी प्रकार वर्ण ईथर के सवर्णी स्पन्दन हैं और जो बात सर्वाधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि शरीरावयवों को उत्तेजित करने मे मन उनके प्रभाव को केवल इन्द्रियों द्वारा ही नहीं अपितु चिन्तन और संस्कारो (Impressions) के नियमित व्यापार द्वारा भी प्रत्यक्षीकृत करता है (और परिणामतः रूप द्वारा जिसमे विविध प्रकार के प्रतिरूप एकान्वित होते हैं)—जिस पर अब भी मैं किसी भी रूप में सन्देह नहीं करता—वर्ण और स्वर निरे सम्वेदन ही नहीं होगे। वे बहुविध संवेदनों की एकता के रूपात्मक निर्धारणों से जरा भी कम नहीं होंगे और उस स्थिति में वे सहज आन्तर सौन्दर्य के रूप में भी प्रतिष्ठित हो सकेंगे।

किन्तु सम्वेदन की सहज पद्धति का अर्थ यह होता है कि उसकी एकरूपता (Uniformity) किसी बाह्य संवेदन द्वारा बाधित या भग्न नहीं है। वह मात्र रूप से सम्बन्ध रखता है; क्योंकि इस प्रकार की संवेदना (जिस वर्ण अथवा स्वर को यह प्रतिरूपित करती है) पद्धति के गुण से अमूर्त (Abstraction) की रचना हो सकती है। इसी कारण सारे सहज वर्ण, जहाँ तक कि वे विशुद्ध होते हैं, सुन्दर माने जाते हैं। सहज न होने के कारण मिश्र वर्णों को यह सुविधा प्राप्त नहीं है, उन्हें विशुद्ध कहा जाय अथवा अविशुद्ध इस बात के आकलन का कोई भी मानदण्ड (Standard) नहीं है।

किन्तु वस्तु पर, उसके रूप के कारण आरोपित होने वाले सौन्दर्य के और इस पूर्वकल्पना के सम्बन्ध में वह चमत्कार-संवर्ध्य है यह एक सामान्य और ऐसा भ्रम है जो यथार्थ अविकृत सच्ची रुचि का प्रतिकूलक है। फिर भी एक नग्न आनन्द के अलावा मन वस्तु के प्रतिरूपण में एक आकस्मिक कामना प्रदान करने और इस प्रकार रुचि का और हिमायत करने के लिए सौन्दर्य के साथ

चमत्कार को जोड़ा जा सकता है। यह चीज विशेष रूप से वहाँ लागू होती है जहाँ रुचि अब भी असंस्कृत और अप्रशिक्षित है। किन्तु यदि उन्हें सौन्दर्य का मूल्यांकन करने वाले आधार के रूप में स्वयं अपने को थोपने की छूट दे दी जाय तो वे विध्यात्मक रूप से रुचि-निर्णय के विध्वंसक हैं। क्योंकि वे सौन्दर्य में योग देने से इतने दूर हैं कि वे केवल वहीं अनुग्रह रूप में परकीय रूप से स्वीकृत किये जाते हैं जहाँ रुचि अब भी दुर्बल और अप्रशिक्षित होती है और वह भी इस शर्त पर कि वे उस सुन्दर रूप (Beautiful form) को नष्ट न करते हों।

चित्रकला, मूर्तिकला और वस्तुतः समस्त रूपात्मक कलाओं में, स्थापत्य और औद्योगिकी में, जहाँ तक कि वे ललित कलाएँ हैं, अभिकल्प (Design) एक अनिवार्य तत्त्व है। यहाँ यह वह वस्तु नहीं है जो संवेदन प्रक्रिया में तृप्ति प्रदान करती है, बल्कि यह केवल वह वस्तु है जो अपने रूप (Form) द्वारा आनन्द प्रदान करती है, यही रुचि की मूलभूत पूर्वापेक्षित वस्तु है। वे वर्ण जो स्केच को दीप्ति प्रदान करते हैं, चमत्कार के अंग होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अपने ढग से वस्तु को संवेदनार्थ सजीव बना देते हैं किन्तु वे उसे दर्शनीय और सुन्दर कदापि नहीं बना सकते जितना कि सुन्दर रूप की आवश्यकताएँ उन्हें एक अत्यन्त संकीर्ण परिधि तक सीमित नहीं करतीं, उससे भी अधिक और यहाँ तक कि वहाँ भी जहाँ चमत्कार को स्वीकृत किया जाता है, यह रूप ही वह एकमात्र वस्तु है जो उन्हें प्रतिष्ठित करती है।

इन्द्रिय-वस्तुओं (Objects of sense) का सारा रूप (दोनों बाह्य और अव्यवहित आन्तर बोध का भी) या तो आकृति (Figure) है या व्यापार (Play)। परवर्ती स्थिति में वह या तो आकृतियों का व्यापार है (देशान्तर्गत, अनुकारी और नृत्य) या फिर मात्र संवेदनों का (कालान्तर्गत)। वर्णों के अथवा वाद्ययन्त्रों के अनुकूलवेदनीय स्वरों के चमत्कार को जोड़ा जा सकता है किन्तु पूर्ववर्ती स्थितिगत अभिकल्प और परवर्ती स्थितिगत संरचना (Composition) ही विशुद्ध रुचि-निर्णय के उपयुक्त विषय का निर्माण करती है। यह कहना कि समान रूप से वर्णों और स्वरों की विशुद्धता अथवा उनके वैविध्य और वैषम्य सौन्दर्य में योग देते हुए प्रतीत होते हैं किसी भी प्रकार यह ध्वनित करने वाला नहीं है कि चूँकि वे स्वयं अपने में अनुकूलवेदनीय हैं, अतः वे रूपगत आनन्द और उस आनन्द में विवृद्धि करते हैं जो उसके समान है। वास्तविक अर्थ तो यह है कि वे इस रूप (Form) को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट, निश्चित और पूर्ण रूप से अनुभूति-ग्राह्य बनाते हैं और इसके अतिरिक्त ये उस समय अपने चमत्कार द्वारा प्रतिरूपण को उद्दीप्त करते हैं जिस समय वे वस्तु के प्रति निर्दिष्ट को उत्तेजित और पोषित करते हैं

यहाँ तक कि जिसे अलंकरण (Parerga) कहा जाता है अर्थात् जो केवल एक अनुयोग (Adjunct) है और वस्तु के पूर्ण प्रतिरूपण में कोई आभ्यन्तर घटक अंग नहीं है, वह भी रुचिजन्य आनन्द को संवर्द्धित करने में ऐसा केवल अपने रूप (Form) द्वारा ही करता है। इस प्रकार ऐसा चित्रों के फ्रेम अथवा मूर्तियों के वस्त्रविन्यास अथवा प्रासादों की स्तम्भ माला के साथ भी होता है। किन्तु यदि अलंकरण स्वयं सुन्दर रूप की संरचना में प्रवेश नहीं करता—यदि वह अपने चमत्कार द्वारा मात्र चित्र का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए किसी सुनहले फ्रेम की भाँति सन्निविष्ट किया जाता है तो वह *शृंगार* (*Finary*) कहलाता है और वास्तविक सौन्दर्य से बहुत दूर जा पड़ता है।

भाव (Emotion)—एक संवेदन जहाँ जीवनगत ओजस्तत्व (Vital Force) के अपेक्षाकृत अधिक सशक्त उद्गार से अनुगम्यमान मात्र क्षणिक अवरोध द्वारा कोई अनुकूलवेदनीय अनुभूति उत्पन्न हो जाती है—सौन्दर्य के लिए एक सर्वथा बाह्य वस्तु है। औदात्य (जिसके साथ भावानुभूति सम्बद्ध है) रुचि द्वारा विश्वस्त रूप से गृहीताश्रय मूल्यांकन के मानदण्ड से एक भिन्न मानदण्ड की अपेक्षा रखता है। तो फिर विशुद्ध रुचि-निर्णय अपनी निर्धारिणी आधार-भूमि के लिए न तो चमत्कार को अपनाता है और न भाव को, एक शब्द में वह सौन्दर्य-निर्णय के वस्तु रूप किसी भी संवेदन को नहीं अपनाता।

रुचि-निर्णय पूर्णता की संकल्पना से सम्पूर्णतः निरपेक्ष है

वस्तुनिष्ठ चरमता किसी निश्चित उद्देश्य के साथ मात्र बहुविध के सन्दर्भ द्वारा हो और अतएव मात्र किसी संकल्पना द्वारा ही संज्ञात की जा सकती है। मात्र यही तथ्य इस चीज को स्पष्ट करता है कि सुन्दरम् जिसका मूल्यांकन निरी रूप-चरमता के आधार पर अर्थात् एक सर्वोद्देश्य-भिन्न चरमता के आधार पर किया जाता है, श्रेयस् के प्रतिरूपण से पूर्णतया निरपेक्ष है। क्योंकि परवर्ती एक वस्तुनिष्ठ चरमता अर्थात् वस्तु के किसी निश्चित उद्देश्य से सन्दर्भ-निर्देश की पूर्वकल्पना करता है।

वस्तुनिष्ठ चरमता या तो बाह्य अर्थात् उपयोगिता होती है या फिर आन्तर अर्थात् वस्तु की पूर्णता। यह तथ्य कि किसी वस्तु से उत्पन्न होने वाला वह आनन्द जिसके कारण हम उसे सुन्दर कहते हैं, उसकी उपयोगिता के प्रतिरूपण पर निर्भर करने में असमर्थ है, पूर्वगत दोनों निबन्धों द्वारा प्रचुरता के साथ स्वतः स्पष्ट है; क्योंकि उस स्थिति में यह एक ऐसा वस्तुजन्य अव्यवहित आनन्द नहीं होगा जो परवर्ती स्थिति में सुन्दर पर विहित निर्णय की अनिवार्य शर्त है। किन्तु एक वस्तुनिष्ठ आन्तर चरमता अर्थात् पूर्णता में हम उस वस्तु को पाते हैं जो सौन्दर्य विधेय का अधिव

सजातीय है और इसीलिए इसे लब्धप्रतिष्ठ दार्शनिकों ने भी सौन्दर्य के साथ परिवर्त्य (विनिमयसाध्य) माना है हालाँकि जहाँ इस पर अन्तर्भ्रान्त ढंग से विचार किया जाता है वहाँ यह उपाधि (Qualification) का पात्र होता है। किसी रुचि-निर्णय के अन्तर्गत यह निश्चिय करना अत्यन्त महत्व का है कि क्या सौन्दर्य वस्तुतः पूर्णता की संकल्पना में अवकार्य है।

वस्तुनिष्ठ चरमता (Objective Finality) का मूल्यांकन करने के लिए हमें सदैव किसी उद्देश्य की संकल्पना की अपेक्षा होती है और जहाँ ऐसी चरमता को बाह्य (उपयोगिता) नहीं अपितु आन्तर (उपयोगिता), होना पड़ता है वहाँ वस्तु की आन्तरिक सम्भावना की आधारभूमि को अन्तर्भूत करने वाले किसी आन्तर उद्देश्य की संकल्पना होना पड़ता है। अब एक उद्देश्य सामान्यतः वह वस्तु है जिसकी संकल्पना स्वयं वस्तु (Object) की सम्भावना की आधारभूमि मानी जा सके। अतः किसी वस्तु की चरमता (Finality) को प्रतिरूपित करने के लिए हमें सर्वप्रथम इस बात की एक संकल्पना प्राप्त करनी चाहिए कि वह किस प्रकार की वस्तु होने के लिए सम्भावित है। इस संकल्पना के साथ (जो कि इसके समन्वय का नियम प्रदान करती है) किसी वस्तु में बहुगुण का पारस्परिक अन्वय उस वस्तु की गुणात्मक पूर्णता है। परिमाणात्मक पूर्णता इससे सर्वथा भिन्न है। यह किसी वस्तु की, उसके प्रकारानुसारी सम्पन्नता में निहित होती है और परिमाण (साकल्य) की एक संकल्पना मात्र है। अपनी स्थिति में यह प्रश्न कि वह वस्तु क्या हो सकती है, निश्चित रूप से निवर्तित कर दिया गया है और हम केवल इतना ही पूछते हैं कि क्या वह वस्तु उन समस्त अपेक्षित वस्तुओं से युक्त है जो उसे ऐसा स्वरूप देती हैं। किसी वस्तु के प्रतिरूपण अर्थात् उसके बहुगुण का किसी एकता के साथ समन्वय में (वह क्या होने वाली है बिना इसकी अपेक्षा के) जो वस्तु रूपात्मक है वह स्वयमेव हमें किसी भी वस्तुनिष्ठ चरमता का किसी भी प्रकार का कोई भी संज्ञान प्रदान नहीं कर सकती। चूँकि उद्देश्य रूप (वस्तु क्या हो सकती है) इस एकता (Unity) से अमूर्तता की सृष्टि की जाती है अतः प्रतिरूपों की व्यक्तिनिष्ठ चरमता के अतिरिक्त स्वानुभूतितत्पर व्यक्ति (Subject) के मन में और कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। यह व्यक्ति (Subject) की उस प्रतिरूपणमूलक अवस्था की एक विशेष चरमता (Finality) प्रदान करती है जिसमें कि व्यक्ति कल्पनाजन्य रूप विशेष को ग्रहण करने के अपने प्रयास में स्वयं अपने को सर्वथा दक्ष अनुभव करता है किन्तु किसी वस्तु की किसी भी पूर्णता को ग्रहण करने में वह अपने को ऐसा नहीं पाता इसलिए क्योंकि परवर्ती यहाँ किसी संकल्पना द्वारा चिन्तित नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि किसी जंगल में किसी ऐसे घास के मैदान में मैं उतरता हूँ जिसके चतुर्दिक् वृक्ष वृत्ताकार उगे हुए हैं और यदि उस समय मैं किसी उद्देश्य का कोई ऐसा प्रतिरूप

(Representation) नहीं बनाता जिसके लिए उसका प्रयुक्त होना अभिप्रेत है—कह लीजिए कि लोक-नृत्यों के लिए, तो मात्र, रूप द्वारा पूर्णता की किसी संकल्पना का कोई लेशमात्र संकेत नहीं प्राप्त होता। किसी ऐसी रूपात्मक वस्तुनिष्ठ चरमता की कल्पना करना जो अब भी किसी उद्देश्य (End) अर्थात् किसी 'पूर्णता' के निरे रूप से रहित है (उस वस्तु के किसी भी तथ्य अथवा संकल्पना से जिससे कि अन्वय (Agreement) सम्बन्ध रखता है चाहे वहाँ नियमानुसारिता का निरा सामान्य प्रत्यय ही रहा हो।' एक प्रकृत अन्तर्विरोध (Veritable Contradiction) है।

अब रुचि-निर्णय एक सौन्दर्य-निर्णय (Aesthetic judgment) अर्थात् एक ऐसा निर्णय है जो व्यक्तिनिष्ठ आधारभूमियों पर निर्भर करता है। कोई भी संकल्पना इसकी निर्धारिणी आधारभूमि अतएव किसी निश्चित उद्देश्य वाली नहीं हो सकती। अतएव रूपात्मक व्यक्तिनिष्ठ चरमता रूप सौन्दर्य, एक भावी रूपात्मक चरमता की भाँति, जो अब भी वस्तुनिष्ठ है, वस्तु की पूर्णता के किसी भी विचार को द्योतित नहीं करता और सुन्दरम् तथा श्रेयस् की संकल्पनाओं के बीच भेद, जो दोनों को अपने तर्कमूलक रूप में भिन्न मतपरायण प्रतिरूपित करता है, कि पहली पूर्णता की एक निरी अन्तर्भ्रान्त संकल्पना है और दूसरी उसकी एक स्पष्टतः परिभाषित संकल्पना, जबकि अन्यथा अन्तर्वस्तु (Content) और उद्भव में दोनों समान हैं, होने के कारण, सब का सब निरर्थक हो जाता है; क्योंकि तब उनके बीच कोई विशिष्ट भेद नहीं होगा बल्कि रुचि-निर्णय ठीक उतना ही संज्ञानात्मक होगा जितना कि वह निर्णय होता है जिसके द्वारा किसी वस्तु को सुन्दर वर्णित किया जाता है—उदाहरणार्थ सामान्य मनुष्य जिस समय यह कहता है कि प्रवंचना अनुचित है उस समय वह अपने निर्णय को अन्तर्भ्रान्त आधारभूमियों पर और दार्शनिक अपने निर्णय को स्पष्ट आधारभूमियों पर आधारित करता है जबकि दोनों ही वस्तुतः तर्कबुद्धि के समान नियमों के प्रति अनुरोध करते हैं। किन्तु मैंने पहले ही कहा है कि सौन्दर्य-निर्णय एक सर्वथा अनन्य वस्तु है और वस्तु (Object) का सर्वथा कोई भी (यहाँ तक कि एक अन्तर्भ्रान्त भी) ज्ञान नहीं प्रदान करता। हम केवल तर्कमूलक निर्णय के ही द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर सौन्दर्यमूलक निर्णय उस प्रतिरूपण का निर्देश करता है जिसके द्वारा कोई वस्तु मूलतः व्यक्ति (Subject) को प्रदान की जाती है और हमारे ध्यान में मात्र उसमें विनियुक्त प्रतिरूपण की शक्तियों के निर्धारण के चरम-रूप (Final Form) के अलावा व्यक्ति के और किसी गुण को नहीं लाता। वह निर्णय मात्र इसीलिए सौन्दर्यमूलक कहलाता कि उसकी निर्धारिणी आधारभूमि कोई संकल्पना नहीं हो सकती बल्कि बजाय इसके मात्र वस्तुरूप मानसिक शक्तियों के व्यापार में लगी हुई ऐक्य

(Concert) की अनुभूति (आन्तर बोध की) होती है। यदि दूसरी ओर उन पर आधारित अन्तर्भ्रान्त संकल्पना और वस्तुनिष्ठ निर्णय सौन्दर्यपरक कहे जाँय तो हम स्वयं अपने को एक ऐसी बुद्धि के संसर्ग में पायेंगे जो इन्द्रियबोध द्वारा निर्णय करती है अथवा एक ऐसी इन्द्रिय के साहचर्य में पायेंगे जो अपने विषयों (Objects) को संकल्पनाओं द्वारा प्रतिरूपित करती है—जोकि अन्तर्विरोधों का एक विकल्प मात्र है। संकल्पनाओं की, चाहे वे अन्तर्भ्रान्त हों या स्पष्ट, मनःशक्ति (Faculty) बुद्धि है और यद्यपि रुचि-निर्णय में बुद्धि की कार्य-भूमिका (जैसा कि सभी निर्णयों मे होती है) होती है किन्तु एक सौन्दर्यपरक निर्णय होने के कारण उसमें इसकी कार्य-भूमिका किसी वस्तु को प्रज्ञात करने वाली मनःशक्ति (Faculty) की नहीं होती बल्कि व्यक्ति (Subject) के साथ अपने सम्बन्ध और उसकी आन्तरिक अनुभूति के अनुसार उस निर्णय और उसके प्रतिरूपण को (बिना किसी संकल्पना के) निर्धारित करने के लिए और जहाँ तक किसी सार्वभौम नियम के अनुसार वह निर्णय सम्भव है वहाँ तक एक मनःशक्ति (Faculty) की होती है।

एक ऐसा रुचि-निर्णय जिसके द्वारा एक निश्चित संकल्पना की उपाधि के अन्तर्गत कोई वस्तु सुन्दर वर्णित की जाती है, विशुद्ध रुचि-निर्णय नहीं है।

सौन्दर्य के दो भेद हैं स्वतन्त्र सौन्दर्य (Pulchritudo Vaga) और वह सौन्दर्य जो केवल आश्रित है (Pulchritudo adhaerens)। पहला ऐसी किसी भी संकल्पना की पूर्वकल्पना नहीं करता जिसका वह विषय हो; दूसरा अवश्यमेव इस प्रकार की संकल्पना और उसके साथ ही वस्तु (Object) की एक संवादी पूर्णता की पूर्वकल्पना करता है। उनमें से प्रथम प्रकार के सौन्दर्य किसी न किसी वस्तु के आत्मावस्थित (Self-Subsisting) सौन्दर्य कहे जाते हैं; दूसरे प्रकार के सौन्दर्य को, किसी संकल्पना से सम्बद्ध (सोपाधिक सौन्दर्य) होने के कारण उन वस्तुओं पर आरोपित किया जाता है जो किसी विशेष उद्देश्य की संकल्पना के अन्तर्गत आती हैं।

पुष्प प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य हैं। एक वनस्पतिशास्त्री के अलावा शायद ही कोई पुष्प की यथार्थ प्रकृति को जानता है और वह भी पुष्प में पौधे के प्रजननाङ्ग का पता लगाते समय जब वह उसके सौन्दर्य का निर्णय करने के लिए अपनी रुचि का उपयोग करता है, इस नैसर्गिक उद्देश्य पर कोई ध्यान नहीं देता। अतः किसी भी वस्तु की पूर्णता, कोई भी आन्तर चरमता (Internal finality) किसी ऐसी वस्तु के रूप में जिससे कि बहुगुण की क्रमव्यवस्था सम्बद्ध है, इस निर्णय मे नहीं है बहुत से विहग (शुकवत् गुञ्जन करने वाला विहग स्वर्विहग)

और असंख्य वल्कमय जलचर आत्मावस्थित सौन्दर्य हैं जो किसी वस्तु के उद्देश्य के सम्बन्ध में व्याख्यात उसके (वस्तु के) अनुषंगी न होकर स्वतः स्वतन्त्र रूप से आह्लादित करते हैं। अतः अभिकल्प (A la grecque) फ्रेम का प्रसाधन करने वाली अथवा भित्तिपट पर लगाई जाने वाली पर्णावली कोई आन्तरिक अभिप्राय नहीं रखती। वे किसी निश्चित संकल्पना के अन्तर्गत कुछ भी, किसी भी वस्तु को प्रतिरूपित नहीं करतीं—और स्वतन्त्र सौन्दर्य हैं। इसी वर्ग में हम उन वस्तुओं को भी प्रतिष्ठित कर सकते हैं जिन्हें (विषयवस्तु रहित) स्वप्नाभास कल्पना (Fancy) कहा जाता है और वस्तुतः उस निखिल संगीत को भी, जो शब्दों में सुविन्यस्त नहीं है।

एक स्वतन्त्र-सौन्दर्य (निरे रूप के अनुसार) के मूल्यांकन में हम विशुद्ध रुचि-निर्णय को पाते हैं। यहाँ ऐसे किसी भी उद्देश्य (End) की किसी भी संकल्पना (Concept) को पूर्वकल्पित नहीं किया जाता जिसके हेतु बहुगुण वस्तु-विशेष का कार्य सम्पादन करे और अतएव परवर्ती जिसे प्रतिरूपित करे—यह एक ऐसी बाध्यता है जो इसीलिए मात्र उस कल्पना की स्वच्छन्दता को सीमित कर देगी जो बाह्य रूप के भावन में क्रियाशील होती है।

किन्तु मानव-सौन्दर्य (इस शीर्षक के अन्तर्गत पुरुष, स्त्री अथवा बालक के सौन्दर्य को समाविष्ट करते हुए) किसी अश्व, किसी इमारत (जैसे किसी चर्च, महल, आयुधागार या ग्रीष्मावास) का सौन्दर्य किसी ऐसे उद्देश्य की संकल्पना को पूर्वकल्पित करता है जो इस तथ्य की व्याख्या करता है कि वस्तु का क्या आशय है और परिणामतः उसकी पूर्णता की संकल्पना को पूर्वकल्पित करता है और इसीलिए मात्र आश्रित सौन्दर्य है। अब जिस प्रकार उस सौन्दर्य के साथ जिसके साथ यथार्थ में रूप ही आनुषंगिक (Relevant) है, संवेदनगत अनुकूलवेदनीय को सम्मिलित कर लेना, रुचि निर्णय की विशुद्धता पर एक अवष्टम्भ है उसी प्रकार सौन्दर्य के साथ श्रेयस् को सम्मिलित करना (श्रेयस् अर्थात् स्वयं वस्तु के प्रति उसके उद्देश्य के अनुसार बहुगुण का श्रेयस्) उसकी विशुद्धता को नष्ट कर देना है।

किसी ऐसी इमारत के साथ बहुत कुछ जोड़ा जा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप से नेत्रों को आह्लादित करती है बशर्ते वह किसी चर्च के लिए अभिप्रेत न हो। यदि हम एक मात्र मानवाकृतियों का निरूपण कर रहे हों तो कोई आकृति अलंकारों और प्रकाश की समस्त विधाओं किन्तु नियमित रेखाओं से प्रसाधित की ज सकती है और यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी रूक्ष विभ्रम रूपरेखाओं (Fea को मसृण बनाया और अपेक्षाकृत एक अधिक सुखावह स्वरूप प्रदान किया ज

सकता है, केवल वही पुरुष होने का अधिकारी अथवा योद्धा है जिसकी आकृति रणोत्सुक हो।

अब उस आन्तर उद्देश्य के सन्दर्भ में जो आनन्द की सम्भावना का निर्धारण करता है किसी वस्तु का बहुगुण जन्य आनन्द एक ऐसा आनन्द है जो किसी संकल्पना पर आश्रित होता है, जब कि सुन्दरगत आनन्द एक ऐसा आनन्द है जो किसी संकल्पना की पूर्वकल्पना नहीं करता अपितु उस प्रतिरूपण (Representation) से अव्यवहित रूप से युक्त होता है जिसके द्वारा वस्तु प्रस्तुत की जाती है (उसके द्वारा नहीं, जिसके द्वारा वह सोची जाती है)। अब यदि परवर्ती आनन्द विषयक रुचि-निर्णय तर्कबुद्धि-निर्णय रूप परवर्ती आनन्द में अन्तर्विष्ट उद्देश्य के आश्रित बना दिया जाय और इस प्रकार यदि उसे किसी नियन्त्रण के अन्तर्गत रख दिया जाय तो वह आगे बिलकुल एक स्वतन्त्र एवं विशुद्ध रुचि-निर्णय नहीं है।

यह सत्य है कि सौन्दर्यानन्द के साथ बौद्धिक आनन्द के इस संयोजन द्वारा रुचि लाभान्वित होती है क्योंकि वह स्थिर हो जाती है और सार्वभौम न होने के कारण वह किन्हीं निश्चित चरम वस्तुओं (Final objects) के सम्बन्ध में अपने लिए नियम का विधान करने को प्रोत्साहन देती है। किन्तु ये नियम रुचि के नियम न होकर मात्र तर्कबुद्धि के साथ रुचि की अर्थात् श्रेयस् के साथ सुन्दरम् की संहति स्थापित करने के नियम हैं— ऐसे नियम जिनके द्वारा परवर्ती के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती एक उद्देश्यमूलक उपस्कर (Intentional instrument) के रूप में, मन की उस प्रकृति (Temper) को, जो आत्मपोषिणी (Self sustaining) और व्यक्तिनिष्ठ सार्वभौम मान्यता वाली है, उस विचार पद्धति के समर्थन और सन्धारण के हेतु प्रस्तुत करने के लिए उपलभ्य बन जाता है जो वस्तुनिष्ठ सार्वभौम मान्यता रखती हुई भी, केवल एक कृतसंकल्प दृढ़ प्रयत्न द्वारा ही सुरक्षित रखी जा सकती है। किन्तु यथार्थ में पूर्णता न तो सौन्दर्य द्वारा लाभान्वित होती है और न सौन्दर्य-पूर्णता द्वारा। बल्कि सच तो यह है कि जब हम किसी संकल्पना द्वारा वस्तु (अभिप्रेत वस्तु के सम्बन्ध में) के साथ उस प्रतिरूपण की तुलना करते हैं जिसके द्वारा कोई वस्तु हमें प्रदान की जाती है तो हमें व्यक्ति के सम्वेदन के सम्बन्ध में उसकी भी पुनरीक्षा करनी ही पड़ती है। अतः उस समय हमारी प्रतिरूपणात्मक शक्ति (Representative Power) की सम्पूर्ण मनःशक्ति को एक प्रकार की उपलब्धि (gain) होती है जिस समय हमारे मन की दोनों अवस्थाओं के बीच संगति (Harmony) बनी रहती है।

एक निश्चित आन्तरिक उद्देश्य वाली किसी वस्तु (Object) के सम्बन्ध में कोई रुचि-निर्णय केवल वहीं विशुद्ध होगा जहाँ कि निर्णेता व्यक्ति के पास या तो इस उद्देश्य की कोई भी नहीं है या फिर जहाँ वह इससे अपने निर्णय

५ अमृत की सृष्टि करता है। किन्तु इस प्रकार की स्थितियों में यद्यपि इस प्रकार का व्यक्ति यथातथ्य रुचि-निर्णय (Correct judgment of Taste) की ही स्थापना करे, क्योंकि वह स्वतन्त्र सौन्दर्य के रूप में उस वस्तु का आकलन कर रहा होगा तो भी उस अन्य व्यक्ति के द्वारा उसका छिद्रान्वेषण होगा जिसने कि उसके सौन्दर्य में एक आश्रित गुण (अर्थात् जिसने वस्तु के उद्देश्य की खोज की) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखा और उसके द्वारा उसके ऊपर मिथ्या-रुचि (False Taste) का दोष मढ़ा जायगा, हालाँकि दोनों ही अपने-अपने ढंग से शुद्ध रूप से निर्णय कर रहे होंगे; पहला उस वस्तु के अनुसार जो उसकी इन्द्रियों के सम्मुख विद्यमान रही होगी और दूसरा उस वस्तु के अनुसार जो उसके विचारों मे विद्यमान रही होगी। यह भेद हमें कवियों की ओर से सौन्दर्य सम्बन्धी अनेक विवादों को सुलझाने की क्षमता प्रदान करता है; क्योंकि हम उन्हें यह दिखा सकते हैं कि एक पक्ष किस प्रकार स्वतन्त्र सौन्दर्य का और दूसरा पक्ष उस सौन्दर्य का निरूपण कर रहा है जो आश्रित है। पहला विशुद्ध रुचि-निर्णय की स्थापना करता है और दूसरा उस निर्णय की स्थापना करता है जो उद्देश्यपूर्ण रीति से प्रयुक्त किया जाता है।

सौन्दर्य का आदर्श

रुचि का कोई ऐसा वस्तुनिष्ठ नियम नहीं हो सकता जिससे संकल्पनाओं द्वारा उस वस्तु की परिभाषा की जा सके जिसे सुन्दर कहते हैं। क्योंकि उस स्रोत से उत्पन्न होने वाला प्रत्येक निर्णय सौन्दर्यमूलक होता है अर्थात् उसकी निर्धारिणी आधारभूमि वस्तु की कोई संकल्पना न होकर व्यक्ति (Subject) की अनुभूति होती है। रुचि के किसी ऐसे नियम की खोज करना जो निश्चित संकल्पनाओं द्वारा सुन्दरम् का कोई सार्वभौम निकष (Criterion) प्रदान करता हो, श्रम को केवल नष्ट करना है; क्योंकि जिस वस्तु की खोज की जाती है वह एक असम्भव और सहज ही अन्तर्विरोधी वस्तु है। किन्तु (आनन्द अथवा विरुचि की) संवेदना की सार्वभौम सम्प्रेषणीयता में—एक और भी ऐसी सम्प्रेषणीयता में जो किसी भी संकल्पना से पृथक् अपना अस्तित्व बनाए रख सकती है, यथासम्भव किन्हीं विशेष वस्तुओं के प्रतिरूपण में इस अनुभूति के विषय में सभी युगों और देशों की सगति में हमारे पास आनुभाविक निकष होता है जो इस प्रकार गहनावस्थित और समान रूप से सर्वजन गृहीताश आधारभूमियों के उन रूपों के आकलन में, जिनके अन्तर्गत वस्तुएँ उन्हें प्रदान की जाती हैं, अन्तर्निहित दृष्टान्तों द्वारा पुष्ट रुचि के व्युत्पादन की किसी परिकल्पना (Presumption) को उभारने में वस्तुतः दुर्बल और पयास निराधार है

इस कारण रुचि की कुछ निष्पत्तियाँ निदर्शनात्मक (Exemplary) समझी जाती हैं—जिसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरे के अनुकरण द्वारा ही रुचि का अर्जन किया जा सकता है क्योंकि रुचि निश्चय ही एक मौलिक शक्ति (Original Faculty) है जबकि वह व्यक्ति जो किसी प्रतिमान (Model) का अनुकरण करता है वह अपनी सफलता की चरमपूर्णता रूप निपुणता को दिखाते हुए इस प्रतिमान[१] के स्वयं आलोचक रूप में ही केवल रुचि प्रदर्शित करता है। अतः जिसका तात्पर्य यह होता है कि उच्चतम प्रतिमान (Highest Model), रुचि का मूलादर्श एक प्रत्यय (Idea) मात्र है जिसे प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपनी चेतना में प्रसूत करना चाहिए और जिसके अनुसार उसे उस प्रत्येक वस्तु का आकलन निश्चित करना चाहिये जो रुचिकर विषय है अथवा जो आलोचनशील रुचि का और यहाँ तक कि स्वयं सार्वभौम रुचि का भी एक उदाहरण है। यथार्थ पूछिये तो प्रत्यय (Idea) तर्कबुद्धि की एक संकल्पना (Concept of reason) का अर्थ रखता है और आदर्श (Ideal) किसी एक वैयक्तिक सत्ता (Individual existence) के प्रतिरूप (Representation) का जो किसी प्रत्यय (Idea) के लिए उपयुक्त हो। अतः रुचि का यह मूलादर्श (Archtype) जो वस्तुतः तर्कबुद्धि के किसी अधिकतम के अविहित प्रत्यय (Reason's indeterminate idea of a Maximum) पर निर्भर करता है किन्तु फिर भी जो संकल्पनाओं द्वारा प्रतिरूप न होकर मात्र किसी एक वैयक्तिक उपस्थापन में प्रतिरूपित होने योग्य है, अपेक्षाकृत अधिक उचित रूप से सुन्दर का आदर्श कहा जा सकता है। इस आदर्श को स्वायत्त न रखते हुए भी हम इसे अपने अन्दर उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। किन्तु यह देखते हुए कि यह संकल्पनाओं पर आश्रित न होकर उपस्थापन पर आश्रित है—उपस्थापन जिसकी मनः शक्ति (Faculty) कल्पना है—यह केवल कल्पना का एक आदर्श होने के लिये बाध्य है—अब प्रश्न यह है कि हम किस प्रकार सौन्दर्य के ऐसे आदर्श पर पहुँचते हैं ? यह प्रागानुभाविक रूप से सम्भव होता है अथवा आनुभाविक रूप से ? इसके आगे सुन्दर के कौन से भेद किसी आदर्श को स्वीकार करते हैं।

१—Models of taste with respect to the arts of speech must be composed in a dead and learned language; the first, to prevent their having to suffer the changes that inevitably overtake, living ones, making dignified expressions become degraded, common ones antiquated and ones newly coined after a short currency obsolete; the second to ensure its having a grammar that is not subject to the caprices of fashion but fixed rules of its own

सर्वप्रथम हम अवश्य ही इस बात का भली-भाँति निरीक्षण करेंगे कि वह सौन्दर्य जिसके लिए किसी आदर्श की खोज करनी पड़े एक ऐसा सौन्दर्य नहीं हो सकता जो स्वतन्त्र और 'मुक्त' (Free and at large) हो, बल्कि वह एक ऐसा सौन्दर्य है जो वस्तुनिष्ठ चरमता (Objective Finality) द्वारा नियत (Fixed) है। अतः वह किसी सर्वथा विशुद्ध रुचि-निर्णय की वस्तु से सम्बन्ध नहीं रख सकता बल्कि वह उस निर्णय से सम्बद्ध है जो अंशतः बौद्धिक है। दूसरे शब्दों में जहाँ कोई आदर्श (Ideal) उन आधारभूमियों के बीच अपना स्थान रखने वाला है जिनके आधार पर कोई आकलन किया जाता है वहाँ उस भेद की आधारभूमियों के नीचे उन विहित संकल्पनाओं (Determinate concepts) के अनुसार कोई तर्कबुद्धि-प्रत्यय (Idea of reason) अवश्य अन्तर्निहित होता है जिसके द्वारा वस्तु की आन्तरिक सम्भावना प्रागनुभव निर्धारित होती है। सुन्दर पुष्पों, फरनीचर की किसी अनुरूप समष्टि अथवा किसी सुन्दर दृश्य का कोई आदर्श अचिन्त्य है। किन्तु निश्चित उद्देश्यों पर आश्रित किसी सौन्दर्य, जैसे किसी सुन्दर आवास, किसी सुन्दर वृक्ष, किसी सुन्दर उद्यान आदि के किसी आदर्श को प्रतिरूपित करना भी असम्भव होगा; अनुमानतः इसलिए क्योंकि उनके उद्देश्य उनकी संकल्पना द्वारा यथेष्ट परिभाषित एवं स्थिर (Fixed) नहीं हैं, इसका कारण यह कि उनकी चरमता लगभग उतनी ही स्वतन्त्र है जितना कि सौन्दर्य के साथ वह सर्वथा उन्मुक्त है। केवल वही वस्तु जो अपने यथार्थ अस्तित्व को स्वयं अपने ही भीतर धारण करती है—केवल मनुष्य ही जो तर्कबुद्धि द्वारा स्वयमेव अपने उद्देश्यों का निर्धारण करने में समर्थ है अथवा जहाँ उसे उनको बाह्य प्रत्यक्षानुभव से व्युत्पादित करना पड़ता है, फिर भी उनकी अनिवार्य और सार्वभौम उद्देश्यो के साथ तुलना कर सकता है और इसके आगे ऐसे उद्देश्यों के साथ उनकी संगति पर सौन्दर्यपरक दृष्टि से निर्णय दे सकता है अतएव जगत् की सभी वस्तुओं के बीच केवल वही सौन्दर्य के किसी आदर्श को स्वीकार करता है जैसे मनीषा मानो रूप मानवता केवल उसी के व्यक्तित्व के आदर्श को स्वीकार करती है।

यहाँ दो तत्व सन्निहित हैं। प्रथम है सौन्दर्यपरक साधारण प्रत्यय (Normal idea) जो (कल्पना की) एक एकनिष्ठ स्वानुभूति है। यह उस प्रसामान्यक (Norm) को प्रतिरूपित करता है जिसके द्वारा हम किसी मनुष्य का एक विशेष प्राणि वर्ग के एक सदस्य के रूप में निर्णय करते हैं। द्वितीय है तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय (Rational Idea)। यह उस सीमा तक मानवता के उद्देश्यों का निरूपण करता है जिस सीमा तक कि यह ऐन्द्रिक प्रतिरूपण में समर्थ है और उन्हें उनके बाह्य दृश्यमान स्वरूप के आकलनार्थ एक ऐसे नियम में परिवर्तित कर देता है जिसके द्वारा ये उद्देश्य अपने प्रभाव में उद्भासित हो उठते हैं

साधारण प्रत्यय (Normal idea) को, अनुभव से उन घटक तत्त्वों को अवश्य खींचना चाहिए जिनकी वह किसी विशेष प्रकार के प्राणी के रूप के लिए अपेक्षा रखता है। किन्तु इस रूप की संरचना में सबसे बड़ी चरमता—वह चरमता जो विवादास्पद प्राणि वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति का आकलन करने के लिए एक सार्वभौम प्रसामान्यक (Universal Norm) का काम करेगी—वह मूर्ति (Image) उस प्रकृति की टेकनिक् के अन्तर्गत निहित एक उद्देश्यमूलक आधार की सृष्टि करती है जिसके लिए कोई भिन्न व्यक्ति उपयुक्त न होकर केवल वर्ग या प्रजाति ही अपने पूर्ण रूप में उपयुक्त है, मात्र निर्णेता व्यक्ति के प्रत्यय (Idea) में ही अपना स्थान रखती है। फिर भी अपने सारे अनुपातों के साथ यह एक सौन्दर्य-प्रत्यय है और इस रूप मे वस्तुतः किसी आदर्श मूर्ति (Model image) में पूर्णतया उपस्थाप्य या प्रस्तुत्य है। अब यह चीज किस प्रकार सम्पन्न होती है ? प्रक्रिया को किसी सीमा तक बोधगम्य बनाने के लिए (क्योंकि ऐसा कौन है जो प्रकृति से उसके रहस्य को बलात् अपहृत कर सकता है) आइए हम एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि कल्पना एक ऐसी रीति से, जो हमारे लिए सर्वथा दुर्बोध है, यथासम्भव और यहाँ तक कि एक दीर्घकाल के व्यपगम के पश्चात् भी, केवल संकल्पना-चिन्हों को पुनस्मरण करने में ही नहीं अपितु अन्य असंख्य भिन्न और यहाँ तक कि ठीक उसी प्रकार की वस्तुओं (Objects) से किसी वस्तु की मूर्ति और आकृति को पुनर्सृष्ट करने में भी समर्थ है। इसके आगे यदि मन तुलनाओं में संलग्न है तो हम इस बात की सम्यक् कल्पना कर सकते है कि यह वस्तुतः, यद्यपि प्रक्रिया अचेतन है, एक मूर्ति (Image) को दूसरी मूर्ति पर अध्यारोपित कर सकता है और उसी प्रकार की अनेक (मूर्तियों) के संपात (Coincidence) से हम एक माध्यमिक कण्टूर पर पहुँच सकते हैं जो सब के लिए एक सामान्य मानदण्ड का कार्य करेगा। उदाहरण के लिए कह लीजिये कि एक व्यक्ति ने एक सहस्र-पूर्ण-प्रौढ़ मनुष्यों को देखा है। अब यदि वह एक तुलनात्मक आकलन के आधार पर निर्धारित साधारण आकार (Normal size) का निश्चय करना चाहता है तो कल्पना (मेरे मन में) इन मूर्तियों में से अनेक को एक दूसरे के ऊपर उभरने की स्वीकृति दे देती है और यदि मुझे चाक्षुष प्रस्तुति के साम्य को उस देश (Space) तक प्रसारित करने की अनुमति मिले जहाँ कि उनका सर्वाधिक समागम होता है और उस परिधि रेखा के अन्तर्गत जहाँ कि वर्णों के अधिकतम संकेन्द्रण द्वारा स्थान उद्भसित हो उठता है तो व्यक्ति को उस सामान्याकार (Average size) का प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) प्राप्त होता है जो ऊँचाई और चौड़ाई में समान रूप से महत्तम और लघुत्तम आकार की

चरम सीमाओं (Extreme limits) के परे होता है; और यही सुन्दर मनुष्य का आकार है। (ठीक यही परिणाम यान्त्रिक रीति से सहस्रों की नाप लेकर और उनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई (और मोटाई) को एक साथ जोड़कर और उस योग को प्रत्येक स्थिति में एक सहस्र से विभक्त करके प्राप्त किया जा सकता है।) किन्तु कल्पना शक्ति यह सारा कार्य ऐसे रूपों के बहुशः घटमान बोध से उत्पन्न होने वाले आन्तर बोध के अवयव (Organ of internal sense) पर पड़ने वाले एक गत्यात्मक प्रभाव (Dynamical effect) द्वारा करता है। और यदि फिर ऐसी ही पद्धतियों पर अपने सामान्य मनुष्य के लिए हम सामान्य सर और उसके लिए सामान्य नासिका आदि की खोज करें, उस देश मे जहाँ कि यह तुलना संस्थित है, तो हम उस आकृति को पाते हैं जो सुन्दर मनुष्य के साधारण प्रत्यय (Normal idea) में अन्तर्निहित है। इस कारण सुन्दर रूपों का जो साधारण प्रत्यय (Normal idea) एक श्वेताङ्ग यूरोपीय का है, एक नीग्रो का अनिवार्यतः (इन आनुभविक उपाधियों के अन्तर्गत) उससे भिन्न होगा और एक चीनी का यूरोपीय से भिन्न होगा। और किसी (जाति विशेष के) सुन्दर अश्व अथवा कुत्ते के प्रतिमान (model) के सम्बन्ध में भी प्रक्रिया ठीक यही होगी। यह साधारण प्रत्यय निश्चित नियम रूप अनुभव से गृहीत अनुपातों से व्युत्पादित नहीं है बल्कि इस प्रत्यय के अनुसार ही ऐसा है कि आकलन के नियम ही सर्व प्रथम सम्भव होते है। यह व्यक्तियों के बहुविध भेद के साथ उनकी एकनिष्ठ स्वानुभूतियों के बीच की माध्यमिक वस्तु—सम्पूर्ण प्रजाति (Genus) की एक प्लवमान मूर्ति (Floating image) है जिसको प्रकृति ने अपनी उन कृतियों में अन्तर्निहित एक मूलादर्श के रूप में स्थापित किया है जो उन्हीं जातियों से सम्बन्ध रखती हैं किन्तु जिन्हें वह फिर भी किसी भी एकाकी स्थिति में उपलब्ध किए हुए नहीं प्रतीत होती। किन्तु साधारण प्रत्यय (Normal idea) प्रजाति में सौन्दर्य के सम्पूर्ण मूलादर्श को प्रदान करने से कोसों दूर है। यह केवल उस रूप (Form) को प्रदान करता है जो निखिल सौन्दर्य की अपरिहार्य उपाधि का संघटन करता है और परिणामतः प्रजाति की प्रस्तुति में मात्र शुद्धता (Correctness) प्रदान करता है। यह, जैसा कि पॉलीक्लेटस् का प्रसिद्ध डोरीफोरस कहा जाता है, नियम ही है (और इस प्रकार 'मीरान की गाय' इसके प्रकार के लिए प्रयुक्त की जा सकती है) इसी कारण यह किसी भी वस्तु को विशेषतः वैशिष्ट्य को अन्तर्धारण नहीं करता क्योंकि अन्यथा यह प्रजाति विशेष का साधारण प्रत्यय नहीं होगा। इसके आगे यह बात सौन्दर्य के कारण नहीं है कि उसकी उपस्थापना (Presentation) हमें आह्लादित करती है बल्कि मात्र इसलिए है क्योंकि यह उन विधेयों में से किसी का भी विरोध नहीं करती कि केवल जिनके ही अन्तर्गत कोई वस्तु इस प्रजाति से सम्बद्ध होकर सुन्दर हो सकती

है। उपस्थापना केवल शैक्षणिक दृष्टि से ही शुद्ध (Corrcet) हो सकती है।[1]

किन्तु सुन्दरम् का आदर्श (the ideal of the beautiful) फिर भी एक ऐसी वस्तु है जो इस साधारण प्रत्यय से भिन्न है। पूर्वनिर्दिष्ट कारणों से यह केवल मानवाकृति में ही गवेषणीय है। यहाँ आदर्श (Ideal) आचार तत्त्व(Moral) की अभिव्यक्ति में निहित है, जिससे पृथक् होकर वस्तु तत्काल सार्वभौम एवं विध्यात्मक रूप से (शैक्षणिक रूप से शुद्ध किसी उपस्थापना में मात्र निषेधात्मक रूप से ही नहीं) आह्लादित नहीं करेगी। नैतिक विचारों की दृश्यमान अभिव्यक्ति जो मनुष्यों को भीतर से नियन्त्रित करती है, निश्चय ही केवल अनुभव से ही ग्रहण की जा सकती है किन्तु उन समस्त वस्तुओं —जनहितैषिता, विशुद्धता, शक्ति, समभाव—के साथ जिन्हें हमारी तर्कबुद्धि नैतिक श्रेयस् (Morally good) की उच्चतम चरमता के प्रत्ययान्तर्गत सम्बद्ध करती है, उनके संयोजन को शारीरिक अभिव्यक्ति में (आन्तरिक वस्तु के प्रभाव रूप में) दृष्टिगोचर बनाया जा सकता है और यह अवयव-संघटना (Embodiment) उस व्यक्ति के अन्दर तर्कबुद्धि के विशुद्ध प्रत्ययों (Pure ideas of reason) और महान् कल्पना शक्ति (Great imaginative power) की एकता को द्योतित करती है, जो उसके निरूपण का लेखक तो नहीं हो सकता किन्तु जो यहाँ तक कि उसका आकलन भी कर सकता है। सौन्दर्य के ऐसे आदर्श की शुद्धता (Correctness) उसके (सौन्दर्य के) द्वारा उस वस्तुजन्य आनन्द के साथ किसी ऐन्द्रिक चमत्कार को सम्पृक्त होने की स्वीकृति न देने से सिद्ध

१—यह पाया जायगा कि एक पूर्णतया सम (Regular) मुखाकृति—एक ऐसी मुखाकृति जिस पर कोई चित्रकार अपने प्रतिमान (Model) के लिए अपनी दृष्टि जमा सकता है—साधारणतः कोई भी व्यंजना नहीं वहन करती। ऐसा इसलिए है क्योंकि वह सर्ववैशिष्ट्य शून्य होती है, अतः उसमें व्यक्ति के विशिष्ट गुणों के बजाय जाति विशेष का प्रत्यय (idea) ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार वैशिष्ट्य संज्ञक वस्तु की अतिरंजना (जाति विशेष की चरमता) व्यंग्य चित्र कहलाती है। अनुभव यह भी दर्शाता है कि ये सर्वथा सम मुखाकृतियाँ नियम रूप में भीतर से केवल मध्यम कोटि के मनुष्य को निर्दिष्ट करती हैं; गृहीत रूप से यदि कोई व्यक्ति यह धारणा कर सके कि प्रकृति अपने बाह्य रूप में आन्तर रूप के अनुपातों को व्यक्त करती है—क्योंकि जहाँ कोई भी मानसिक गुण उस अनुपात को अतिक्रान्त नहीं करता जो किसी दोष-विनिर्मुक्त मनुष्य का संघटन करने के लिए अभीष्ट है तो उस प्रतिभा संज्ञक वस्तु की पद्धति पर किसी भी वस्तु की प्रत्याशा नहीं की जा सकती जिसमें प्रकृति किन्हीं विशिष्ट सम्बन्धों के पक्ष में मानसिक शक्तियों के अपने चिरअभ्यस्त स्वाभाविक सम्बन्धों से करती हुई प्रतीत होती है

हो जाती है जिसमें वह अब भी हमें अत्यधिक अभिरुचि लेने देता है। यह तथ्य बदले में यह प्रदर्शित करता है कि इस प्रकार के मानदण्ड के आधार पर किया हुआ आकलन कभी भी विशुद्ध सौन्दर्यपरक नहीं हो सकता और यह कि सौन्दर्य के किसी आदर्श के अनुसार निर्मित आकलन एक सहज रुचि-निर्णय नहीं हो सकता।

इस तृतीय परिच्छेद् से व्युत्पादित सुन्दरम् की परिभाषा

सौन्दर्य वहाँ तक किसी वस्तुगत चरमता का रूप (Form) है जहाँ तक कि वह उसमें किसी उद्देश्य[१] (End) के प्रतिरूपण से स्वतन्त्र रूप में प्रत्यक्षीकृत किया जाता है।

रुचि-निर्णय का चतुर्थ परिच्छेद : विषयजन्य आनन्द की रीति का परिच्छेद रुचि-निर्णय में रीति की प्रकृति

प्रत्येक प्रतिचित्रण की स्थिति में मैं इस बात का प्रतिपादन कर सकता हूँ कि (संज्ञान रूप) प्रतिचित्रण के साथ किसी आनन्द का समन्वय कम-से-कम सम्भव तो है ही। जिस वस्तु को मैं अनुकूलवेदनीय कहता हूँ, मैं इस बात का प्रतिपादन कर सकता हूँ कि वह मेरे अन्दर वस्तुतः आनन्द की सृष्टि करती है। किन्तु सुन्दरम् की स्थिति में जो वस्तु हमारे मन में होती है वह उसकी ओर से आनन्द का एक अनिवार्य सन्दर्भ है। कुछ भी हो यह अनिवार्यता एक विशेष प्रकार की होती है। यह ऐसी कोई सैद्धान्तिक वस्तुनिष्ठ अनिवार्यता नहीं है जो हमें इस अनुभव-निरपेक्ष नियम को स्वीकार करने दे कि प्रत्येक व्यक्ति उस विषय

१—इस व्याख्या का प्रतिवाद करते हुए यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा सकता है कि संसार में ऐसी वस्तुएँ हैं जिनमें किसी भी उद्देश्य के प्रज्ञात न होते हुए भी हम एक ऐसे रूप को देखते हैं जो किसी उद्देश्य के ग्रहण की व्यंजना करता है—उदाहरणार्थ जैसे श्मशान स्थानीय समाधि स्तूपों से प्राय: प्राप्त रन्ध्रमयप्रस्तर सामग्री जैसे मानो वह हैण्डिल (सन्निविष्ट करने के लिए हों) और यद्यपि वे अपनी बनावट द्वारा स्पष्टतः एक ऐसी चरमता (Finality) को निर्दिष्ट करती हैं जिसका उद्देश्य अज्ञात है, इसी कारण से सुन्दर वर्णित नहीं की जांयगी। किन्तु उनके कलाकृति माने जाने की बात ही इस बात की तात्कालिक मान्यता को द्योतित करती है कि उनकी बनावट किसी न किसी अभिप्राय और एक निश्चित उद्देश्य पर आरोपित है। इसीलिये उनके भावन में किसी भी प्रकार के अव्यवहित आनन्द की सृष्टि नहीं होती। दूसरे ओर एक पुष्प जैसे कन्द पुष्प सुन्दर माना जाता है क्योंकि उसकी पूर्णता में हम एक ऐसी निश्चित पाते हैं जो हमारे द्वारा उसके (पुष्प के) में किसी भी उद्देश्य से सम्बद्ध नहीं होती।

से उत्पन्न आनन्द को अनुभव करेगा जिसे हम सुन्दर कहते हैं। इतना होने पर भी न तो यह कोई व्यावहारिक अनिवार्यता ही है जिस स्थिति में कि विशुद्ध बौद्धिक संकल्पशक्ति की उन संकल्पनाओं (Concepts) को धन्यवाद है जिनमें कि स्वतन्त्र कर्त्ता एक नियम विशेष से युक्त होते हैं; यह आनन्द एक वस्तुनिष्ठ नियम का परिणाम है और जिसका अर्थ मात्र इतना ही होता है कि व्यक्ति को पूर्णतया एक निश्चित रीति से कार्य करना चाहिए। यह, जैसा कि सौन्दर्य-निर्णय (Aesthetic judgment) में सोचा जाता है, कोई ऐसी अनिवार्यता न होकर, मात्र निदर्शनात्मक अनिवार्यता के नाम से अभिहित की जा सकती है। दूसरे शब्दों में यह एक ऐसे निर्णय के प्रति सर्वसम्मति की अनिवार्यता है जो एक ऐसे सार्वभौम नियम को उदाहृत करने वाला माना जाता है जो नियम-व्यवस्थापन में समर्थ है। चूँकि सौन्दर्य-निर्णय कोई वस्तुनिष्ठ अथवा संज्ञानात्मक निर्णय नहीं है अतः यह अनिवार्यता निश्चित संकल्पनाओं से व्युत्पाद्य नहीं है और इसीलिए पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं है। न्यूनाधिक मात्रा में यह अनुभव की (किसी वस्तु विशेष के सौन्दर्य के सम्बन्ध में निर्णयों के आद्यन्त-व्यापी मतैक्य की) सार्वभौमिकता द्वारा अनुमेय है। क्योंकि इस तथ्य से पृथक् रूप में कि अनुभव मुश्किल से ही एतदर्थ पर्याप्त रूप से बहुसंख्यक साक्ष्यों का निर्माण करेगा, अनुभवमूलक निर्णय इन निर्णयों की अनिवार्यता की किसी संकल्पना के लिये कोई भी आधार नहीं प्रदान करते।

किसी रुचि निर्णय पर आरोपित की जाने वाली व्यक्तिनिष्ठ अनिवार्यता सोपाधिक होती है।

रुचि-निर्णय प्रत्येक व्यक्ति से समान मतैक्य या सहमति की माँग करता है और कोई व्यक्ति जो किसी वस्तु को सुन्दर वर्णित करता है वह इस बात का आग्रह करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को विवाद्य विषय को अपनी अभिमति (Approval) प्रदान करनी चाहिए और उसे सुन्दर बताने में रुचिगत अनुकूलता का अनुसरण करना चाहिए। अतएव सौन्दर्य निर्णयों में 'चाहिए' शब्द निर्णय विधान की सम्पूर्ण अभीष्ट सामग्री के साथ अनुरूप होने पर भी मात्र सोपाधिक रीति से व्याहृत किया जाता है। हम प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से भी मतैक्य के प्रार्थी हैं क्योंकि हम एक सर्वसामान्य आधारभूमि द्वारा पूर्णतया सुरक्षित हैं। इससे आगे हम इस मतैक्य पर विश्वास करने में समर्थ होंगे बशर्ते हम उस आधारभूमि के

अभिमति के नियम रूप में वस्तुस्थिति के यथातथ्य के सम्बन्ध

में सदैव हों

रुचिनिर्णय द्वारा प्रस्तुत अनिवार्यता की उपाधि सामान्य-बोध का प्रत्यय (Idea) है।

यदि (संज्ञानात्मक निर्णयों की भाँति) रुचि-निर्णय किसी निश्चित वस्तुनिष्ठ नियम के अधीन होते तो जो व्यक्ति अपने निर्णय के अन्तर्गत ऐसे नियम का अनुसरण करता वह उसके लिये निरुपाधि अनिवार्यता का दावा करता। पुनश्च, यदि वे, जैसा कि कोरी इन्द्रिय-रुचि के निर्णय होते हैं, किसी भी नियम से शून्य होते तो उनकी ओर से किसी भी अनिवार्यता का कोई भी विचार किसी के मन में प्रवेश न करता। अतएव वे अनिवार्यतः किसी व्यक्तिनिष्ठ नियम से युक्त होते हैं और किसी ऐसे नियम से युक्त होते हैं जो संकल्पनाओं द्वारा नहीं बल्कि अनुभूति द्वारा और फिर भी सार्वभौम मान्यता के साथ इस तथ्य का निश्चय करता है कि कौन सी वस्तु आनन्द अथवा कौन सी वस्तु विषाद देती है ऐसे नियम को, जैसे भी हो, मात्र एक सामान्य बोध (Common sense) ही माना जा सकता है। यह तत्त्वतः उस सामान्य बुद्धि (Common Understanding) से भिन्न है जो भी कभी-कभी सामान्य बोध कही जाती है क्योंकि परवर्ती का निर्णय अनुभूतिजन्य न होकर सदैव संकल्पनाजनित होता है, हालाँकि प्रायः स्पष्टतः निरूपित नियमों के रूप में।

अतएव रुचि-निर्णय हमारे द्वारा सामान्य-बोध की सत्ता की पूर्वकल्पना करने पर निर्भर करता है। (किन्तु इसका अर्थ किसी बाह्य-बोध (External sense) से न लिया जाकर उस प्रभाव से लिया जाना चाहिए जो हमारी संज्ञान शक्तियो की स्वच्छन्द क्रिया से उद्भूत होता है।) मात्र ऐसे ही सामान्य-बोध की पूर्वकल्पना के अन्तर्गत ही, मैं दुहराता हूँ, हम रुचि-निर्णय की स्थापना कर सकते हैं।

क्या सामान्य-बोध की पूर्वकल्पना करने के लिये हमारे पास युक्ति है ?

संज्ञानों और निर्णयों को अपने अनुषंगी विश्वास (Conviction) के साथ-साथ सार्वभौमतः सम्प्रेषित होना अवश्य स्वीकार करना चाहिए क्योंकि अन्यथा वस्तु के साथ उनकी संवादिता (Correspondence) उनके कारण नहीं होगी। वे प्रतिचित्रण की निरी व्यक्तिनिष्ठ क्रिया का संघटन करने वाले एक ऐसे सम्पिण्ड होंगे जिसे सन्देहवाद आत्मसात् करेगा। किन्तु यदि संज्ञान सम्प्रेषण को स्वीकार करना चाहते हैं तो हमारी मानसिक अवस्था अर्थात् उस रीति को, जिससे कि हमारी संज्ञानात्मक शक्तियाँ संज्ञान के लिए प्रायः एकलय हो जाती हैं और वस्तुत उस आपेक्षिक अनुपात को भी जो किसी प्रतिचित्रण के लिये उपयुक्त है (जिसके द्वारा हमें वस्तु की प्राप्ति होती है) और जिससे कि संज्ञान उद्भूत होने वाला है

सार्वभौमतः सम्प्रेषित होना स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि इसके बिना, जो कि ज्ञान-क्रिया की एक व्यक्तिनिष्ठ उपाधि है, कार्य रूप ज्ञान की उद्भूति नहीं होगी। और यही वह तथ्य है जो वहाँ सदैव वस्तुतः घटित होता है जहाँ इन्द्रियान्तराथण द्वारा कोई वस्तु विशेष (A given object) कल्पनाशक्ति को, बहुविध को यथा-क्रम व्यवस्थित करने के कार्य में नियुक्त करती है और बदले में कल्पनाशक्ति बुद्धि को इस क्रम-व्यवस्था को संकल्पनाओं की एकान्विति प्रदान करने के कार्य में सलग्न करती है। किन्तु संज्ञान शक्तियों की यह अवस्था एक ऐसे आपेक्षिक अनुपात से युक्त है जो वस्तु विशेष के वैविध्य से अपना पार्थक्य रखता है। कुछ भी हो एक ऐसी वस्तु अवश्य होनी चाहिए जिसमें कि (एक मनःशक्ति का दूसरी मनःशक्ति द्वारा) उद्दीपन के लिये उपयुक्त यह आन्तरिक अनुपात सामान्यतः (वस्तु विशेष के) संज्ञान के सम्बन्ध में दोनों ही मानसिक शक्तियों के लिये प्रशस्ततम रूप से अनुकूलीभूत हो; और यह अवस्था मात्र अनुभूति द्वारा ही निर्धारित की जा सकती है (संकल्पनाओं द्वारा नहीं)। चूँकि अब स्वयं इस अवस्था को ही और इसीलिए इसकी अनुभूति को भी (किसी प्रतिरूपण विशेष की स्थिति में) सार्वभौमतः सम्प्रेषित होना स्वीकार करना चाहिए जब कि किसी अनुभूति की सार्वभौम सम्प्रेषणीयता एक सामान्य बोध की पूर्वकल्पना करती है जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि हमारी तत्सम्बन्धी धारणा सुप्रतिष्ठित-न्यायसंगत है। और यहाँ भी हमें मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षणों का आश्रय नहीं लेना है बल्कि हम अपने उस ज्ञान की सार्वभौम प्रेषणीयता की अनिवार्य उपाधि के रूप में सामान्य-बोध (Common sense) को ग्रहण करते हैं जो उस हर एक तर्क और ज्ञान के उस हरएक नियम में पूर्वगृहीत (Pre-supposed) है जो सन्देहवाद का नहीं है।

सार्वभौम सहमति की यह अनिवार्यता, जिस पर रुचि निर्णय के अन्तर्गत विचार किया जाता है, एक व्यक्तिनिष्ठ अनिवार्यता है जो सामान्य-बोध की पूर्वकल्पना के अन्तर्गत वस्तुनिष्ठ रूप में प्रतिरूपित की जाती है।

जिन निर्णयों के द्वारा हम किसी भी वस्तु को सुन्दर वर्णित करते हैं हम उन सब से भिन्न मत किसी निर्णय को बर्दास्त नहीं कर सकते और इस स्थिति के दायित्व को ग्रहण करने में हम अपने निर्णय को संकल्पनाओं (Concepts) पर आधारित न करके केवल अपनी अनुभूति पर आधारित करते हैं, तदनुसार हम इस मूलभूत अनुभूति को एक व्यक्तिगत अनुभूति के रूप में नहीं अपितु एक लोक बोध (Public sense) के रूप में उपस्थित करते हैं। अब, इस प्रयोजन के लिये अनुभव (Experience) को इस सामान्य-बोध की आधार भूमि नहीं बनाया जा सकता क्योंकि परवर्ती चाहिए या विधिवाक्य (Ought) को अन्तर्धारण करने वाले निर्णयों के औचित्य समर्थन के लिये उद्बुद्ध होता है यह नहीं है

कि हर एक व्यक्ति हमारे निर्णय को स्वीकार कर लेगा, बल्कि यह कि हर एक व्यक्ति को इसके साथ सहमत होना चाहिए। यहाँ मैं अपने रुचि-निर्णय को सामान्यबोध के निर्णय के दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करता हूँ और इसी कारण के आधार पर उस पर निदर्शनात्मक मान्यता का आरोपण करता हूँ। अतएव सामान्यबोध एक आदर्श प्रसामान्य (Ideal norm) मात्र है। पूर्वगृहीत रूप इसके साथ हो एक ऐसा निर्णय जो इसके साथ मेल खाता है और उसी प्रकार उस निर्णय में अभिव्यक्त किसी वस्तु (Object) से उत्पन्न आनन्द यथार्थतः किसी प्रत्येक-जन-ग्राह्य नियम में परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि इस नियम के मात्र व्यक्तिनिष्ठ होने पर भी व्यक्तिनिष्ठतः सार्वभौम (प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक अनिवार्य परिकल्पना) कल्पित किये जाने के कारण, यह उस वस्तु के अन्तर्गत जो विविध निर्णेता व्यक्तियों के मतैक्य या सहमति से सम्बन्ध रखती है, एक वस्तुनिष्ठ नियम की भाँति सार्वभौम मान्यता की माँग करता है बशर्ते हम इसके अन्तर्गत अपने नियमान्तर्गमन के ठीक होने के सम्बन्ध में आश्वस्त हों।

सामान्य-बोध का यह मध्यवर्ती प्रसामान्यक वस्तुतः हमारे द्वारा पूर्वकल्पित है; जैसा कि हमारे रुचि निर्णयों की स्थापना करने की कल्पना द्वारा दर्शाया गया है। किन्तु क्या सामान्यबोध के अनुभव की सम्भावना के विधायक नियम के रूप में वस्तुतः किसी ऐसे सामान्य-बोध की सत्ता है अथवा क्या वह एक विधायक नियम के रूप में हमारे द्वारा तर्कबुद्धि के एक और भी ऐसे उच्च नियम से निर्मित है जो उच्चतर उद्देश्यों के लिये हमारे अन्दर एक सामान्यबोध को जन्म देने की टोह में रहता है। दूसरे शब्दों में क्या रुचि कोई नैसर्गिक एवं मौलिक वृत्ति है अथवा यह उस वस्तु का प्रत्यय मात्र है जो कृत्रिम और हमारे द्वारा अर्ज्य है जिससे कि रुचि-निर्णय अपनी सर्विभौम सहमति की माँग के साथ इस प्रकार की सहमति के उत्पादनार्थ तर्कबुद्धि की आवश्यकता ही है और क्या 'चाहिए—विधिवाक्य (Ought) अर्थात् सर्वसामान्य की अनुभूति प्रत्येक की विशिष्ट अनुभूति के साथ सामञ्जस्य की वस्तुनिष्ठ अनिवार्यता केवल इन तथ्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के सर्वसम्मतित्व पर पहुँचने का पूर्वाभास देती है और रुचि-निर्णय मात्र इस नियम के प्रयोग का एक दृष्टान्त प्रस्तुत करता है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनकी गवेषणा करने का अभी तक न तो हम संकल्प कर रहे हैं और न ऐसा करने की स्थिति में हैं ही। सम्प्रति हमें रुचिवृत्ति (Faculty of taste) को उसके विभिन्न तत्त्वों में विश्लेषित करना और अन्ततः उन्हें एक सामान्य-बोध के प्रत्यय में एकत्रित करना है।

चतुर्थ परिच्छेद से व्युत्पादित सुन्दरम् की परिभाषा

सुन्दर वह है जो किसी (Concept) से पृथक रूप में अनिवार्य आनन्द के विषय (Object रूप में ग्रहण किया जाता है

वैश्लेषिकी के प्रथम खण्ड पर सामान्य अभ्युक्ति

पूर्वगामी विश्लेषण से जो परिणाम निकाला जा सकता है वह वस्तुतः यह है कि प्रत्येक वस्तु आलोचक वृत्ति (Critical faculty) रूप उस रुचि की सकल्पना में जाकर समा जाती है जिसके द्वारा किसी विषय का आकलन कल्पना नियम की स्वतन्त्र अनुसारिता के सन्दर्भ में किया जाता है। अब यदि कल्पना रुचि निर्णय के अन्तर्गत अपनी मुक्तावस्था में मानी जाय तो उससे आरम्भ करना उस प्रकार से प्रतिसर्जनात्मक नहीं माना जाता जिस प्रकार कि उसके साहचर्य के नियमों की अधीनता में माना जाता है बल्कि वह सर्जनात्मक और स्वयं अपने ही एक व्यापार को चेष्टित करने वाला (सम्भाव्य स्वानुभूतियों के स्वच्छन्द रूपों का प्रवर्तक) माना जाता है। और यद्यपि किसी निर्दिष्ट इन्द्रिय-विषय के ग्रहण में यह उस विषय के एक निश्चित स्वरूप से बद्ध होता है और उस सीमा तक वह स्वतन्त्र व्यापार का उपभोग नहीं करता (जैसा कि वह काव्य में करता है) फिर भी यह कल्पित करना सुकर है कि वस्तु (Object) कल्पना को बहुविध के सुविन्यास का ठीक वैसा ही रूप प्रदान कर सकती है जैसा रूप कल्पना, यदि उसे स्वयं अपने ही ऊपर छोड़ दिया जाय, बुद्धि-नियम की सामान्य अनुसारिता के सामञ्जस्य मे स्वच्छन्दतः प्रयोजित कर सकती है। किन्तु यह तथ्य कि कल्पना को स्वतन्त्र और स्वतः नियमानुसार अर्थात् स्वायत्ततायुक्त होना चाहिए, एक अन्त-र्विरोध है। केवल बुद्धि (Understanding) ही नियम प्रदान करती है। फिर भी कल्पना जहाँ किसी निश्चित नियम द्वारा विहित किसी प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिये बाध्य होती है वहाँ तज्जनित कृति का क्या स्वरूप होगा यह संकल्पनाओं द्वारा निश्चित किया जाता है; किन्तु उस दशा में, जैसा कि पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है, होने वाला आनन्द सुन्दर-जन्य आनन्द न होकर श्रेयस्-जन्य आनन्द होता है (पूर्णता में चाहे वह रूपात्मक पूर्णता के अतिरिक्त और कुछ भी न हो) और तद्गत निर्णय रुचि-अनुप्राणित निर्णय नहीं होता। अस्तु, यह मात्र एक नियम-रहित नियमानुसारिता और कल्पनावृत्ति और बुद्धिवृत्ति का बिना किसी वस्तुनिष्ठ सामञ्जस्य के व्यक्तिनिष्ठ सामञ्जस्य-विधान है—अनन्तर जिसका अर्थ यह होगा कि प्रतिरूपण किसी ऐसी वस्तु की किसी निश्चित संकल्पना से सन्दर्भित था जो बुद्धि-नियम की स्वतन्त्र अनुसारिता (जिसे उद्देश्य-विवर्जित चरमता भी कहा गया है) और रुचि-निर्णय के विशिष्ट लक्षण में निहित रह सकती है।

अब, ज्यामितिक दृष्टि से सम आकृतियाँ वृत्त, वर्ग, घन आदि रुचि के आलोचकों द्वारा सामान्यतः सौन्दर्य के अत्यन्त सहज एवं प्रश्नातीत दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और फिर भी वह एकान्त कारण जिससे वे सम कहे जाते हैं यह है क्योंकि उन्हें प्रतिरूपित करने की एकमात्र विधि उन्हें एक ऐसी

निश्चित संकल्पना की कोरी उपस्थापनाओं के रूप में ग्रहण करना है जिसके द्वारा आकृति ने अपने नियम (एकमात्र जिसके ही अनुसार यह सम्भव है) को अपने लिये निर्दिष्ट कर रखा है। अतएव इन दोनों मतों में कोई न कोई अवश्य भ्रान्त है : या तो कवियों का वह अधिनिर्णय भ्रान्त है जो ऐसी आकृतियों पर सौन्दर्य का आरोपण करता है या फिर स्वयं हमारा ही वह अधिनिर्णय जो किसी भी संकल्पना से पृथक् रूप से चरमता को सौन्दर्य के लिये अनिवार्य बनाता है।

कोई व्यक्ति किसी मनुष्य के लिये मुश्किल से किसी दुर्बन्वित रूपरेखा की अपेक्षा किसी वृत्तमें किसी स्थूल पार्श्व एवं विकृत आकृति की अपेक्षा किसी समकोण, समभुज त्रिभुज, चतुर्भुज, में अपेक्षाकृत अधिक आनन्द अनुभव करने वाली रुचि से सम्पन्न होना समझेगा। सामान्य बुद्धि (Common understanding) की आवश्यकताएँ रुचि के प्रति जरा भी आग्रह किए बिना एक अधिरुचि (j reference) के रूप में आश्वस्त करतीं हैं। उदाहरणार्थ जब किसी भूखण्ड के क्षेत्र का आकलन करने का अथवा एक दूसरे से विभक्त खण्डों के सम्बन्ध और उनका सम्पूर्ण के साथ सम्बन्ध को बोधगम्य बनाने का कोई उद्देश्य देखा जाता है तो सम आकृतियाँ और वह भी अत्यन्त सहज प्रकार की सम आकृतियों की अपेक्षा होती है और आनन्द अव्यवहितरूपेण उस रीति पर निर्भर नहीं करता जिस रीति से कि आकृति नेत्रों को प्रभावित करती है बल्कि वह सभी प्रकार के सम्भाव्य उद्देश्यों की उसकी प्रयोजनीयता पर निर्भर करता है। वक्र, कोणों से युक्त दीवालों वाला कोई कमरा, उसी प्रकार किसी उद्यान में प्रस्तुत कोई भूखण्ड, यहाँ तक कि पशुओं (उदाहरणार्थ काने) और इमारतों अथवा पुष्पशय्याओं में सम्मिति (Symmetry) का कोई व्याघात अपने रूप की विकृति के कारण अप्रसादजनक है। वह ऐसा किसी ऐसे निश्चित उपयोग के सम्बन्ध में मात्र व्यावहारिक ढंग से ही नहीं है, जिसमें वस्तु लगाई जा सकती है, बल्कि वह ऐसा एक ऐसे आकलन के हेतु है जो सभी प्रकार के सम्भाव्य उद्देश्यों पर ध्यान रखता है। किन्तु रुचि निर्णय के सम्बन्ध में स्थिति सर्वथा भिन्न है। क्योंकि जब वह विशुद्ध होता है तो वह क्रमशः वस्तु के उपयोग अथवा किसी उद्देश्य से निरपेक्ष उसके निरे भावन-व्यापार के साथ अव्यवहित रूप से आनन्द या विरक्ति को संयोजित करता है।

जो नियमितता (Regularity) किसी वस्तु (Object) की संकल्पना को प्रेरित करती है वह वस्तुतः एक विशिष्ट प्रतिचित्र रूप वस्तु के ग्रहण की और बहुविध को उसका निर्दिष्ट स्वरूप प्रदान करने की अनिवार्य उपाधि है। यह निर्धारण ज्ञान के सम्बन्ध में एक उद्देश्य है; और इस सम्बन्ध में यह अपरिवर्तनीय रूप से आनन्द से युक्त होता है (ऐसे आनन्द से जैसा आनन्द कि किसी भी उद्देश्य- यहाँ तक

कि समस्यामूलक की भी निष्पन्नता पर भी उत्पन्न होता है)। कुछ भी हो यहाँ हमारे पास उस समाधान द्वारा उद्रेचित केवल मूल्य ही है, जो समस्या को सन्तुष्ट करता है, किन्तु जिसे सुन्दर कहा जाता है उस वस्तु के साथ हमारे पास मानसिक शक्तियों का स्वच्छन्द एवं अनिर्दिष्ट रूप से चरम प्रसादन (Final entertainment) नहीं होता। परवर्ती स्थिति में बुद्धि कल्पना के आज्ञानुवर्तन में तत्पर होती है पूर्ववर्ती स्थिति में यह सम्बन्ध आरक्षित या गूढ़ (Reserved) होता है।

किसी ऐसी वस्तु के साथ, जो अपनी सम्भावना के लिये किसी प्रयोजन (Purpose) की आभारी है जैसे कोई इमारत अथवा यहाँ तक कि कोई पशु भी, उसकी नियमितता जो कि सम्मिति में निहित होती है, उसके उद्देश्य की अनुषङ्गिनी स्वानुभूति की एकता (Unity) को अवश्य व्यक्त करती और इसके साथ ही संज्ञान से सम्बन्ध रखती है। किन्तु जहाँ वह सब कुछ जो उद्दिष्ट है प्रतिचित्रण की शक्तियों की स्वच्छन्द क्रिया का पोषण (Maintenance) है (चाहे वह इस उपाधि का विषय क्यों न हो कि बुद्धि के पास अपवाद रूप में ग्रहण करने के लिये कुछ भी नहीं है।) वहाँ आलंकारिक उद्यानों में, कमरों की सजावट में, उन सभी तरह के फरनीचरों आदि में जो सुरुचि का द्योतन करते हैं, बाध्यता रूप नियमितता (Regularity) का यथासम्भव परिहार करना चाहिए। इस प्रकार अंग्रेज जाति का उद्यानों में रुचि और फरनीचर में विलक्षण रुचि कल्पना की स्वच्छन्दता को उस वस्तु की सीमा तक घसीटती है जो अपनी असंगति के कारण हास्यास्पद है—अभिप्राय यह है कि नियमों की समस्त बाध्यता के इस विच्छेद में यथार्थ दृष्टान्त वहाँ प्राप्त होता है जहाँ रुचि (Taste) कल्पना की परियोजनाओं में अपनी पूर्णता का पूरा-पूरा प्रदर्शन कर सकती है।

सारी की सारी कठोर नियमितता (जैसे गणितीय नियमितता पर किनारी) रुचि के लिये अन्तर्जात रूप से अरुचिकर होती है और उसमें उसका भावन हमें कोई भी चिरस्थायी मनोरंजन नहीं प्रदान करता। वास्तव में, जहाँ इसकी दृष्टि में स्पष्टतः न तो कोई संज्ञान होता है और न कोई निश्चित व्यावहारिक उद्देश्य वहाँ हम इससे हृदय से ऊब जाते हैं। दूसरी ओर कोई ऐसी वस्तु जो कल्पना को स्वतोभूत एवं चरम-व्यापार के लिये कार्यक्षेत्र प्रदान करती है, हमारे लिये सदैव अभिनव है। हम उसकी दृष्टि मात्र से घृणा करने नहीं जाते। मार्सडेन अपने सुमात्रा के वर्णन में यह निरीक्षण करता है कि प्रकृति के स्वतन्त्र सुन्दर रूपों ने दर्शक को चारों ओर से इस प्रकार आकर आवेष्ठित कर लिया कि उसका उनके प्रति अधिक आकर्षण ही नहीं रह गया। दूसरी ओर बीच जंगल में जब उसे ऐसे समानान्तर स्थूणों वाली मिर्चे की एक बाड़ी मिली जिस पर पौधा स्वयं को लपेट लेता है तो उसने उसे ' ' पाया इस सन्न से वह इस निर्णय

पर पहुँचता है कि वन्य और अपने दृश्यमान रूप में नितान्त अनियमित सौन्दर्य मात्र एक परिवर्तन के रूप में ही उसी व्यक्ति के लिये ह्लादजनक होते हैं, जिसके नेत्र नियमित सौन्दर्य के उपयोग से अतिशय परितृप्त हो उठे हैं। किन्तु उसे अपनी मिर्चे की बाड़ी में यह अनुभव करने के लिये केवल एक दिन व्यतीत करने का प्रयोग करना चाहिए था कि एक बार नियमितता ने बुद्धि को, स्वयं अपने को इस अनुक्रम में, जो कि उसकी सतत माँग है, प्रस्थापित करने की क्षमता प्रदान कर दी है, बजाय इसके कि विषय (Object) इसके और आगे उसका ध्यानाकर्षण करे वह कल्पनावृत्ति के ऊपर एक क्लान्तिजनक दबाव या बाध्यता आरोपित कर देता है : जब कि प्रकृति कृत्रिम नियमों की बाध्यता का विषय न होने और जैसा कि वह है अपने अतिसमृद्ध व्यतिरिक्त नानात्व में मुक्तहस्त होने के कारण उसकी रुचि के लिये सतत आहार प्रदान कर सकती है। यहाँ तक कि किसी पक्षी का गान, जिसको हम किसी भी संगीतात्मक नियम में अपचित नहीं कर सकते, अपने भीतर अधिक स्वच्छन्दता लिये हुये प्रतीत होता है और इस प्रकार वह रुचि के लिये उन समस्त नियमों के अनुसार गाते हुये, जिन्हें संगीतकला निर्दिष्ट करती है, मानवी स्वर से अपेक्षाकृत समृद्ध है। क्योंकि हम परवर्ती की बहुशः एवं दीर्घ-दीर्घायित आवृत्तियों से अपेक्षाकृत अत्यधिक शीघ्र ऊब जाते हैं। तथापि बहुत कुछ सम्भव है कि यहाँ हमारी सहानुभूति एक प्यारे से लघु प्राणी के उल्लास के साथ उसके गान के सौन्दर्य के साथ सम्भ्रमित हो गई है क्योंकि यदि किसी मानव द्वारा उसका यथावत् अनुकरण किया जाय (जैसा कि कभी-कभी नाइटेङ्गेल के स्वरों के साथ हुआ है) तो वह हमारे कानों को नितान्त रुचिशून्य लगेगा।

इसके आगे सुन्दर वस्तुओं (Beautiful objects) को वस्तुओं के सुन्दर विचारों (Beautiful views of objects) से पृथक् करना होगा। जहाँ कि दूरी प्रायः स्पष्ट प्रत्यक्षण (Clear perception) को बाधित करती है। परवर्ती स्थिति में रुचि अपने आक्रमण के लिये उस वस्तु को, जिसे कल्पना इस क्षेत्र में ग्रहण करती है, उतना चुनती हुई नहीं प्रतीत होती जितना कि उस प्रेरणा को जिसे वह काव्यात्मक उपन्यास, उन विलक्षण कल्पनाओं में लिप्त होने के लिये चुनती प्रतीत होती है जिससे मन अपना रंजन करता है क्योंकि यह सतत उस वैविध्य से संक्षुब्ध होता रहता है जो दृष्टि को प्रभावित करता है। यह ठीक वैसा ही है जैसा कि उस समय होता है, जिस समय हम अग्नि के परिवर्तित होते हुये रूप अथवा लहराते हुये झरने का निरीक्षण कर रहे होते हैं। उन वस्तुओं में से कोई भी सुन्दर नहीं है किन्तु वे कल्पना को एक आकर्षण प्रदान करती हैं इसलिए क्योंकि वे उसके स्वच्छन्द व्यापार का रक्षण-पोषण करती हैं।

द्वितीय खण्ड

उदात्त की वैश्लेषिकी

सुन्दरम् की मूल्यांकनशक्ति से उदात्त की मूल्यांकनशक्ति की ओर संक्रमण

सुन्दरम् और उदात्त स्वतः—निरपेक्ष रूप से आनन्दित करने के तथ्य पर मतैक्य रखते हैं। इसके आगे वे किसी इन्द्रिय-निर्णय अथवा अन्वीक्षामूलक रीति से निर्धारित निर्णय को पूर्वकल्पित न करके भावन-निर्णय को पूर्वकल्पित करने में एकमत हैं। अतएव जिसका तात्पर्य यह होता है कि आनन्द किसी संवेदन पर, जैसा कि अनुकूलवेदनीय के सम्बन्ध में होता है, निर्भर नहीं करता और न तो वह, जैसा कि शिव के सम्बन्ध में होता है, किसी निश्चित संकल्पना पर ही निर्भर करता है यद्यपि, तो भी संकल्पना के साथ उसका एक अनिर्दिष्ट सम्बन्ध रहता है। परिणामतः आनन्द केवल उपस्थापन अथवा उपस्थापन शक्ति (Faculty of presentation) से सम्बद्ध होता है और इस प्रकार वह एक निर्दिष्ट स्वानुभूति (Given intuition) में उपस्थापनशक्ति या कल्पनाशक्ति का संकल्पनाओं की उस मनःशक्ति (Faculty) के साथ सामञ्जस्य व्यक्त करने वाला माना जाता है जो पूर्ववर्ती के परवर्ती की सहायता करने के अर्थ में बुद्धि अथवा तर्कबुद्धि (Reason) के अन्तर्गत आती है। अस्तु दोनों ही प्रकार के निर्णय एकनिष्ठ हैं और फिर भी इस तथ्य के बावजूद कि उनके दावे विषय के किसी ज्ञान की ओर निर्देशित न होकर मात्र आनन्दानुभूति के प्रति निर्देशित हैं, ऐसा होते हुये भी वे हर एक विषयी के बारे में सार्वभौमतः मान्य (Universally valid) होने का दम भरते हैं।

कुछ भी हो दोनों के बीच महत्वपूर्ण और प्रभावशाली भेद भी हैं। प्रकृतिगत सुन्दरम् वस्तु या विषय के स्वरूप का प्रश्न है और वह ससीमता से मिलकर निर्मित होता है जबकि उदात्त जिस सीमा तक कि वह अव्यवहित रूप से असीमता (Limitlessness) के किसी प्रतिचित्र को द्योतित अथवा अपनी उपस्थिति से फिर भी अपने साकल्य के एक अतियुक्त विचार से उद्दीप्त करता है उस सीमा तक वह एक ऐसी वस्तु में भी प्रायः है जो स्वरूप-रहित हो। तदनुसार सुन्दरम् बुद्धि की माध्यमिक संकल्पना के किसी उपस्थापन का और उदात्त (Sublime) तर्कबुद्धि की किसी माध्यमिक संकल्पना का उपस्थापन मानने योग्य प्रतीत होता है। अस्तु पूर्ववर्ती स्थिति में आनन्द गुण के प्रतिचित्रण से किन्तु इस स्थिति में परिमाण या महत्ता के प्रतिचित्रण से युक्त होता है तथापि प्रकार में पूर्ववर्ती आनन्द परवर्ती आनन्द से बहुत भिन्न है क्योंकि सुन्दरम् Furtherance of life) की अनुभूति

द्वारा सीधे उपलब्ध हो जाता है और इस प्रकार वह चमत्कारों और लीलापरक कल्पना का अविसम्वादी है। दूसरी ओर उदात्त की अनुभूति एक ऐसा आनन्द है जो उन जीवनगत ओजस्तत्त्वों के क्षणिक निरोध की अनुभूति द्वारा घटित होकर केवल परोक्षतः उद्भूत होता है जो किसी सर्वाधिक सशक्त प्लाव द्वारा सद्यः अनुगम्यमान होते हैं और अतएव यह एक ऐसा भावसंवेग (Emotion) है जो कोई लीला न प्रतीत होकर कल्पना-व्यापारों में सच्चाई के साथ नितान्त तत्पर प्रतीत होता है। अतएव चमत्कार इसके लिये अरुचिकर हैं और चूँकि मन विषय द्वारा केवल आकर्षित ही नहीं होता बल्कि पारी आने पर उससे विकर्षित भी हो जाता है, अतः उदात्तगत आनन्द उतना अधिक विध्यात्मक आनन्द (Positive pleasure) को द्योतित नहीं करता जितना कि वह प्रशंसा अथवा श्रद्धा को द्योतित करता है, कहने का अभिप्राय यह कि वह निषेधात्मक आनन्द की संज्ञा के योग्य है।

किन्तु उदात्त और सुन्दरम् के बीच सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्राणवान भेद निश्चय ही यह है कि यदि, जैसा कि स्वीकार्य है यहाँ हम अपने ध्यान को सर्वप्रथम प्रकृति विषयगत उदात्त तक सीमित रखें (प्रकृति के साथ किसी अभिसन्धि के प्रतिबन्धों द्वारा कला के सदैव सीमित होने के कारण) तो हम यह देखते हैं कि जबकि प्राकृतिक सौन्दर्य (ऐसा सौन्दर्य जो आत्मावस्थित है) अपने रूप (Form) में, उस विषय को प्रतीत कराने वाली किसी चरमता को वहन करता है जो हमारी निर्णयशक्ति के साथ पूर्वानुकूलित है जिससे कि इस प्रकार यह स्वयं को हमारे आनन्द का विषय बना देता है—एक ऐसा विषय जो हमारी किन्हीं विचार-परिष्कृतियों में आसक्त हुये बिना, बल्कि हमारे द्वारा मात्र उसके ग्रहण में ही उदात्त की अनुभूति को प्रोद्दीप्त करता है, वह रूप (Form) के प्रसंग में हमारी निर्णय-शक्ति के उद्देश्यों का हमारी उपस्थापन शक्ति के साथ कु-अनुकूलित होने और कल्पना का आधर्ष होने के रूप में प्रतिवाद करता हुआ प्रतीत हो सकता है और फिर भी वह उसी हेतु सर्वाधिक उदात्त निर्णीत किया जाता है।

इससे यह तत्काल देखा जा सकता है कि यदि हम प्रकृति के किसी भी विषय को उदात्त की संज्ञा देते हैं तो हम स्वयं अपने को सर्वोपरि रूप से अयथार्थ ढंग से व्यक्त करते हैं, हालाँकि हम ऐसे अनेक विषयों को पूर्ण औचित्य के साथ सुन्दर कह सकते हैं। क्योंकि उस वस्तु पर जो जन्मतः प्रतिचरम (Contra-final) रूप में ग्रहण की जाती है किस प्रकार अभिमति (Approval) की किसी शब्दावली के साथ ध्यान दिया जा सकता है। वह सब कुछ जो हम कह सकते हैं यह है कि विषय उस उदात्तता के काम आता है जो हमारे मन में खोजी जा सकती है: क्योंकि शब्द के यथायथ अर्थ में उदात्त किसी ऐन्द्रिक रूप (Sensuous form) में अन्तर्धारित नहीं किया जा सकता है बल्कि इसके बजाय वह उन तर्कबुद्धि प्रत्ययों

(Ideas of reason) से सम्बन्ध रखता है, जो, हालाँकि उनका कोई समुचित उपस्थापन सम्भव नहीं है, स्वयं उसी अनुपयुक्तता (Inadequacy) द्वारा प्रोद्दीप्त और मन में सृष्ट किये जा सकते हैं जो ऐन्द्रिक उपस्थापन को अवश्य स्वीकार करती है। इस प्रकार झंझावात क्षुब्ध विशाल समुद्र को उदात्त नहीं कहा जा सकता। उसका स्वरूप भीषण है, यदि इस प्रकार की कोई स्वानुभूति उसे उस अनुभूति के स्तर तक उठाना चाहती है जो स्वयं उदात्त ही है—उदात्त इसलिये क्योंकि वह मन की संवेदनशक्ति (Sensibility) का परित्याग करने और स्वयं अपने को उच्चतर चरमता द्योतित करने वाले प्रत्ययों (Ideas) में अभियोजित करने के लिये उकसाया गया है तो व्यक्ति ने अवश्य ही पहले से ही, अपने मन को प्रत्ययों के समृद्ध भण्डार से संचित कर रखा होगा।

आत्म-सत्तावस्थित प्राकृतिक सौन्दर्य हमारे सम्मुख प्रकृति की एक ऐसी रीति को उद्घाटित करता है जो इसे ऐसे नियमों के अनुसार व्यवस्थित तन्त्र के रूप में प्रदर्शित करता है जिनका सिद्धान्त हमारी सम्पूर्ण बुद्धिवृत्ति के क्षेत्र में अप्राप्य है। यह नियम गोचर-विषयों (Phenomena) के सम्बन्ध में निर्णय-विनियोग सम्बन्धी एक चरमता का है जो इस प्रकार मात्र निरुद्देश्य यान्त्रिकता समझी जाने वाली प्रकृति को ही नहीं बल्कि कला का साधर्म्य मानी जाने वाली प्रकृति को भी सौंपे जाने के लिये अपेक्षित है। अतएव यह निश्चय ही, हमारे प्रकृति-विषयों के ज्ञान को नहीं अपितु स्वयं हमारी प्रकृति सम्बन्धी धारणा को—मात्र यान्त्रिकता रूप प्रकृति के कला रूप प्रकृति में परिवर्द्धित होने को एक प्रकृति विस्तार प्रदान करता है—ऐसा विस्तार जो ऐसे रूप की सम्भावना के सम्बन्ध में गम्भीर पृच्छाओं का आह्वान करता है।

किन्तु जिस वस्तु में हम प्रकृतिगत उदात्त को अभिहित करने के आदी हैं उसमें किसी वस्तु का एक ऐसा अभाव है जो विशेष वस्तुनिष्ठ नियमों और प्रकृति के सम्वादी रूपों की दिशा में ले जाता है कि यह अपनी आकुलता अथवा अपने उच्छृङ्खलतम एवं अत्यन्त अनियमित क्रम एवं ऊजड़पन में होता है, बशर्ते यह महत्ता और शक्ति के लक्षण प्रदान करे यह कि प्रकृति प्रधानतः उदात्त के प्रत्ययों को उद्दीप्त करती है। अतएव हम देखते हैं कि प्रकृतिगत उदात्त की संकल्पना परिणामों में उसके सौन्दर्य की संकल्पना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण या समृद्ध है। सब मिलाकर यह स्वयं प्रकृतिगत किसी वस्तु का संकेत न प्रदान करके स्वयं हमारे भीतर प्रकृति से सर्वथा निरपेक्ष किसी चरमता की अनुभूति को अभि-प्रेरित करने में मात्र हमारी तत्सम्बन्धी स्वानुभूति के सम्भाव्य नियोजन (Possible employment) में किसी वस्तु का संकेत प्रदान करता है। प्रकृतिगत सौन्दर्य के हेतु हम स्वयं अपने से बाह्य किसी आधारभूमि की खोज करते हैं किन्तु उदात्त के

हेतु स्वयं अपने ही भीतर निहित आधारभूमि और एक ऐसी विचार-पद्धति (Attitude of mind) की खोज करते हैं जो उदात्तता को प्रकृति के प्रतिचित्र मे समाविष्ट करता है। यह एक अत्यन्त प्रयोजनीय प्राथमिक अभ्युक्ति है। यह उदात्त के प्रत्ययों को प्रकृति की चरमता (Finality) के प्रत्ययों से पूर्णतया पृथक् करती है और उदात्त के सिद्धान्त को प्रकृति की चरमता के सौन्दर्यपरक आकलन का उपांग बना देती है क्योंकि वह प्रकृतिगत किसी विशेष रूप का कोई प्रतिचित्र नहीं प्रदान करता बल्कि स्वयं उसी के प्रतिचित्र की कल्पना द्वारा किसी चरम नियोजन (Final employment) के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु को द्योतित नहीं करता।

उदात्त की अनुभूति की गवेषणा का अन्तर्विभाजन

उदात्त की अनुभूति के सम्बन्ध में विषयों के सौन्दर्यबोधपरक आकलन के परिच्छेदों के विभाजन में वैश्लेषिकी की प्रक्रिया उसी सिद्धान्त का अनुसरण करने में समर्थ होगी जिसका अनुसरण रुचि-निर्णायों में किया गया है। क्योंकि निर्णय के सौन्दर्यबोधपरक विमर्शात्मक निर्णय होने के कारण सुन्दरगत आनन्द की भाँति ही उदात्तगत आनन्द को अपने परिमाण में सार्वभौमतः मान्य, अपने गुण मे प्रयोजन-निरपेक्ष, अपने सम्बन्ध में व्यक्तिनिष्ठ चरमता और तदनन्तर अपनी रीति में अनिवार्य प्रदर्शित किया जाना चाहिए। अस्तु यहाँ की पद्धति उन विचार-पद्धतियों से पृथक् नहीं होती जिसका अनुसरण पूर्वगत खण्ड में किया है। जब तक कि कोई वस्तु इस तथ्य से निर्मित नहीं है कि वहाँ जहाँ कि सौन्दर्य-निर्णय विषय के स्वरूप से सम्बन्ध रखता है, हमने उसके गुण की गवेषणा से आरम्भ किया जब कि यहाँ उस स्वरूपहीनता पर विचार करते हुये जो उस वस्तु से सम्बद्ध हो सकती है जिसे हम उदात्त कहते हैं, हम उदात्त के सौन्दर्य-निर्णय पर विहित प्रथम परिच्छेद रूप इसके परिणाम की छानबीन से आरम्भ करते हैं—जो कि एक पद्धति-विच्युति है जिसका कारण स्वयं सिद्ध या स्वयं प्रकाशित स्वरूप है।

किन्तु उदात्त का विश्लेषण गणितानुसार उदात्त और गत्यात्मक दृष्टि से उदात्त संज्ञक एक ऐसे विभाजन के लिए बाध्य करता है जो सुन्दर के विश्लेषण द्वारा अपेक्षित नहीं है।

क्योंकि उदात्त की अनुभूति अपने गुणधर्मगत विशेषता के रूप में विषय के आकलन से युक्त एक मानसिक व्यापार को द्योतित करती है जब कि रुचि सुन्दरम् के सम्बन्ध में यह पूर्वकल्पित करती है कि मन प्रशान्त भावन की अवस्था में है और उसे इस अवस्था में बनाए रखती है। किन्तु यह व्यापार व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से चरम (Final) आकलित होने के लिये अपेक्षित है (क्योंकि उदात्त आनन्दित

करता है)। अतएव इसका सम्बन्ध कल्पना द्वारा या तो संज्ञान शक्ति (Faculty of cognition) के साथ निर्दिष्ट किया जाता है या इच्छा शक्ति (Faculty of desire) के साथ; किन्तु सन्दर्भ-निर्देश चाहे जिस मनः शक्ति के साथ किया जाय निर्दिष्ट प्रतिरूप विशेष का आकलन (किसी भी उद्देश्य अथवा प्रयोजन से पृथक्) केवल इन्हीं वृत्तियों के सम्बन्ध में किया जाता है। तदनुसार प्रथम को गणितानुसारी रूप में विषय पर आरोपित किया जाता है और द्वितीय को गत्यात्मक कल्पना-धर्म रूप में ; अस्तु उदात्त रूप में किसी वस्तु—को प्रतिचित्रित करने की हम उपर्युक्त द्वैध रीतियाँ पाते हैं।

अ. गणितानुसारी उदात्त

उदात्त पद की परिभाषा

उदात्त उस वस्तु को प्रदान की जाने वाली संज्ञा है जो निरपेक्षतः महान् है। किन्तु महान् होना और परिमाणतः विशाल होना सर्वथा भिन्न प्रत्यय हैं। इसी प्रकार यह दावा करना कि बिना योग्यता (बिना अभिप्राय) के कोई वस्तु महान् है यह कहने से सर्वथा एक भिन्न चीज है कि वह निरपेक्षतः महान् है। परवर्ती वह वस्तु है जो सर्व तुलनातीत रूप से महान् है। तो फिर इस स्थापना का क्या अर्थ है कि कोई वस्तु महान् या लघु अथवा मध्यम आकार की है ? जिस वस्तु का संकेत मिलता है वह बुद्धि की कोई विशुद्ध संकल्पना न होकर उससे भी हीन एक इन्द्रिय स्वानुभूति है और इस प्रकार हीन होने के कारण तर्कबुद्धि की एक संकल्पना है क्योंकि यह संज्ञान के किसी भी नियम को उपलक्षित नहीं करती। अतएव यह अवश्य ही एक निर्णय-संकल्पना है अथवा किसी निर्णय-संकल्पना से उद्भूत हुई है और निर्णय शक्ति के विषय में निर्णयाधार रूप प्रतिरूपण की व्यक्तिनिष्ठ चरमता को प्रस्तुत करती है। सजातीय वस्तुओं के एक बाहुल्य विशेष को किसी एक वस्तु का संघटन करते देखकर हम तत्क्षण स्वयं वस्तु से ही यह संज्ञान कर सकते हैं कि वह एक परिमाण-विस्तार है। अन्य वस्तुओं के साथ कोई भी तुलना अपेक्षित नहीं है। किन्तु यह निर्धारित करने के लिये कि वह कितनी महान् है सदैव किसी वस्तु की अपेक्षा होती है जो अपने आप के लिये स्वयं परिणामवर्ती है। अब चूँकि परिणाम के आकलन में हमें केवल बाहुल्य (इकाइयों की संख्या) पर ही नहीं अपितु इकाई (मान) के परिमाण पर भी ध्यान देना पड़ता है और चूँकि इस इकाई का परिमाण बदले में अपने प्रतिमान (Measure) और अपनी तुलना के मापदण्ड इत्यादि के रूप में सदैव किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा रखता है अस्तु हम देखते हैं कि सभी दशाओं में प्रपंचों (Phenomena) की महत्ता की संगणना हमें महत्ता की किसी निरपेक्ष संकल्पना को प्रदान करने में नितान्त असमर्थ है,

बजाय इसके वह हमें एक ऐसी संकल्पना प्रदान कर सकती है जो सदैव तुलना पर आधारित है।

अब यदि मैं यह दावा करूँ कि बिना योग्यता (Qualification) के कोई वस्तु महान् है तो यह प्रतीत होगा कि तुलना क दृष्टि से हमारे मन में कुछ भी नहीं है अथवा कम से कम किसी वस्तुनिष्ठ माप को द्योतित करने वाली कोई भी वस्तु नहीं है; क्योंकि इस प्रकार से यह निर्धारित करने के लिये कि वस्तु कितनी महान् है कोई भी प्रयत्न नहीं किया जाता। किन्तु तुलना के मानदण्ड के मात्र व्यक्तिनिष्ठ होते हुये भी निर्णय का दावा सार्वभौम मतैक्य से कुछ भी कम नहीं है; मनुष्य सुन्दर है और वह लम्बा है, आदि निर्णय केवल निर्णाता विषयी की हिमायत करने का ही आशय नहीं रखते बल्कि सैद्धान्तिक-निर्णयों की भाँति वे प्रत्येक व्यक्ति की सहमति की माँग करते हैं।

अब किसी ऐसे निर्णय में जो बिना योग्यता के किसी वस्तु को महान् वर्णित करता है मात्र यही अभिप्रेत नहीं होता कि विषय या वस्तु महत्तायुक्त है बल्कि अनेक तद्वत् विषयों के बीच महत्ता का उस पर सातिशयेन आरोपण हो जाता है यहाँ तक कि इस सातिशयता की सीमा के बिना निर्धारित हुये ही। अतएव निर्णय के आधार पर निश्चय ही एक मानदण्ड की स्थापना हो जाती है जो कि एक ऐसा मानदण्ड होने के लिये पूर्वकल्पित है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक-सा ही ग्रहण किया जा सकता है किन्तु जो मात्र महत्ता के ही किसी सौन्दर्यपरक आकलन के लिए उपलब्ध है और किसी ऐसे आकलन के लिए नहीं जो तर्कमूलक (गणितानुसार निर्धारित हो) क्योंकि मानदण्ड महत्ता के चिन्तनात्मक निर्णय में अन्तर्निहित मात्र एक व्यक्तिनिष्ठ मानदण्ड है। पुनश्च यह मापदण्ड (Standard) आनुभविक भी हो सकता है यथा आइए, हम कहें हमें ज्ञात मनुष्यों का, किसी विशेष प्रकार के पशुओं का, पेड़ों का और घरों आदि का औसत आकार अथवा यह कोई अनुभव-निरपेक्ष मापदण्ड हो सकता है जो निर्णाता विषयी की अपूर्णताओं के कारण उपस्थापन की व्यक्तिनिष्ठ परिस्थितियों तक सीमित है : जैसे व्यावहारिक क्षेत्र में किसी विशेष गुण (Virtue) की महत्ता अथवा किसी देश में जन-स्वातन्त्र्य और न्याय की महत्ता अथवा सैद्धान्तिक क्षेत्र में जैसे किसी प्रयोग अथवा माप की यथातथ्यता अथवा अयथातथ्यता इत्यादि।

अब यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि हम विषय में किसी प्रकार की कोई अभिरुचि नहीं रखते अर्थात् ऐसा भी हो सकता है कि उसकी यथार्थ सत्ता हमारे लिये किसी भी प्रकार की चिन्ता का विषय न हो फिर भी यहाँ तक कि स्वरूप-शून्य मानी जाने वाली उसकी निरी महत्ता ही एक सार्वभौमत सम्प्रेषणीय आनन्द का वहन करने में समर्थ है और इसीलिये हमारी वृत्तियों (Cogni

tive faculties) के नियोजन में किसी व्यक्तिनिष्ठ चरमता की चेतना को द्योतित करती है। किन्तु यह स्मरण रहे कि वह किसी वस्तुगत आनन्द को द्योतित नहीं करती क्योंकि परवर्ती स्वरूप-शून्य हो सकती है किन्तु सुन्दरम् के साथ घटित होने वाली उस स्थिति के विरोध में, जहाँ कि चिन्तनात्मक निर्णय स्वयं को एक ऐसे समाधान के सादृश्य में पाता है जो सामान्यतः संज्ञान के सम्बन्ध में चरम (Final) है, एक ऐसे विस्तार में एक आनन्द है जो स्वयं कल्पना को ही अभिभूत कर लेता है।

यदि (उपर्युक्त विषयी रूप में) हम बिना योग्यता के किसी विषय के लिये यह कहें कि वह महान् है तो यह गणितानुसार निश्चायक निर्णय न होकर अपने उस प्रतिचित्रण के ऊपर विहित मात्र विमर्शात्मक निर्णय है जो परिमाण के आकलन के सम्बन्ध में हमारी संज्ञानात्मक शक्तियों के एक विशेष अधियोजन के लिए व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से चरम (Final) है और हम प्रतिरूपण के साथ ठीक उसी प्रकार सदैव एक प्रकार की श्रद्धा को युक्त करते हैं जिस प्रकार हम उस वस्तु के साथ एक प्रकार की उपेक्षा को युक्त करते हैं जिसे हम लघु कहते हैं—इसके अतिरिक्त महान् अथवा लघु रूप में वस्तुओं का आकलन फैलकर हर वस्तु तक पहुँचता है यहाँ तक कि उसके समस्त गुणों तक भी। इस प्रकार हम उनके सौन्दर्य को भी महान् अथवा लघु कहते हैं इसका कारण इस तथ्य में प्राप्य है कि हमें किसी वस्तु को उसकी समग्रता में उसके गोचर और अतएव एक परिमाण होने के कारण, जैसा कि निर्णय को नियमादेश निर्देशित करता है, केवल सहानुभूति में प्रस्तुत करना होता है (परिणामतः सौन्दर्यबोधपरक रूप से उसका प्रतिरूपण करना होता है)।

यदि फिर भी हम किसी वस्तु को मात्र महान् ही नहीं बल्कि योग्यता-शून्य कहें; निरपेक्षतः और प्रत्येक दृष्टि से (सब प्रकार की तुलना के परे) महान् अर्थात् उदात्त कहें तो हम शीघ्र ही देखते हैं कि उसके लिये उसके बाहर किसी उपयुक्त मानदण्ड की खोज करना उचित न होकर केवल स्वयं उसी के अन्तर्गत खोजना उचित है। यह एक ऐसी महत्ता है जो स्वयं अपने ही साथ तुलनीय है। अतएव जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि उदात्त प्रकृति की वस्तुओं में गवेषणीय न होकर स्वयं हमारे ही विचारों में गवेषणीय है। किन्तु इस तथ्य को निगमन के लिये छोड़ देना चाहिए कि वह उनमें से किसमें निहित है।

उपर्युक्त परिभाषा इस प्रकार भी व्यक्त की जा सकती है : उदात्त वह है जिसकी तुलना में अन्य सब कुछ स्वल्प है। यहाँ हम तत्काल यह देखते हैं कि प्रकृति में कोई भी वस्तु, चाहे हम उसके कितना ही महान् होने का निर्णय क्यों न करें निर्दिष्ट नहीं की जा सकती, नहीं किसी और सम्बन्ध में ग्रहण की जाने पर

अनन्ततः लघु के स्तर पर परिभ्रष्ट नहीं हो सकती और कोई भी इतनी लघु वस्तु किसी उससे भी अधिक लघुतर मानदण्ड की तुलना में हमारी कल्पना के लिए किसी जगत् की महत्ता तक परिवर्द्धित नहीं हो सकती। दूरवेक्षण यन्त्रों ने प्रथम निरीक्षण के निष्कर्ष निकालने के लिए हमारी पहुँच के भीतर विपुल द्रव्यराशि रख दी है और अणुवीक्षण यन्त्रों ने यही काम हमारे द्वितीय निरीक्षण के निष्कर्षण के हेतु किया है। अतएव इस धरातल पर निरूपित किये जाने पर कोई भी वस्तु जो इन्द्रियों का विषय हो सकती है उदात्त के नाम से अभिधेय नहीं है। किन्तु यथार्थतः चूँकि हमारी कल्पना में अनन्तता के प्रति एक संघर्षपूर्ण प्रयास है जब कि तर्कबुद्धि एक यथार्थ प्रत्यय (Real idea) के रूप में निरपेक्ष साकल्य (Absolute totality) की माँग करती है, इन्द्रिय जगत् की वस्तुओं के परिमाण का आकलन करने वाली वृत्ति की ओर से ठीक वही अयोग्यता इस प्रत्यय को उपलब्ध करने के लिये हमारे भीतर एक अतीन्द्रिय-वृत्ति की अनुभूति का जागरण है : और यह वह उपयोग है जिसके लिये इस परवर्ती अनुभूति की ओर से निर्णय स्वभावतः उस इन्द्रिय विषय को नहीं वरन् विशेष विषयों को प्रस्तुत करता है। जो निरपेक्षतः महान् है और जिसके साथ प्रत्येक वैषम्य दर्शित नियोजन लघु है। परिणामतः वह वस्तु जिसे उदात्त कहा जाता है विमर्शात्मक निर्णय के अवधान को अभियोजित करने वाले किसी विशेष प्रतिचित्रण द्वारा उद्बोधित आत्मा की अवस्था ही है।

अतएव उदात्त को परिभाषित करने वाला पूर्वगामी सूत्र फिर भी एक अन्य सूत्र से अनुपूरित हो सकता है : उदात्त चिन्तन की वह शक्ति मात्र है जो इन्द्रिय के प्रत्येक मापदण्ड का अतिक्रमण करने वाली मनःशक्ति का साक्ष्य देती है या उसे सिद्ध करती है।

उदात्त के प्रत्यय के लिये अपेक्षित प्राकृतिक वस्तुओं के परिमाण का आकलन

संख्या (अथवा बीजगणित में उनके चिन्हों) की संकल्पनाओं द्वारा परिमाण या महत्ता का आकलन गणित शास्त्रीय है किन्तु मात्र स्वानुभूति में (नेत्र द्वारा) सौन्दर्यानुभूतिपरक है। संख्याओं का आश्रय लेकर (अथवा किसी प्रकार अनन्तता की दिशा में प्रगतिशील सांख्यिक क्रमों द्वारा निश्चित निकटतम माप पाकर) इकाई के माप रूप में बने रहते हुये हम केवल इस तथ्य की निश्चित संकल्पनाएँ प्राप्त कर सकते हैं कि कोई वस्तु कितनी महान् है; और इस सीमा तक परिमाण या महत्ता का सारा आकलन गणितशास्त्रीय है किन्तु चूँकि माप की महत्ता को एक ज्ञात गुण कल्पित करना अपेक्षित है, अस्तु यदि उसका कोई आकलन करना हो तो हमें पुनः अपनी इकाई के लिए एक अन्य मापदण्ड को अन्तर्विष्ट करने वाली संख्याओं का आश्रय लेना होगा और परिणामतः पुनः गणितशास्त्रीय रीति से आगे बढ़ना पड़ेगा. हम किसी प्रथम अथवा मूलभूत माप पर कभी नहीं पहुँच सकते और इसीलिए

किसी निर्दिष्ट महत्ता की कोई निश्चित संकल्पना नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव मूलभूत माप के परिमाण का आकलन मात्र उस अव्यवहित ग्रहण में निहित होता है जिसे हम इसके सम्बन्ध में स्वानुभूति में प्राप्त कर सकते हैं और सांख्यिक संकल्पनाओं के उपस्थापन में हमारी कल्पना इसे जिस उपयोग में ला सकती है वह अर्थात् प्रकृति-विषयों की महत्ता का सारा आकलन अन्तिम प्रयत्न के रूप मे-सौन्दर्यानुभूतिपरक (अर्थात् वस्तुनिष्ठ रूप से निर्धारित न होकर व्यक्तिनिष्ठ रूप से निर्धारित) है।

अब परिमाण या महत्ता के गणितीय आकलन के लिए निश्चय ही कोई भी यथासम्भव महत्तम वस्तु नहीं है (क्योंकि संख्याओं की शक्ति बढ़कर अनन्तता तक पहुँचती है) किन्तु सौन्दर्यबोधपरक आकलन के लिये अवश्यमेव ऐसी वस्तु है और उसके लिये मैं यह कहता हूँ कि जहाँ यह एक ऐसे निरपेक्ष माप के रूप मे ग्रहण की जाती है जिसके परे व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से (अर्थात् निर्णेता विषयी के लिये) अपेक्षाकृत कोई अधिक महान् वस्तु सम्भव नहीं है वहाँ वह उदात्त के प्रत्यय को वहन करती है और उस भावसंवेग को प्रकट करती है जिसको संख्याओं द्वारा महत्ताओं का कोई भी गणितीय आकलन उद्बोधित नहीं कर सकता (जब तक जिस सीमा तक कि मूलभूत सौन्दर्यबोधपरक माप कल्पना में स्पष्टतः स्थित नहीं रखा जाता), क्योंकि परवर्ती तत्सदृश अन्यों के साथ तुलना के कारण मात्र सापेक्ष महत्ता को प्रस्तुत करता है जब कि पूर्ववर्ती जिस सीमा तक कि वह उसे स्वानुभूति में ग्रहण कर सकता है, निरपेक्षतः परिमाण को प्रस्तुत करता है।

संख्याओं द्वारा परिमाण का आकलन करने के लिए एक माप अथवा इकाई के रूप में उसका उपयोग करने में समर्थ होने के लिये स्वानुभूत्या कल्पनान्तर्गत किसी महत्ता की प्रवंचना करना इस वृत्ति के दो व्यापारों को द्योतित करता है; बोध (Apprehensio) और अवधारणा (Comprehensio aesthetica)। बोध कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं करता : क्योंकि यह प्रक्रिया अनन्तता तक पहुँचाई जा सकती है किन्तु बोध की प्रगति के साथ अवधारणा पदे-पदे अपेक्षाकृत अधिकाधिक दुर्बोध होती जाती है और शीघ्र ही अपनी पराकाष्ठा हर पहुँच जाती है और सौन्र्यबोधपरक दृष्टि से यही महत्ता के आकलन की सबसे बड़ी मूलभूत माप है। क्योंकि यदि बोध एक ऐसे विन्दु पर पहुँच गया है जिसके बाहर पूर्व-बोधित (First apprehended) अंगों की स्थिति में ऐन्द्रिक स्वानुभूति के प्रतिचित्र त्यों-त्यों कल्पना से निरीभूत होने लगते हैं ज्यों-ज्यों यह और भी अन्य प्रतिचित्रों के बोध की दिशा में बढ़ती जाती है; एक ओर जितनी हानि होती है दूसरी ओर उतनी ही उपलब्धि हो जाती है और अवधारणा के लिए हम एक ऐसी अधिकतम वस्तु को पा लेते हैं कल्पना जिसकी नहीं हो सकती

यह तथ्य सैबरी द्वारा किये गये मिश्र के वर्णन में उसके इन निरीक्षणों की व्याख्या करता है कि पिरामिडों के पूर्ण भावात्मक प्रभाव को प्राप्त करने के लिये हमें उनसे अति सन्निकट आने से उतना ही बचना चाहिए जितना कि उनसे अति दूर रहने से। क्योंकि दूसरी स्थिति में अवबोधित अंगों (पत्थरों की पंक्तियों) का प्रतिचित्र नितान्त अस्फुट रह जाता है और विषयी या द्रष्टा के सौन्दर्य-निर्णय (Aesthetic judgment) पर उसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। पहली स्थिति मे वह फिर भी बोध को सम्पन्न करने के हेतु कुछ समय के लिये दृष्टि को तल से लेकर शिखर तक ले जाता है; किन्तु इस मध्यान्तर में इसके पहले कि कल्पना अन्तिम पंक्ति को छल चुके प्रारम्भिक पंक्तियाँ अंशतः तिरोभूत हो जाती हैं और इसीलिये अवधारणा कभी भी पूर्ण नहीं हो पाती—ठीक यही व्याख्या उस सम्भ्रम (Bewilderment) अथवा वैक्लव्य के प्रकार विशेष के लिये भी उत्तरदायी है जो जैसा कि कहा जाता है, पेटर के द्रष्टा को रोम में प्रथम बार प्रवेश करते ही अभिभूत कर लेता है। क्योंकि यहाँ एक ऐसे पूर्ण (Whole) के प्रत्यय (Idea) को उपस्थित करनेवाली उसकी कल्पना के अनौचित्य की अनुभूति उसे अत्यन्त प्रभावित करती है जिसके अन्तर्गत वह कल्पना अपनी चरम स्थिति पर पहुँच जाती है और इस सीमा को विस्तारित करने के अपने निष्फल प्रयासों में स्वयं अपने में ही सिमट कर रह जाती है किन्तु ऐसा करने में वह एक भावात्मक आनन्द से अभिभूत हो उठती है।

सम्प्रति मैं एक ऐसे प्रतिचित्रण से स्वभावतः सम्बद्ध इस आनन्द की आधारभूमि का निरूपण करने में प्रवृत्त नहीं हूँ जिसके अन्तर्गत हम सबसे कम इसका सन्धान करते हैं—अभिधानतः एक ऐसा प्रतिचित्रण जो हमें स्वयं अपना अनौचित्य और परिणामतः परिमाण या महत्ता के आकलन में हमारे निर्णय के लिये चरमता के व्यक्तिनिष्ठ अभाव को देखने देता है—किन्तु स्वयं मुझे इस अभ्युक्ति (Remark) तक सीमित रखता है कि यदि सौन्दर्य-निर्णय को विशुद्ध (किसी ऐसे उद्देश्यमूलक निर्णय से असम्पृक्त, जो अपने यथावत् रूप में तर्कबुद्धि के अन्तर्गत आता है) होना है और यदि "सौन्दर्य निर्णय की मीमांसा," के लिये हम इसका कोई उपयुक्त उदाहरण देना चाहते हैं तो हमें न तो कलाकृतियों अर्थात् इमारतों, मूर्तियों आदि मे, जहाँ कि कोई मानवी उद्देश्य रूप और महत्ता दोनों को निर्धारित करता है, उदात्त को निर्दिष्ट करना चाहिए और न प्रकृति की वस्तुओं में ही, जो अपनी हर एक सकल्पना में एक निश्चित उद्देश्य को अर्थात् जैसे प्राणि स्वीकृत प्राकृतिक नियम को उपलक्षित करती है बल्कि हमें उसको मात्र महत्ता को अन्तर्विष्ट करने वाली असंस्कृत अनगढ़ प्रकृति में निर्दिष्ट करना चाहिए (और उसमें भी मात्र उसी हद तक जिस हद तक कि वह वास्तविक सघात से उद्भूत होने वाले किसी

अथवा भाव को वहन नहीं करती)। क्योंकि इस प्रकार के किसी प्रतिचित्र में प्रकृति कोई भी पैशाचिक तत्व अन्तर्धारण नहीं करती (और न उसी वस्तु को अन्तर्धारण करती है जो भग्न अथवा भीषण है)—अवबोधित परिमाण को किसी भी सीमा तक बढ़ाया जा सकता है बशर्ते कल्पना उस सबको एक सम्पूर्ण वस्तु के रूप में ग्रहण करने में समर्थ हो। कोई विषय वहाँ पैशाचिक होता है जहाँ वह अपने आकार द्वारा उस उद्देश्य को पराभूत कर देता है जो उसकी संकल्पना का निर्माण करता है। भीमाकार किसी संकल्पना की प्रस्तुति मात्र है जो उपस्थापना के लिये अत्यधिक बृहत्—असाध्य है अर्थात् वह सापेक्षतः पैशाचिक की सीमा तक पहुँचता है क्योंकि किसी संकल्पना की उपस्थापना द्वारा प्राप्तव्य उद्देश्य हमारी बोधवृत्ति के लिये अशक्य रूप से अत्यधिक बृहत् विषय की स्वानुभूति द्वारा उपलब्ध करने में अपेक्षाकृत अधिक दुष्कर कर दिया जाता है। कुछ भी हो उदात्त पर विहित किसी समीक्षा को, यदि उसे बुद्धि के किसी निर्णय अथवा तर्कबुद्धि से दूषित न होकर सौन्दर्यानुभूति विषयक होना है तो उसके पास उसकी (उद्देश्य की) निर्धारिणी आधारभूमि रूप विषय से सम्बन्ध रखने वाला कोई उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

चूँकि कामना या प्रयोजन से पृथक्, जो कुछ भी निरे विमर्शात्मक निर्णय के आनन्द का स्रोत हो सकता है वह अपने प्रतिचित्रण में व्यक्तिनिष्ठ और यथावत् सार्वभौमतः मान्य चरमता को अवश्य द्योतित करता है, यद्यपि यहाँ फिर भी हमारे द्वारा विहित होने वाले उसके आकलन में विषय के स्वरूप की कोई भी चरमता अन्तर्निहित नहीं होती (जैसा कि सुन्दरम् की स्थिति में वह अनिवार्यतः होती है)—प्रश्न उठता है "व्यक्तिनिष्ठ चरमता क्या है और वह कौन सी वस्तु है जो इसे परिमाण के निरे प्राक्कलन में सार्वभौमतः मान्य आनन्द की आधारभूमि की सृष्टि करने के लिये एक प्रतिमान के रूप में विहित होने योग्य बनाती है और वह भी एक ऐसी स्थिति में जहाँ कि वह उस बिन्दु तक धकेल दी जाती है जिस पर पहुँच कर हमारी कल्पनाशक्ति किसी परिमाण की संकल्पना को प्रतिरूपित करने में ध्वस्त हो जाती है और अपने कार्य के लिए हीन सिद्ध होती है। महत्ताओं के प्रतिचित्रण (Representation) के लिये अपेक्षित इकाइयों के क्रमिक योग (Successive aggregation) में कल्पना स्वतः बिना बाधा अथवा व्याघात के अनन्तता की ओर अग्रसर होती है। बुद्धि जैसे भी हो, उसे उन संख्या-संकल्पनाओं द्वारा परिचालित करती है जिसके लिये पूर्ववर्ती निश्चय ही आयोजना प्रदान करती है। यह प्रक्रिया परिमाण के अन्वीक्षात्मक आकलन से सम्बन्ध रखती है और इस रूप में यह किसी उद्देश्य-संकल्पना के अनुसार निस्सन्देह वस्तुनिष्ठ रूप से कोई लक्ष्य (Final) वस्तु है। जैसा कि सारे मान होते हैं किन्तु यह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सौन्दर्य निर्णय के लिये लक्ष्य या यिनी हो इसके आगे इस साभि

प्राय चरमता में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हमें अपनी कल्पना की अधिकतम शक्तियों पर अधिक जोर देने के लिये उस सीमा तक बाध्य करती हो जिस सीमा तक वह अपने प्रतिरूपों में कभी पहुँच सकती हो जिससे कि वह प्रतिमान (Measure) के आकार को परिवर्द्धित कर सके और अनेक को एक में (अवधारणा) धारण करने वाली एकाकी स्वानुभूति को उतना वृहत् बना सके जितना कि सम्भव है। क्योंकि बुद्धि (गणित) द्वारा परिमाण के आकलन में हम केवल इतनी दूर तक पहुँचते हैं कि क्या इकाइयों की अवधारणा संख्या १० तक धकेल दी जाती है (जैसा कि दशमलव के मान में होता है) परिमाण की इससे आगे की सृष्टि इकाइयों के आनुक्रमिक योग (Successive Aggregation) द्वारा अथवा यदि परिमाण स्वानुभूति मे निर्दिष्ट किया गया है तो बोधवृत्ति द्वारा सम्पादित की जाती है प्रगति के एक गृहीत नियम के अनुसार मात्र (व्यापक रूप से नहीं) परिमाण के इस गणितीय आकलन मे हर एक स्थिति से परिमाण का अन्वीक्षात्मक आकलन अनन्तता की दिशा मे बढता है उसे कोई रोक नहीं सकता।

जो भी हो मन अब उस तर्कबुद्धि की आवाज को ध्यान देकर सुनता है जो सारे निर्दिष्ट परिमाणों के लिये, यहाँ तक कि उन महत्ताओं के लिये भी जो कभी भी पूर्णतया अवबोधित नहीं की जा सकती यद्यपि (ऐन्द्रिक प्रतिच्चित्रण में) पूर्णतया निर्दिष्ट रूप में आकलित की जाती हैं, साकल्य की और परिणामतः एक स्वानुभूति में अवधारणा की अपेक्षा रखती है और जो क्रमशः उपचीयमाण उपर्युक्त सारी सांख्यिक शृंखलाओं की सम्वादिनी उपस्थापना (Presentation) की माँग करती है और यहाँ तक कि अनन्त (देश और काल) को भी इस माँग से मुक्त नहीं करती बल्कि हमारे लिए इस अनन्त को (सामान्य बोध के निर्णय में) पूर्णतया निर्दिष्ट (अपनी साकल्प में निर्दिष्ट) मानना अपरिहार्य बना देती है।

किन्तु अनन्त निरपेक्षतः (केवल तुलनात्मक दृष्टि से ही नहीं) महान् है। उसकी तुलना में (उसी प्रकार के परिमाणों की दृष्टि से) अन्य सब कुछ ही लघु है। किन्तु प्रधान महत्व का तथ्य यह है कि उसे एक पूर्ण वस्तु के रूप मे सोचने की भी निरी क्षमता इन्द्रिय के प्रत्येक मानदण्ड का अतिक्रमण करने वाली एक मानसवृत्ति को निर्दिष्ट करती है। क्योंकि परवर्ती संख्याओं के अभिव्यंजनीय अनन्त के एक निश्चित अनुपात (Ratio) को धारण करने वाले इकाई रूप एक मापदण्ड को उत्पन्न करने वाली एक ऐसी अवधारणा की सृष्टि करेगा जो असम्भव है। फिर भी बिना अन्तर्विरोध के निर्दिष्ट अनन्त (Given infinite) को सोचने को भी निरी क्षमता एक ऐसी वस्तु है जो मानव मानस में एक ऐसी वृत्ति या शक्ति (Faculty) का उपस्थिति की अपेक्षा रखती है जो स्वयं अतीन्द्रिय (Super sensible) है क्योंक केवल इसी वृत्ति और इसके ... प्रत्यय (Idea

of a Noumen) के द्वारा ही, जो कि बाद में स्वतः किसी स्वानुभूति को स्वीकार न करने पर भी एकमात्र प्रपंच (Phenomenon) रूप जगत् की स्वानुभूति में अन्तर्निहित एक मूल पदार्थ (Substrate) में प्रस्तुत किया जाता है, परिमाण के विशुद्ध बौद्धिक आकलन में इन्द्रिय जगत् अनन्त की एक संकल्पना के अन्तर्गत पूर्णतया बोधगत हो जाता है, यद्यपि गणितीय आकलन में सांख्यिक संकल्पनाओं के द्वारा यह पूर्णतया कभी भी नहीं सोचा जा सकता। यहाँ तक कि (अपने बुद्धिग्राह्य मूलपदार्थ में) निर्दिष्ट समझे जाने वाले अतीन्द्रिय स्वानुभूति के अनन्त को समर्थ बनाने वाली वृत्ति संवेदनशक्ति (Sensibility) के प्रत्येक मानदण्ड (Standard) का अतिक्रमण कर जाती है और सारी तुलना से परे यहाँ तक कि गणितीय आकलन की वृत्ति की तुलना में भी महान् है : निश्चय ही उस किसी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से नहीं जो हमारी ज्ञानवृत्ति के प्रयोजनों पर ध्यान देती है बल्कि मन के एक ऐसे विस्तारण के रूप में जो एक अन्य (व्यावहारिक) दृष्टिकोण से स्वयं अपने को संवेदनशक्ति की संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण कर जाने मे सामर्थ्यवान अनुभव करती है।

अतएव प्रकृति अपने ऐसे गोचर-विषयों या प्रपञ्चों में उदात्त है जो अपनी स्वानुभूति में अपनी अनन्तता के प्रत्यय (Idea) को वहन करते हैं। किन्तु यह तथ्य केवल किसी विषय के परिमाण के आकलन में हमारी कल्पना के चरम प्रयास की भी अनुपयुक्तता द्वारा ही घटित हो सकता है। किन्तु अब परिमाण के गणितीय आकलन की स्थिति में कल्पना किसी भी विषय की माँगों के अनुकूल माप प्रदान करने मे नितान्त समर्थ है। क्योंकि बुद्धि की सांख्यिक संकल्पनाएँ क्रमिक समन्वय द्वारा किसी भी निर्दिष्ट परिमाण के उपयुक्त किसी भी माप का निर्माण कर सकती हैं। अतएव वह अवश्य ही परिमाण का सौन्दर्यानुभूतिपरक आकलन है जिसमें हम तत्काल एक ऐसी अवधारणा (Comprehension) की दिशा में प्रवृत्त प्रयास की अनुभूति पाते हैं जो एक पूर्ण स्वानुभूति में क्रमिक बोध (Progressive opprehension) को मानसिक, रूप में ग्रहण करने के लिये कल्पनावृत्ति का अतिक्रमण कर जाती है और इसके साथ ही इस वृत्ति की अनुपयुक्तता का प्रत्यक्ष ज्ञान पाते हैं। परिमाण के आकलन के हेतु के एक ऐसे मूलभूत प्रतिमान (Measure) को ग्रहण करने और व्यवहार में लाने के लिये जो अपनी प्रगति की कोई सीमा नहीं रखती, जिसको बुद्धि बिना ज़रा भी कठिनाई के आकलन कर सकती है। अब प्रकृति का स्वीय अपरिवर्तनीय मूलभूत प्रतिमान उसका वह निरपेक्ष पूर्ण है जो इसके साथ ही जो कि गोचर पदार्थ माना जाता है, बोधगत अनन्तता का अर्थ रखता है। किन्तु चूँकि यह मूलभूत प्रतिमान एक आत्म विरोधी संकल्पना है (एक अन्तहीन प्रगति की निरपेक्ष समष्टि की　　　　के परिणाम स्वरूप) जिसका तात्पर्य यह होता है कि जहाँ

प्राकृतिक विषय का आकार ऐसा होता है कि कल्पना अपनी सम्पूर्ण अवधारणावृत्ति को उसके ऊपर वृथा ही व्यय कर देती है वहाँ यह हमारी प्रकृति-विषयक संकल्पना को अवश्य ही ऐसे अतीन्द्रिय मूलपदार्थ (प्रकृति और हमारी चिन्तनशक्ति दोनों मे अन्तर्निहित) तक वहन करती है जो इन्द्रिय के हर एक मानदण्ड (Standard) से परे महान् है। इस प्रकार बजाय विषय के यह उसके मूल्यांकन में प्रवृत्त मन का स्वभाव है जिसको हमें उदात्त के रूप में आकलित करना होता है।

अतएव जिस प्रकार सुन्दरम् के अपने आकलन में सौन्दर्य-निर्णय अपने स्वतन्त्र-व्यापार में प्रवृत्त कल्पना का, परवर्ती की संकल्पनाओं के साथ, उनके निर्धारण से पृथक्, सामान्यतः उनके मेल को व्यक्त करने के लिए बुद्धि से सम्बन्ध जोड़ती है उसी प्रकार उदात्त के रूप में किसी वस्तु के अपने आकलन में तर्कबुद्धि के प्रत्ययों के व्यक्तिनिष्ठ मेल को व्यक्त करने के लिये वह उस वृत्ति का (अनिर्दिष्टतः निर्दिष्ट) तर्कबुद्धि से सन्दर्भ निर्देश करती है : अर्थात् वह ऐसा उस मनःस्थिति के अनुरूप एक मनःस्थिति को उभारने के लिये करती है जिसे निश्चित (व्यावहारिक) प्रत्ययों का प्रभाव अनुभूति के ऊपर और उसके सामञ्जस्य में उत्पन्न करेगा।

इससे यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि वास्तविक औदात्य मात्र निर्णेता विषयी के मन में ही खोजा जाना चाहिए और प्रकृति के उस विषय (Object) में नहीं खोजा जाना चाहिए जो उसके विहित आकलन द्वारा इस मनःस्थिति (Attitude) को घटित करता है। कौन व्यक्ति, अपनी हिमस्तूप-मण्डित उद्दाम अस्तव्यस्तता में एक दूसरे को अतिक्रान्त करने वाली बेडौल शैलमालाओं अथवा अन्धकारमय झंझा-क्षुब्ध सागर अथवा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के लिये 'उदात्त' शब्द का प्रयोग करेगा। किन्तु उनके स्वरूप से सर्वथा निरपेक्ष भाव से उनके भावन (Contemplation) में मन स्वयं अपने को कल्पना और हालाँकि किसी भी निश्चित उद्देश्य से सर्वथा पृथक् उनके संयम में प्रस्थापित किसी तर्क पर और केवल उसके दृष्टि-प्रसारण पर छोड़ देता है और अब भी कल्पना की सम्पूर्ण शक्ति को अपने प्रत्ययों से असमान पाने पर यह स्वयं अपने ही द्वारा अपने आकलन से स्वयं को उन्नत अनुभव करता है।

हम गणित की दृष्टि से प्रकृतिगत उदात्त के दृष्टान्त निरी स्वानुभूति में उन समस्त उदाहरणों में पाते हैं जहाँ हमारी कल्पना को एक विशाल इकाई के रूप में एक वृहत्तर सांख्यिक संकल्पना नहीं प्रदान की जाती है जितना कि प्रतिमान (Measure) प्रदान किया जाता है (सांख्यिक शृङ्खलाओं को कम करने के लिये) मनुष्य की ऊँचाई द्वारा निर्मित एक वृक्ष सभी अवसरों पर पर्वत के लिये एक माप दण्ड प्रदान करता है और इसे कल्पित करके कह लीजिए कि एक मील ऊँचा या

पृथ्वी के व्यास को व्यक्त करने वाली संख्या के लिए इकाई का काम कर सकता है इसलिए जिससे कि वह इसे स्वानुभूति ग्राह्य बना सके। ठीक उसी प्रकार पृथ्वी का व्यास ज्ञात ग्रह-जगत् का काम दे सकता है; वह फिर छायापथ जगत् (The system of milky way) का काम दे सकता है और ऐसे जगतों के अगणित सघात जो नक्षत्र पुञ्ज के नाम से जाने जाते हैं और बहुत कुछ सम्भव है बदले मे स्वयं ऐसे जगत् का निर्माण करते हैं और किसी सीमा की कोई प्रत्याशंसा नहीं रखते। अब एक ऐसे अमेय पूर्ण के सौन्दर्यपरक आकलन में उदात्त संख्या की विशालता में उतना अधिक निहित नही होता जितना कि वह इस तथ्य मे निहित होता है कि अपनी अग्राभिमुखी प्रगति में हम सदैव आनुपातिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक बड़ी इकाइयों पर पहुँचते हैं। विश्व का व्यवस्थित विभाजन इस परिणाम की ओर प्रेरित करता है। क्योंकि बदले में स्वयं लघ्वीभूत होता हुआ प्रकृति में जो कुछ महान् है वह उस सबको प्रतिचित्रित करता है अथवा अपेक्षाकृत अधिक यथातथ्य होने के लिए वह हमारी कल्पना को उसकी सम्पूर्ण निस्सीमता मे प्रतिचित्रित करता है और इसके साथ ही ।तर्कबुद्धि के प्रत्ययों से पहले सार्थकता में प्रवेश करती हुई प्रकृति को प्रतिचित्रित करता है, एक बार उनके समुचित उपस्थापन का प्रयास किया जाता है।

हमारे आनन्द के आकलन में आनन्द का प्रकार

एक ऐसे प्रत्यय (Idea) तक जो हमारे लिए एक विधान (Law) है, पहुँचने की हमारी अक्षमता की अनुभूति श्रद्धा है। अब किसी भी गोचर विषय की अवधारणा का प्रत्यय जो हमें किसी एक पूर्ण स्वानुभूति में प्रदान किया जा सकता है वह एक ऐसा प्रत्यय है जो उस तर्कबुद्धि के नियम द्वारा हमारे ऊपर आरोपित कर दिया गया है जो निरपेक्ष पूर्ण के अलावा किसी भी निश्चित सार्वभौमतः मान्य एवं अपरिवर्तनीय प्रतिमान को मान्यता नहीं देता। किन्तु हमारी •कल्पना उस समय भी, जब वह एक पूर्ण स्वानुभूति मे एक निर्दिष्ट विषय की वांछित अव-धारणा के कारण पर स्वयं अपने को सर्वाधिक प्रयत्नपूर्वक कार्यान्वित कर रही होती है (और इसीलिए तर्कबुद्धि प्रत्यय की उपस्थापना के हेतु) उस समय की वह अपनी सीमाओं और अपनी अनुपयुक्तता को प्रदर्शित करती है किन्तु फिर भी उसी समय वह एक नियम के रूप में उसी के लिये स्वयं को उपयुक्त बनाने के अपने उचित व्यवसाय को प्रदर्शित करती है। अतएव प्रकृतिगत उदात्त की अनुभूति हमारे उस निजी व्यवसाय के प्रति श्रद्धा की भावना है जिसे हम एक विशेष प्रवंचना द्वारा प्रकृति की किसी वस्तु पर आरोपित करते हैं और यह अनुभूति बौद्धिक पक्षगत हमारी संज्ञानात्मक शक्तियों की श्रेष्ठता को संवेदनशक्ति (Sensibility) की महत्तम वृत्ति के ऊपर स्वानुभूति-ग्राह्य बना देती है

अतएव उदात्त की अनुभूति तत्काल तर्कबुद्धि द्वारा अपने आकलन को उपलब्ध करने के हेतु परिमाण के सौन्दर्य-बोधपरक आकलन में कल्पना की अनुपयुक्तता से उद्भूयमान अतुष्टि या विषाद (Displeasure) और उसके साथ ही उस सीमा तक तर्कबुद्धि प्रत्ययों के मेल में रहने वाली इन्द्रिय की महत्तम वृत्ति की अनुपयुक्तता के उसी निर्णय से उत्पन्न होने वाले जाग्रत आनन्द की अनुभूति है जिस सीमा तक उन्हें उपलब्ध करने का प्रयास एक नियम है। दूसरे शब्दों में यह हमारे लिये एक ऐसा (तर्कबुद्धि का) नियम है जो हमें ठीक वही बनाता है जो हम हैं कि हमें उस प्रत्येक वस्तु को जो इन्द्रियार्थ रूप में प्रकृति में हमारे लिये महान् है, तर्कबुद्धि के प्रत्ययों की तुलना में लघु समझना चाहिए; और वह वस्तु जो हमें अपनी सत्ता के इस अतीन्द्रिय पक्ष की अनुभूति के प्रति जागरूक बनाती है वह उस नियम के साथ सामञ्जस्य स्थापित करती है।

अब परिमाण के आकलन हेतु इकाई की उत्थापना में कल्पना का महत्तम प्रयत्न स्वयं अपने में ही किसी निरपेक्षतः महान् वस्तु के साथ और परिणामतः इस तर्कबुद्धि-नियम के साथ भी अपना सन्दर्भ द्योतित करता है कि मात्र यही उस वस्तु के उच्चतम प्रतिमान के रूप में ग्राह्य है जो महान् है। अतएव परिमाण के बौद्धिक आकलन का कार्य सम्पादन करने के लिए इन्द्रिय के प्रत्येक मापदण्ड की अनुपयुक्तता का आन्तरिक प्रत्यक्षण तर्कबुद्धि के प्रत्ययों के मेल में आना है और एक ऐसी अतुष्टि है जो हमें अपनी सत्ता के अतीन्द्रिय पक्ष की उस अनुभूति के प्रति सचेष्ट बनाती है जिसके अनुसार संवेदनशक्ति (Sensibility) के प्रत्येक मानदण्ड का तर्कबुद्धि के प्रत्ययों तक पहुँचने में असफल होना चरम (Final) और परिणामस्वरूप एक तुष्टि या आनन्द (Pleasure) है।

प्रकृतिगत उदात्त के प्रतिचित्रण में मन स्वयं को गतिशील अनुभव करता है जब कि सुन्दरम् के सौन्दर्य-निर्णय में वह प्रशान्त भावन (Restful contemplation) की स्थिति में होता है। इस गति या चेष्टा की विशेषतः अपने उपक्रम में एक स्पन्दन अर्थात् एक ही विषय द्वारा उद्भूत निर्वृत्ति और आकर्षण को बारी-बारी से लाने वाली एक प्रकार की त्वरा (Rapidity) से तुलना की जा सकती है। कल्पना की शक्ति के अतिरिक्त या बाहर की वस्तु (जिसकी ओर वह स्वानुभूति के ग्रहण कार्य में निदेशित होती है) एक खाई की भाँति है जिसमें वह स्वयं को खो देने से डरता है तथापि अतीन्द्रिय के तर्कनापरक प्रत्यय (Rational idea) के लिये वह अति-मात्र नहीं है वरन् नियमानुसार्य है और कल्पना की ओर से ऐसे ही प्रभाव की सृष्टि करने के लिये निर्दिष्ट है : और इसीलिये बदले में वह आकर्षण का उतना ही अधिक स्रात है जितना की निरी संवेदनशक्ति के लिये विकर्षण का किन्तु निर्णय स्वयं पण दृढ़ता के साथ सदैव अपने सौ वैशिष्ट्य के

आरक्षित रखता है क्योंकि वह विषय या वस्तु के किसी निश्चित प्रत्यय पर आधारित हुये बिना ही मानसिक शक्तियों (कल्पना और तर्कबुद्धि) के मात्र व्यक्तिनिष्ठ व्यापार को, उनके वैषम्य के ही कारण सामञ्जस्यपूर्ण रूप में प्रतिरूपित करता है। क्योंकि जिस प्रकार सुन्दरम् के आकलन में कल्पना और बुद्धि अपनी सहकारिता द्वारा मानसिक वृत्तियों की व्यक्तिनिष्ठ चरमता को उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार कल्पना और तर्कबुद्धि यहाँ ऐसा ही अपने अन्तर्द्वन्द्व द्वारा करती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे हमारे, एक ऐसी विशुद्ध एवं आप्तकाम तर्कबुद्धि अथवा परिमाण का आकलन करने वाली एक ऐसी वृत्ति के अधिकारी होने की भावना उत्पन्न करती है जिसकी प्रधानता उस वृत्ति की अनुपयुक्तता द्वारा मात्र स्वानुभूत्या ही प्रकाशित या सिद्ध की जा सकती है जो परिमाणों (इन्द्रियार्थ स्वरूप) के उपस्थापन में स्वयं स्वतन्त्र है।

किसी देश (Space) की माप (बोध रूप में) माप के साथ ही साथ उसका वर्णन भी है और इसीलिये वह कल्पनान्तर्गत एक वस्तुनिष्ठ क्रिया और एक प्रगति है दूसरी ओर विचार तत्त्व की नहीं बल्कि स्वानुभूति की एकता में बहुविध की अवधारणा एक ऐसी प्रतिगति है जो कल्पना की प्रगति में से कालोपाधि (Time condition) को दूर कर देती और सह-अस्तित्व का स्वानुभूति-ग्राह्य बना देती है। चूँकि काल-शृंखला अन्तःकरण (Internal sense) की एक स्वानुभूत्युपाधि है अस्तु यह कल्पना की एक ऐसी व्यक्तिनिष्ठ क्रिया है जिसके द्वारा वह अन्तःकरण (Internal sense) के प्रति आघात करती है—एक ऐसा आघात जो आनुपातिक दृष्टि से कल्पना अपेक्षाकृत जितना ही अधिक परिमाण विस्तार एक स्वानुभूति में सन्निविष्ट कर लेती है उतना ही अधिक ध्येय होगा। अतएव एक अकेली स्वानुभूति में उन परिमाणों के लिये जिन्हें बोधगत करने में वह काफी लम्बा समय ले लेती है, एक माप (Measure) पाने का प्रयास व्यक्तिनिष्ठ रीति से विचार करने पर प्रतिरूपण (Representation) की एक ऐसी रीति है जो प्रति चरम (Contrafinal) है किन्तु वस्तुनिष्ठ दृष्टि से परिमाण के आकलन के लिये अपेक्षित और परिणामतः लक्ष्य या चरम (Final) है। यहाँ ठीक वही आघात जो कल्पना द्वारा विषयी पर हावी है मन के सम्पूर्ण क्षेत्र के हेतु या लक्ष्य चरम रूप में आकलित किया जाता है।

सौंदर्यबोधपरक आकलन का निर्माण करने वाली वृत्ति के सम्बन्ध में उदात्त की अनुभूति का गुण उसके विषय (Object) से उत्पन्न होने वाले विषाद (Displeasure) की अनुभूति में निहित होता है जो इतना होते हुये भी साथ ही साथ लक्ष्य रूप में प्रतिरूपित किया जाता है—एक ऐसा प्रतिरूपण जो अपनी सम्भावना इस तथ्य से व्युत्पादित करता है कि विषयी की ठीक वही अक्षमता ही उसी की एक अपरिमित मानसिक वृत्ति की चेतना को प्रदर्शित करती है और यह कि मन मात्र उसी

अक्षमता के द्वारा ही परवर्ती वृत्ति के किसी सौंदर्यबोधपरक आकलन का संघटन कर सकता है।

परिमाण के अन्वीक्षात्मक आकलन की स्थिति में देशकालान्तर्गत इन्द्रिय ग्राह्य जगत् की वस्तुओं की क्रमिक माप द्वारा कभी किसी निरपेक्ष साकल्य पर पहुँचने की सम्भावना एक वस्तुनिष्ठ सम्भावना मानी गई थी अर्थात् अनन्त को निर्दिष्ट कल्पित करने वाली मानी गई थी और मात्र वस्तुनिष्ठ सम्भावना कहने का अभिप्राय उसे पूर्णतया ग्रहण करने की अक्षमता नहीं मानी गई थी; क्योंकि वहाँ मान के रूप में एक स्वानुभूति में होने वाली अवधारणा के जोड़ की कोई वस्तु नहीं उत्पन्न होती अपितु हर-एक वस्तु एक सांख्यिक संकल्पना पर निर्भर करती है। किन्तु परिमाण के सौंदर्यपरक आकलन में सांख्यिक संकल्पना को या तो गिनती में ही नहीं आना चाहिए या फिर उसमें परिवर्तन होना चाहिए। वह एक मात्र वस्तु जो ऐसे आकलन के लिये लक्ष्य (Final)है वह मान की इकाई के सन्दर्भ में (परिणामतः परिमाण की संकल्पना के नियम की संकल्पना के परिहार किये जाने के कारण) कल्पना की ओर से अवधारणा है। अब यदि कोई परिमाण किसी एक स्वानुभूति में हमारी अवधारणा वृत्ति के अधिकतम तनाव पर अत्यधिक दबाव डालने लगे और फिर भी सांख्यिक संकल्पनायें जिनके सम्बन्ध में हम अपनी मानसिक वृत्ति की असीमता के प्रति जागरूक हैं, कल्पनावृत्ति को अपेक्षाकृत एक बड़ी इकाई में सौन्दर्यपरख अवधारणा के लिये आहुति करें तो मन अपने को सौन्दर्यपरख दृष्टि से सीमाओं से परिसीमित होने की एक भावना पाता है। फिर भी हमारी तर्कबुद्धि वृत्ति में जो वस्तु अपरिमित है जिसे निरपेक्ष पूर्ण का प्रत्ययअनुषंगी विषाद और परिणामतः हमारी कल्पनावृत्ति में चरमता का अभाव कहते हैं, उसके साथ उपयुक्तता के लिये अपेक्षित कल्पना के विस्तार के अभिप्राय से वह अब भी तर्कबुद्धि के प्रत्ययों और उनकी जीवन्तता के लिये लक्ष्य रूप में प्रतिरूपित की जाती है। किन्तु इस प्रकार तो स्वयं सौंदर्य-निर्णय ही प्रत्ययों के उद्गम रूप तर्कबुद्धि के लिये व्यक्तिपरक दृष्टि से लक्ष्य है। प्रत्ययों अर्थात् एक ऐसे बौद्धिक अवधारणा के लिये जो सारी सौंदर्यपरक अवधारणा को लघु बना देती है और एक ऐसे आनन्द के साथ विषय उदात्त रूप में ग्रहण किया जाता है जो मात्र विषाद के ही माध्यम से सम्भव है।

प्रकृति में गत्यात्मक दृष्टि से उदात्त

अधिशक्ति स्वरूपिणी प्रकृति

अधिशक्ति एक ऐसी शक्ति है जो महती बाधाओं से उत्कृष्टतर है। यदि यह उस वस्तु की प्रतिरोध शक्ति से भी महान् हो जो स्वयं

है तो इसे प्रभुत्व की संज्ञा दी जाती है। किसी सौंदर्य-निर्णय के अन्तर्गत ऐसी अधिशक्ति के रूप में निरूपित प्रकृति जो हमारे ऊपर प्रभुत्व नहीं रखती, गत्यात्मक दृष्टि से उदात्त है।

यदि हम गत्यात्मक दृष्टि से उदात्त रूप में प्रकृति का आकलन करना चाहें तो वह निश्चय ही भय के एक उद्गम के रूप में प्रतिरूपित होगी (यद्यपि यह विपरीत उपक्षेप कि वह प्रत्येक विषय जो हमारे सौंदर्य-निर्णय में भय का उद्गम है उदात्त है, मान्य नहीं है)। क्योंकि किसी सौन्दर्यगत आकलन के विधान में (किसी भी संकल्पना के विद्यमान न होने के कारण) बाधाओं से परे होने का भाव केवल प्रतिरोध शक्ति की महत्ता के अनुसार ही आकलित किया जा सकता है। अब जिस वस्तु के प्रतिरोध का प्रयास हम करते हैं वह एक अशुभ वस्तु (Evil) है और यदि हम अपनी शक्तियों को उस कार्य के लिए पूर्णतया सम्पन्न नहीं पाते तो वह एक भीतिजनक विषय है। अस्तु सौन्दर्य-निर्णय प्रकृति को केवल अधिशक्ति के ही और गत्यात्मक दृष्टि से उस सीमा तक उदात्त के रूप में ही सोच सकता है जिस सीमा तक कि वह भयजनक विषय की दृष्टि से देखा जाता है।

किन्तु हम किसी विषय को भयावह विषय की दृष्टि से देख सकते हैं तथापि ऐसा हो सकता है कि हम उससे भयभीत न हों बशर्ते हमारा आकलन उसके सम्मुख किसी प्रतिरोध को प्रस्तुत करने मात्र की हमारी संकल्पना की स्थिति को हमारे सामने चित्रित करने का ही स्वरूप ग्रहण करता हो और यह मानता हो कि इस प्रकार का सारा का सारा प्रतिरोध निरर्थक होगा। अतएव न्यायपरायण मनुष्य बिना ईश्वर से आतंकित हुये ही उससे डरता है क्योंकि वह ईश्वर और उसके आदेशों का प्रतिरोध करने की अपनी कामना की स्थिति को एक ऐसी स्थिति समझता है जिससे उसे दुश्चिन्ता नहीं होनी चाहिये किन्तु उसके द्वारा सहज आन्तिरिक रूप से असम्भव न मानी जाने वाली ऐसी प्रत्येक स्थिति में वह उसे (ईश्वर को) अदब का विषय समझता है।

वह व्यक्ति जो भय की स्थिति में है, क्षुधा और प्रवृत्ति के वशीभूत सुन्दरम् का निर्णेता होने के बजाय प्रकृतिगत उदात्त के निर्णेता का कार्य नहीं कर सकता। वह अपने को आतंक से परिपूर्ण करने वाले विषय से दूर भागता है और गम्भीरतापूर्वक ग्रहित होने वाले आतंक से आनन्द प्राप्त करना असम्भव है। अस्तु व्याकुलता की निवृत्ति से उत्पन्न होने वाली अनुकूलवेदनीयता एक उल्लास की दशा है। किन्तु संघात (Danger) से मुक्ति पर यह अवलम्बन (Depending upon) एक ऐसा आनन्द-विलास है जो स्वयं अपने को फिर कभी खतरे में न डालने की प्रतिज्ञा से से अनुगत है वास्तव में हमें इस तथ्य को कि उस अवसर पर हमने कैसा अनुभव

किया उसे पुनः अनुभव करने के अवसर की खोज करने की बात न कह कर उसे पुनः स्मरण करना ही नहीं चाहते, करना चाहिए।

निर्भीक ऊपर लटका हुआ और मेघों के नीचे पुञ्जीभूत चट्टानों को धमकी देता हुआ नभोमण्डल, संहार की अपनी सम्पूर्ण प्रचण्डता के साथ कौंध और गर्जन से परिपूर्ण ज्वालामुखी पर्वत अपने चरण-पथ पर ध्वंस छोड़ते हुए चलने वाले झंझावात, विद्रोही शक्ति से उमड़ता हुआ निस्सीम समुद्र, किसी महानदी का उच्च निर्झर इत्यादि अपनी अधिशक्ति की तुलना में हमारी प्रतिरोध शक्ति को अत्यन्त नगण्य बना देते हैं। किन्तु यदि हमारी स्थिति सुरक्षित हो तो उनका स्वरूप अपनी भीषणता के कारण उतना ही अधिक आकर्षक है; और हम इन विषयों को निःसंकोच उदात्त कहते हैं क्योंकि ये आत्मा की शक्तियों को लोक सामान्य अपरिष्कृत प्राकृत दशा से ऊपर उठाते हैं और हमारे भीतर सर्वथा एक ऐसी भिन्न प्रकार की प्रतिरोधशक्ति का उद्घाटन करते हैं जो हमें प्रकृति की प्रतीयमान सर्वशक्तिमत्ता के मुकाबले स्वयं अपने को मापने योग्य बनाने के लिये प्रोत्साहित करती है।

प्रकृति की अमेयता और अपने क्षेत्र के परिमाण के सौन्दर्यमूलक आकलन के हेतु उपयुक्त मापदण्ड को अनुकूलित करने वाली अपनी मानसिक वृत्ति की अक्षमता में हमें स्वयं अपनी ही परिसीमा मिल गई। किन्तु इसके साथ ही साथ हमें अपनी तर्कनापरक शक्ति (Rational faculty) के अन्दर एक अन्य अबौद्धिक मापदण्ड भी मिला, एक ऐसा मापदण्ड जो अपने अन्तर्गत एक इकाई के रूप में स्वयं उस अनन्तता को ही धारण करता है और जिसकी तुलना में प्रकृतिगत प्रत्येक वस्तु हीन है और इसीलिए हमें प्रकृति के ऊपर, यहाँ तक कि उसकी अमेयता में भी एक प्रमुखता प्राप्त हुई। अब ठीक उसी प्रकार प्रकृति की अधिशक्ति की दुर्निवारता प्रकृति के प्राणियों के रूप में हमें अपनी भौतिक विवशता की स्वीकृति के लिये बाध्य करती है किन्तु ठीक उसी प्रकार हमारे प्रकृति निरपेक्ष होने का आकलन करने वाली एक मानसिक वृत्ति को भी उद्घाटित करती है और प्रकृति के ऊपर एक ऐसे प्राधान्य को प्रकाशित करती है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न आत्मरक्षण का आधार है जो बाह्य-प्रकृति द्वारा आक्रान्त किया जा सकता और खतरे में डाला जा सकता है। यह तथ्य मानवता के स्वयं हमारे ही व्यक्तित्व में प्रतिष्ठा भंग या अपकर्षण से रक्षा करता है चाहे मरणधर्मी मानवों के रूप में हमें बाह्य जगत् के उत्पीड़न के सम्मुख भले ही झुकना पड़े। इस प्रकार बाह्य-प्रकृति जहाँ तक कि वह भय को उत्तेजना प्रदान करती है हमारे सौन्दर्य-निर्णय में आकलित नहीं होती किन्तु चूँकि यह उन वस्तुओं को लघु मानने के लिये हमारी शक्ति (प्रकृति की शक्ति नहीं) को चुनौती देती है जिसके लिये हम आतुर रहने के अभ्यस्त हैं (सांसारिक पदार्थ स्वास्थ्य और जीवन) और इसीलिए उसकी अधिशक्ति को (जिसके हम इन विषयों

में निःसन्देह विषय हैं) अपने और अपने व्यक्तित्व के ऊपर ऐसा प्रभुत्व चलाने वाली मानने के आदी नहीं है कि हम उसके सामने झुकें, एक बार यह प्रश्न हमारे उच्चतम सिद्धान्तों का और हमारे उनका प्रतिपादन अथवा परिहार करने का हो जाता है। अतएव यहाँ प्रकृति मात्र इसलिये उदात्त कही जाती है क्योंकि वह कल्पना को उन स्थितियों की उपस्थापना तक ऊँचा उठाती है जिनमें कि मन स्वयं अपने को, प्रकृति से ऊपर उठकर भी अपनी सत्ता के क्षेत्र के उपयुक्त औदात्य के प्रति संवेदनशील बना सकता है।

स्वयं अपना ही यह आकलन इस तथ्य के द्वारा कुछ भी नहीं खोता कि इस आत्मस्फुरणकारी आनन्द को अनुभव करने के हेतु हमें स्वयं को सुरक्षित देखना चाहिए—यह एक ऐसा तथ्य है जिससे न्यायोचित रीति से यह तर्क किया जा सकता है कि चूंकि खतरे में कोई भी गम्भीरता नहीं है, अस्तु हमारी आत्मवृत्ति (Faculy of soul) के औदात्य में अत्यल्प गम्भीरता है। क्योंकि यहाँ आनन्द इस प्रकार की स्थिति में अनावृत्त केवल हमारी मानसिक वृत्ति के क्षेत्र से, जहाँ तक कि इस वृत्ति का मूल हमारी प्रकृति में अन्तर्निहित होता है, सम्बन्ध रखता है इस तथ्य के बावजूद कि इसका विकास और व्यवहार स्वयं हमें अनुभव होता और एक आभार बना रह जाता है। यहाँ वस्तुतः सत्य है, यह बात कोई महत्व नहीं रखती कि कोई व्यक्ति जब तक वह अपनी चिन्तना को बाहर इतनी दूर तक प्रसारित करता है, अपनी यथार्थ वर्तमान विवशता के प्रति कितना जागरूक है।

यह सिद्धान्त निश्चय ही बहुत दूर तक घसीटे जाने और अत्यन्त सूक्ष्म होने और अतएव सौन्दर्य-निर्णय की पहुँच के बाहर होने का आभास देता है। किन्तु मनुष्यों का निरीक्षण इससे विपरीत तथ्य को सिद्ध करता है और यह सामान्यतम निर्णयों का आधार हो सकता है हालाँकि व्यक्ति इसकी उपस्थिति के सम्बन्ध में सदैव सचेत नहीं होता। क्योंकि यह आखिर क्या है जो यहाँ तक कि बरबरों के लिये भी प्रशंसा का विषय है? यह वह मनुष्य है जो निर्भीक है जो किसी भी भय से परिचित नहीं और जो इसीलिए खतरे को कोई स्थान नहीं देता बल्कि पूर्ण संविमर्श के साथ पुरुषत्वपूर्ण ढंग से कार्य तत्पर हो जाता है। यहाँ तक कि जहाँ सभ्यता उच्च-स्तर पर पहुँच गई है वहाँ भी यह विशिष्ट सम्मान सैनिक के लिए शेष रह ही जाता है; होता केवल इतना ही है कि वहाँ इसके आगे उससे यह माँग की जाती है कि उसे भी शान्ति के भद्रता, सहानुभूति और यहाँ तक कि स्वयं अपने व्यक्तित्व के लिये उधेड़ बुन जाने के सारे गुणों को प्रदर्शित करना चाहिए; और इस कारण कि हम यह मानते हैं कि उसका मन खतरे की धमकियों से ऊपर उठ गया होता है। और इसीलिए राजनीतिज्ञ और सामान्य जनता को अन्तर्भूत करते हुये, संगत समझते पर मनुष्य इस सर्वश्रेष्ठ सम्मान के सम्बन्ध में तर्क कर सकते हैं जो एक के ऊपर किसी भी

दूसरे से प्राप्य है। किन्तु सौन्दर्य-निर्णय का न्याय दूसरे के लिये है। स्वयं युद्ध में भी कुछ उदात्त गुण हैं बशर्ते वह व्यवस्था और शानपद नागरिकों के अधिकारों की पावन प्रतिष्ठा से संचालित हो और वह उसे उस ढंग से चलाने वाले राष्ट्रों को ऐसा मानस-संस्कार (Stamp of mind) प्रदान करता है कि वे जितने ही अधिक उदात्त होते हैं उतना ही अधिक उन खतरों की संख्या होती है जिससे वे आरक्षित होते हैं और जिनका वे धैर्य से मुकाबला करने में समर्थ होते हैं। दूसरी ओर दीर्घ-कालीन शान्ति निरी व्यावसायिक मनोवृत्ति की प्रधानता और इसके साथ ही एक प्रकार के हेयकर स्वार्थ, कायरता और स्त्रैणता का पोषण करता तथा राष्ट्र के चरित्र को भ्रष्ट करने की दिशा में प्रवृत्त होता है।

जहाँ तक कि अधिशक्ति से औदात्य का विधान किया जाता है वहाँ तक उसकी संकल्पना का यह समाधान इस तथ्य से विरुद्धमत प्रतीत होता है कि हम वात्या, झंझावात, भूकम्प इत्यादि में ईश्वर को उसके रोषाविष्ट रूप में और साथ ही साथ उसके औदात्य में भी प्रतिरूपित करने के अभ्यस्त हो गये हैं और फिर भी यहाँ ऐसी अधिशक्ति के व्यापारों और निर्देश के ऊपर अपने मन की प्रधानता की कल्पना करना समान रूप से मूर्खता और दुस्साहस होगा। यहाँ हमारी अपनी प्रकृति औदात्य की किसी अनुभूति के बजाय आत्म समर्पण, प्राणिपात और चरम विवशता की एक अनुभूति अपेक्षाकृत मन की उस विचार-पद्धति का अधिक निर्माण करती हुई प्रतीत होती है जो इस प्रकार के विषय की अभिव्यक्ति के उपयुक्त होती है और जो इस प्रकार के किसी प्राकृतिक गोचर-विषय के अवसर पर उसके प्रत्यय के साथ भी अपेक्षाकृत अधिक लोकसिद्ध ढंग से सम्बद्ध प्रतीत होती है। धर्म में नियम रूप से ईश्वर-शीर्ष के समक्ष प्राणिपात नतमस्तक आराधना अनुताप-मयी भीरु मुद्रा और वाणी ही एकमात्र उपयुक्त आचरण प्रतीत होता है और तदनुसार अधिकांश देशों ने इसको अपना लिया है और अब भी इसका पालन करते हैं। फिर भी मन की यह प्रकृति आभ्यान्तरीण एवं अनिवार्य रूप से धर्म और उसके उद्देश्य की उदात्तता के प्रत्यय में सन्निहित होने से बहुत दूर है। वह व्यक्ति जो वस्तुतः भय की स्थिति में है, ऐसा होने के लिये स्वयं अपने अन्दर यथेष्ट कारण पाता है क्योंकि वह अपनी दुष्ट प्रवृत्ति द्वारा एक साथ ही दुर्निवार एवं न्यायोचित किसी इच्छाशक्ति द्वारा निर्दिष्ट किसी अधिशक्ति के प्रति अपराध करने की चेतना से अभिज्ञ है, उस दैवी महिमा की प्रशंसा करने की मनःस्थिति से बहुत दूर है जिसके लिये एक प्रशान्त चिन्तना की मनःस्थिति और एक नितान्त स्वच्छन्द निर्णय अपेक्षित हैं। जब वह एक ऐसी प्रवृत्ति से युक्त होने के सम्बन्ध में जागरूक हो जाता है जो न्याय संगत और ईश्वरग्राह्य है केवल तभी अधिशक्ति के व
उसके अन्दर उस देश-सत्ता के औदात्य के प्रत्यय (Idea) को उस हद तक

उभारते हैं जिस हद तक कि वह स्वयं अपने में एक ऐसी चित्तवृत्ति के औदात्य को मानता है जो उस (ईश्वर) की इच्छाशक्ति के अनुरूप है और इस प्रकार प्रकृति के ऐसे व्यापारों के आतंक से ऊपर उठ जाता है जिनमें कि वह अब ईश्वर को रोष की प्रचण्ड वृष्टि करते हुये नहीं देखता। यहाँ तक कि दैन्य भी अपनी त्रुटियों पर एक असमझौतापूर्ण निर्णय का स्वरूप ग्रहण करते हुये, जो सदुद्देश्यों की चेतना के साथ मानव स्वाभाव की नैतिक दुर्बलता के आधार पर सद्यः आलोच्चित हो सकता है, पश्चाताप की वेदना को, उसके कारण को अधिकाधिक अमोघ रूप से उन्मूलित करके साधन रूप में स्वेच्छापूर्वक भोगने वाली मन की एक उदात्त अवस्था है। इस प्रकार धर्म का उस अन्धविश्वास से आन्तरिक रूप से भेद हो जाता है जो बाद में मन में उदात्त के प्रति आदरभावना नहीं बल्कि आतंक और उस सर्वशक्तिमान सत्ता का बोध उत्पन्न करता है, आतंक पीड़ित व्यक्ति स्वयं को जिसकी इच्छा का विषय समझता है फिर भी जिसे वह यथोच्चित सम्मान नहीं प्रदान करता। इससे सज्जीवन में निहित धर्म के स्थान पर दया-याचना और व्यर्थ की चाटुकारी ही उत्पन्न हो सकती हैं उसके और कुछ भी नहीं।

अतएव औदात्य प्रकृति की वस्तुओं में से किसी वस्तु में निवास नहीं करता बल्कि उस हद तक वह हमारे अपने ही मन में होता है जिस हद तक कि हम अपने भीतर की प्रकृति के ऊपर और इस प्रकार अपने से बाहर (हमारे ऊपर प्रभाव डालने वाली) प्रकृति के ऊपर भी अपनी महत्ता के प्रति जागरूक हो सकते हैं। तो वह प्रत्येक वस्तु प्रकृति की उस अधिशक्ति को अन्तर्भूत करते हुये जो हमारी शक्ति को चुनौती देती है, यद्यपि अनुचित रीति से, उदात्त कहलाती है और हमारे भीतर स्थित मात्र इस प्रत्यय की पूर्वकल्पना के ही अन्तर्गत और इसके सम्बन्ध मे ही हम उस (ईश्वर) सत्ता के औदात्य के प्रत्यय को सम्प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे अन्दर, मात्र प्रकृति में ही अपनी शक्ति के प्रदर्शन मात्र द्वारा ही नहीं अपितु उससे भी अधिक उस वृत्ति के द्वारा गम्भीर आदर भावना को अनुप्राणित करती है जो हमारे भीतर बिना भय के उस अधिशक्ति के आकलनार्थ और अपनी मनःस्थिति को उसके ऊपर उत्कृष्ट रूप से उठी हुई समझने के हेतु बद्धमूल है।

गत्यात्मक दृष्टि से उदात्त का स्वरूप

प्रकृतिगत उदात्त पर दिये जाने वाले निर्णय का स्वरूप

सुन्दर प्रकृति अपने अन्दर अनन्त वस्तुओं को अन्तर्धारण करती है जिनमें से जब वे अपने निर्णय में हमारे निर्णय के साथ अविसंवादी ठहरती हैं तबहम प्रत्येक को और उनको ग्रहण करते हैं जिनसे हम अपने को सुदूर विभ्रष्ट पाने वाले तथ्यों के बिना आगे भी इस अ को कर सकते हैं किन्तु प्रकृतिगत

उदात्त विषयक अपने निर्णय के सम्बन्ध में हम इतनी आसानी से दूसरों के द्वारा पूर्वनिर्मित स्वीकृति को प्रमाणित नहीं कर सकते। क्योंकि प्राकृतिक वस्तुओं के इस उच्चस्तरीण भेद पर कोई निर्णय देने में हमें समर्थ बनाने के लिये मात्र सौन्दर्य-निर्णय की ही नहीं बल्कि संज्ञान की उन मानसिक वृत्तियों की भी एक उच्च-स्तरीण संस्कृति की अपेक्षा प्रतीत होती है जो इस आधार पर स्थित हैं।

उदात्त की किसी अनुभूति के लिए उपयुक्त मनःस्थिति (Mental mood) प्रत्ययों की ग्रहण-क्षमता को अपना आधारतत्त्व बनाती है क्योंकि वस्तुतः इन्हे उपलब्ध करने की प्रकृति की असफलता मात्र में और परिणामतः केवल इस ग्रहण-क्षमता और कल्पनावृत्ति पर, प्रत्ययों की योजना के हेतु प्रकृति को व्यवहृत करने के लिये दबाव डालने की पूर्वकल्पना के ही अन्तर्गत यह तथ्य निहित है कि एक ऐसी भी वस्तु है जो संवेदनशक्ति के लिए घृणाजनक है किन्तु जो इसी कारण हमारे लिए आकर्षण रखती है जो इसके एक ऐसे प्रभुत्व होने के कारण उद्भूत होती हैं जिसे तर्कबुद्धि अपने निजी क्षेत्र (व्यावहारिक) का आवश्यकताओं तक पहुँचने और अपनी पहुँच से परे उस अनन्त में झाँकने के हेतु जो इसके लिए एक खाई है संवेदनशक्ति के ऊपर प्रयुक्त करती है। वास्तव में नैतिक प्रत्ययों के विकास के बिना, प्रारम्भिक सस्कृति को धन्यवाद है जिसे हम उदात्त कहते हैं वह मात्र अशिक्षित मनुष्य को भयावह प्रतीत होता है। वह उन प्रमाणों को देखेगा जिसे प्रकृति के विप्लव उसके प्रभुत्व और विस्तृत पैमाने पर उसकी अविशक्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत करते हैं जिसके साथ तुलना करने पर उसकी अपनी शक्ति अपचित होकर नगण्यता में केवल दैन्य विपत्ति और यातना में परिणत हो जाती है जो उस व्यक्ति को परिवेष्ठित कर लेगी जो उसकी दया पर छोड़ दिया गया था। अतएव सरल मन वाला और बहुत अंशों तक बुद्धिमान सावोयार्ड कृषक हिम पर्वतों के सारे प्रेमियों को निःसंकोच मूर्ख कहा करता था। और यह कौन कह सकता है कि प्रकृति का वह विद्यार्थी अपने निरूपण मे इतना लक्ष्य-च्युत होता यदि उसने उन खतरों का जोखिम उठाया होता जिनसे वह जैसा कि अधिकांश यात्री होते हैं, अरक्षित था और किसी प्रिय सिद्धान्त या ऐसा ही किसी अन्य वस्तु के हेतु अपनी साहसिकताओं का एक रोमांचक वर्णन प्रस्तुत करने में सफल हुआ होता। किन्तु ससरे का मन मानव-जाति के शिक्षण पर तुला हुआ था, आत्मा उन संवेदनाओं को अनुप्राणित करती थी जो उत्कृष्ट मनुष्यो के अन्दर वस्तुतः थीं और उसकी यात्राओं के पाठक ने जिसे मुफ्त की अतिरिक्त वस्तु समझ कर फेंक दिया।

किन्तु यह तथ्य कि प्रकृतिगत उदात्त पर निर्णय देने के लिये संस्कृति (सुन्दर के निर्णय की अपेक्षा अधिक) आवश्यक है उसके संस्कृति के मौलिक कृति और कोई ऐसी वस्तु होने का द्योतन नहीं करता जो न्यूनाधिक मात्रा में

रूढ़िवादी ढंग से समाज में प्रचलित कर दी गई हो। बल्कि इसकी नींव तो स्वयं मानव-स्वभाव में ही और वस्तुतः उस वस्तु में पड़ी हुई है जिसे हम प्रत्येक व्यक्ति से सामान्य बुद्धि द्वारा सद्यः अधिगत करने की प्रत्याशा और अपेक्षा कर सकते हैं, वह है (व्यावहारिक) प्रत्ययों की अनुभूति अर्थात् नैतिक अनुभूति की जन्मजात क्षमता।

अब उदात्त पर विहित अन्य लोगों और स्वयं हमारे निर्णयों के बीच के उस पारस्परिक मेल की अनिवार्यता की यह नींव है जिसे हम अपना संकेत बनाते हैं क्योंकि जिस प्रकार हम उस व्यक्ति की भर्त्सना करते हैं जो रुचि के अभाव के कारण प्रकृति की किसी ऐसी वस्तु का कोई आकलन करते समय नितान्त अनुभूति शून्य रह जाता है जिसमें हम सौन्दर्य देखते हैं और उसी प्रकार हम उस व्यक्ति को अनुभूति विहीन कहते हैं जो उस वस्तु की उपस्थिति में अप्रभावित रह जाता है जिसे हम उदात्त समझते हैं। किन्तु हम प्रत्येक व्यक्ति से रुचि और अनुभूति दोनों चीजों की अपेक्षा करते हैं किसी मात्रा में संस्कृति सम्पन्न होने पर हम उसे दोनों ही का श्रेय प्रदान करते हैं। फिर भी ऐसा हम इस भेद के साथ करते हैं कि पूर्ववर्ती की स्थिति में चूँकि वहाँ निर्णय कल्पना का सम्बन्ध निर्देश केवल संकल्पनाओं की मानसिक वृत्ति बुद्धि से करता है हम इस अपेक्षा को साधारण वस्तु बना देते हैं जबकि उत्तरवर्ती की स्थिति में चूँकि यहाँ निर्णय कल्पना का सम्बन्ध प्रत्ययों की मानसिक वृत्ति तर्कबुद्धि से निर्दिष्ट करता है, हम ऐसा मात्र व्यक्तिनिष्ठ पूर्वकल्पना (जैसे भी हो जिसे निर्मित करने में हमारा विश्वास है कि हम सर्वथा वैध है) अर्थात् मनुष्य की अन्तःस्थ नैतिक अनुभूति के ही अन्तर्गत करते हैं। और इस धारणा के आधार पर हम उत्तरवर्ती सौन्दर्य-निर्णयों पर भी अनिवार्यता के धर्म का आरोपण करते हैं।

सौन्दर्य-निर्णयों की इस रीति में—उनकी गृहीत अनिवार्यता में वह वस्तु निहित है जो सौन्दर्य-मीमांसा के लिये प्रधान महत्व की है। क्योंकि ठीक यही वह वस्तु है जो एक अनुभव निरपेक्ष नियम को उनकी स्थिति में प्रत्यक्ष बनाती है और उन्हें आनुभाविक मनोविज्ञान के उस क्षेत्र से ऊपर उठाती है जिसमें कि अन्यथा वे ऐन्द्रिक परितृप्ति और पीड़ा की वेदनाओं के बीच दबी पड़ी रह जातीं ऐसा वह उन्हें और उन्हें धन्यवाद है, स्वयं निर्णय वृत्ति को उन निर्णयों के वर्ग में प्रतिष्ठित करने के लिये करती है जिसके अनुभव निरपेक्ष नियम का आधार व्यवच्छेदक वैशिष्ट्य है और इस प्रकार उन्हें एक अतीन्द्रिय दर्शन में समाविष्ट करने के हेतु पृथक्कृत है।

सौन्दर्यपरक चिन्तनात्मक निर्णयों पर सामान्य अभ्युक्ति

सुखानुभूति के सन्दर्भ में कोई विषय (Object) या तो अनुकूलवेदनीय समझा जाता है या सुन्दर या उदात्त या शिव (निरपेक्षत)

इच्छाओं के प्रेरक रूप में अनुकूलवेदनीय अपरिवर्तनीय रूप में एक ओर मात्र एक से ही प्रकार का होता है चाहे उसका स्रोत कुछ भी हो अथवा चाहे उसका प्रतिरूपण कितने ही विशिष्ट रूप से भिन्न हो (वस्तुनिष्ठ रूप से गृहीत इन्द्रिय और इन्द्रिय संवेदना का) । अस्तु मन पर पड़ने वाले इसके प्रभाव का आकलन करने में इसके चमत्कारों का समवाय (युगपद् अथवा क्रमिक) ही और अतएव अनुकूलवेदनीय संवेदनापुञ्ज ही एकमात्र संगत है और इसीलिए इसे केवल इसके गुण द्वारा ही बुद्धिग्राह्य बनाया जा सकता है। इसके आगे यह किसी भी प्रकार हमारी संस्कृति को संवर्द्धित करने की दिशा में प्रवृत्त नहीं होता अपितु केवल निरे उपभोग (Enjoyment) से सम्बन्ध रखता है । दूसरी ओर सुन्दरम् वस्तु के किसी एक गुण-विशेष के प्रतिरूपण की माँग करता है जो स्वयं को समझने और प्रत्ययों में अवकृत करने देने की भी अनुमति देता है (यद्यपि सौन्दर्यपरक निर्णय में यह इतना अवकृत नहीं होता) और जैसे-जैसे वह सुख की अनुभूति में चरमता को सम्प्राप्त करने की शिक्षा देता है वैसे-वैसे वह उपचित होता जाता है । उदात्त केवल एक सम्भाव्य अतीन्द्रिय उपभोग के लिये प्रकृति के प्रतिरूपण में संवेद्य की प्रयोज्यता के आकलन द्वारा प्रदर्शित सम्बन्ध में ही निहित होता है । एक निरपेक्षतः अनिवार्य नियम के प्रतिरूपण द्वारा विषयी की शक्तियों की निश्चेयता के रूप में उस अनुभूति (नैतिक अनुभूति का विषय) द्वारा जिसे यह उद्दीप्त करता है वस्तुनिष्ठ रीति से आकलित निरपेक्षतः शिव (Absolutely good) प्रधानतः एक ऐसी अनिवार्यता की रीति द्वारा भिन्न हो जाता है जो अनुभव-निरपेक्ष संकल्पनाओं पर निर्भर करती है जो उसे स्वीकार करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति पर निरा दावा ही नहीं वरन् अधिकार रखती है और जो आन्तरिक रूप से सौन्दर्य-निर्णय के नहीं बल्कि विशुद्ध बौद्धिक-निर्णय के अन्तर्गत आती है । इसके आगे इसे प्रकृति पर आरोपित न करके मुक्ति (Freedom) पर आरोपित किया जाता है और किसी निरे विमर्शात्मक निर्णय में नहीं किन्तु निर्धारक निर्णय में । किन्तु इस प्रत्यय और इससे भी अधिक एक ऐसे विषयी के प्रत्यय द्वारा जो अपनी स्थिति के रूपान्तरण में संवेदनशक्ति की ओर से व्याघातों के प्रति संवेदनशील हो सके और जबकि साथ ही उन्हें अतिक्रान्त करके उनके ऊपर अपनी गुरुता अनुभव कर सके, विषयी की निर्धार्यता, दूसरे शब्दों में नैतिक अनुभूति रूप एक ऐसी निर्धार्यता जो सौन्दर्य-निर्णय और उसकी रूपगत उपाधियों से अब भी इतनी सम्बद्ध है कि वह कर्तव्य (Duty) से कर्म की नियमानुसारिता (Conformity to law) के अर्थात् उदात्त अथवा यहाँ तक कि सुन्दरम् के रूप में भी उसकी विशुद्धता को बिना नष्ट किये ही जो कि एक असम्भव परिणाम है यदि कोई व्यक्ति उस अनुकू य की अनुभूति के साथ स्वभावतः सम्बद्ध करे उस सौन्दर्य बोधपरक प्रतिरूपण के कार्य में प्रवृत्त किया जा सकता है

अब तक दी गई दोनों प्रकार के सौन्दर्य-निर्णय की व्याख्या से जो परिणाम निकाला जा सकता है वह निम्नांकित संक्षिप्त परिभाषाओं में समाहृत किया जा सकता है।

सुन्दर वह है जो अपने निरे विहित आकलन में ही आनन्दित करता है (परिणामतः वह बुद्धि की किसी संकल्पना के अनुसार किसी इन्द्रियानुभूति के अन्तरायण द्वारा आनन्दित नहीं करता) इससे सद्यः यह तात्पर्य निकलता है कि वह सर्वस्वार्थ निरपेक्ष रूप से प्रसादित या आनन्दित करता है।

उदात्त वह है जो इन्द्रिय स्वार्थ के प्रति अपने विरोध के कारण अव्यवहित रूप से प्रसादित करता है।

दोनों सार्वभौमतः मान्य (Universally valid) सौन्दर्य आकलनों (Aesthetic estimates) की परिभाषा के रूप व्यक्तिनिष्ट आधार भूमियों से सम्बन्ध रखते हैं। एक स्थिति में उस सीमा तक यह सम्बन्ध संवेदनशक्ति की आधारभूमियों के साथ होता है जिस सीमा तक कि ये भावनशील बुद्धि की ओर से लक्ष्य (Final) हैं दूसरी स्थिति में जिस सीमा तक वे संवेदनशक्ति के साथ अपने विरोध में विपरीततः व्यावहारिक तर्कबुद्धि के उद्देश्यों के सन्दर्भ में लक्ष्य या चरम (Final) हैं। जैसे भी हो एक हो विषयी में एकान्वित दोनों ही नैतिक अनुभूति के सन्दर्भ में लक्ष्य या चरम हैं। सुन्दरम् हमें सर्वस्वार्थ भिन्न रूप से किसी वस्तु से, यहाँ तक कि प्रकृति से प्रेम करने के लिये तैयार करता है उदात्त हमें अपने (संवेद्य) स्वार्थ के विरोध में भी किसी वस्तु का अधिकाधिक सम्मान करने के लिये सन्नद्ध करता है।

उदात्त का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है यह एक ऐसा विषय (प्रकृति का) है जिसका प्रतिरूपण मन को, प्रकृति के उत्कर्ष को हमारी पहुँच के बाहर प्रत्ययों के किसी प्रतिरूपण के समान समझने के लिए कृतनिश्चय करता है।

एक विशेष शाब्दिक अर्थ में और उनकी (प्रत्ययों की) अन्वीक्षात्मक व्यंजना के अनुसार प्रत्यय प्रतिरूपित नहीं किये जा सकते। किन्तु यदि हम प्रकृति की स्वानुभूति के अभिप्राय से प्रतिरूपण (गणितीय अथवा गत्यात्मक) की आनुभाविक वृत्ति को व्यापक बना लें तो तर्कबुद्धि (Reason) अनिवार्यतः निरपेक्ष पूर्णता (Absolute Totality) की निरपेक्षता से सम्बद्ध वृत्ति के रूप में आगे कदम रखती है और इन्द्रिय प्रतिरूपण को इस पूर्णता (Totality) के उपयुक्त बनाने के लिये मन के प्रयास का आह्वान करती है चाहे वह अपर्याप्त ही क्यों न हो। यह प्रयास और कल्पना द्वारा प्रत्यय की अनुपलभ्यता की अनुभूति स्वयं मन के अतीन्द्रिय क्षेत्र के हित में कल्पना के वियोग में हमारे मन की व्यक्तिनिष्ठ चरमता का प्रतिरूपण है
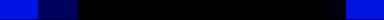
और इस प्रतिरूपण को वस्तुनिष्ठ रूप से कार्यान्वित करने में हमारे विना समर्थ हुये ही, हमें व्यक्तिनिष्ठ रूप से स्वयं प्रकृति पर उसकी सम्पूर्णता में किसी अतीन्द्रिय वस्तु की प्रस्तुति के रूप में सोचने के लिये वाध्य करती है।

क्योंकि हम तत्क्षण यह देखते हैं कि देश-कालगत प्रकृति उस निरुपाधि को परिणामतः निरपेक्षतः उस महान् को भी प्राप्त करने में असफल रह जाती है जिसकी सामान्यतम तर्कबुद्धि अब भी माँग करती है। और इससे हमें इस बात का भी स्मरण हो आता है कि मात्र प्रपंच (Phenomenon) रूप प्रकृति से ही हमारा प्रयोजन है और यह कि इस तथ्य को स्वयं अपने में ही एक प्रकृति—स्वलक्षण प्रकृति (जो तर्कबुद्धि के प्रत्ययों में अपना अस्तित्व रखती है) की एक प्रस्तुति मात्र समझना चाहिए। किन्तु अतीन्द्रिय (Supersensible) का यह प्रत्यय, जिसका हम निस्सन्देह और आगे निर्धारण नहीं कर सकते—जिससे हम प्रकृति का उसकी प्रस्तुति रूप में ज्ञान नहीं कर सकते बल्कि मात्र उसे उसके यथावत् रूप में सोच सकते है, हमारे भीतर एक ऐसे विषय (Object) द्वारा जाग्रत हो उठता है जिसका सौन्दर्य-बोधपरक आकलन कल्पना का उसकी चरमावस्था तक खींच-तान करता है यह चाहे उसके विस्तार (गणितीय) के सम्बन्ध में हो या मन (गत्यात्मक) पर उसकी अधिशक्ति के सम्बन्ध में। क्योंकि यह मन के एक ऐसे क्षेत्र की अनुभूति पर आधारित है जो प्रकृति के उस क्षेत्र (अर्थात् नैतिक अनुभूति पर) का सर्वथा अतिक्रमण कर जाता है जिसके सम्बन्ध में विषय या वस्तु का प्रतिरूपण व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से लक्ष्य या चरम आकलित किया जाता है।

वास्तव में प्रकृतिगत उदात्त की अनुभूति तब तक मुश्किल से चिन्त्य है जब तक कि उसे नैतिक मनोवृत्ति से मुलती जुलती किसी मनोवृत्ति के साहचर्य में न सोचा जाय। और यद्यपि उस अनुभूति की भाँति प्रकृतिगत सुन्दरजन्य अव्यवहित आनन्द विचारतत्व की किसी न किसी शाब्दिकता को पूर्वकल्पित और आवर्द्धित करता है कहने का अभिप्राय यह है कि वह हमारे आनन्द को किसी भी निरे इन्द्रियोपभोग (Enjoyment of Sense) से निरपेक्ष बनाता है फिर भी वह किसी नियम निर्दिष्ट क्रिया के अन्वयन में प्राप्य स्वातन्त्र्य की अपेक्षा उसके विगत स्वातन्त्र्य का प्रतिनिधित्व करता है जो उस मानवी नैतिकता का यथार्थ गुण धर्म है जहाँ तर्कबुद्धि को संवेदनशक्ति के ऊपर अपने प्रभुत्व को आरोपित करना होता है। जैसे भी हो इस तथ्य में यह विशेषता है कि उदात्त पर निहित सौन्दर्य-निर्णय के इस प्रभुत्व को तर्कबुद्धि के साधन रूप स्वयं कल्पना के ही द्वारा क्रियान्वित रूप में प्रतिरूपित किया जाता है।

इस प्रकार भी प्रकृतिगत उदात्त-जन्य आनन्द केवल निषेधात्मक (Negative है जब कि सुन्दर जन्य आनन्द विध्यात्मक है) कहने का अभिप्राय यह

कि अपने आनुभविक नियोजन के नियम से इतर एक अन्य नियम के अनुसार अन्तिम निश्चय प्राप्त करके यह अपनी ही क्रिया से स्वयं को वंचित करने वाली कल्पना की एक अनुभूति है। इस प्रकार यह एक ऐसा विस्तार और एक ऐसी अधिशक्ति प्राप्त करता है जो उस विस्तार और उस अधिशक्ति से महत्तर है जिसे यह उत्सर्ग कर देता है। किन्तु उसकी आधारभूमि उससे छिपी होती है और उसके स्थान में वह आत्मबलि अथवा आत्म वंचना तथा उसके उस कारण का अनुभव करता है जिसका कि वह विषय थी। प्रायः आतंक के समस्तर पर पहुँचने वाला विस्मय धर्मनिष्ठ या पावन अनुभूति का समृद्ध भय और चमत्कार पूर्ण भावावेग जो आकाश में उठती हुई शैलमालाओं के दृश्य का प्रेक्षण करने वाले व्यक्ति को अभिभूत कर लेता है, उसमें हरहराती हुई गहरी कन्दराएँ और प्रचण्ड जलस्रोत, गहन चिन्तानिमग्न विषण्णता का आमन्त्रित करने वाले सघन छाया युक्त सूनेपन आदि यह सब उस समय वास्तविक भय नहीं रह जाता जब हम अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त होते हैं। बल्कि यह कल्पना द्वारा मन की चेष्टा का उसके द्वारा उद्बोधित उसकी प्रशान्तता के साथ संयोजन करने में और इस प्रकार उस सीमा तक आन्तरिक और अतएव बाह्य प्रकृति से उत्कृष्टतर होने में इस मानसिक वृत्ति की अधिशक्ति का अनुभव करने के अभिप्राय से, इस तक पहुँचने का एक प्रयास है जिस हद तक कि परवर्ती हमारी मंगल-भावना पर कोई प्रभाव डाल सकती है। क्योंकि कल्पना, साहचर्य के नियमों के अनुसार हमारी संतोषावस्था को भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित बना देती है। किन्तु निर्णय-आयोजना के सिद्धान्तों के अनुसार काम करती हुई (परिणाम स्वरूप जिस सीमा तक वह स्वातन्त्र्य के आश्रित है-) वह साथ ही साथ प्रज्ञा और उसके विज्ञानों का साधन है। किन्तु अपनी इस क्षमता में यह एक ऐसी अधिशक्ति है जो हमें प्रकृति के प्रभावों के प्रतिकूल अपनी स्वतन्त्रता को, प्रतिपादित करने में समर्थ बनाती है। यह ऐसा परवर्ती के सम्बन्ध जो कुछ महान् है उसे लघु के स्तर पर अवनत करने और इस प्रकार निरपेक्षतः महान् को विषयी की उपयुक्त अवस्था में स्थानबद्ध करने के लिये करती है। सौन्दर्य-निर्णय का यह विमर्श जिसके द्वारा कि यह अपने को तर्कबुद्धि के साथ औचित्य के स्तर तक उत्थापित कर लेती है, यद्यपि तर्कबुद्धि के बिना किसी निर्दिष्ट संकल्पना के अब भी तर्कबुद्धि (प्रत्ययों की मानसिक शक्ति रूप) की माँगों को पूर्ण करने के लिये अपने अधिकतम प्रसार में कल्पना की 'वस्तुनिष्ठ अनुपयुक्तता के कारण भी आत्मनिष्ठ रूप से चरम या लक्ष्यभूत विषय का प्रतिचित्रण है।

यहाँ हमें सामान्यतः उस वस्तु पर ध्यान देना है जो पहले ही टाल दी गई है, वह यह कि निर्णय के अतीन्द्रिय सौन्दर्यशास्त्र में विशुद्ध सौन्दर्य निर्णयों के किसी भी वस्तु का और कई भी प्रश्न नहीं होना चाहिए परिणाम

स्वरूप उदाहरण ऐसे सुन्दर या उदात्त विषयों से नहीं चुने जाने चाहिए जो किसी उद्देश्य संकल्पना को पूर्वकल्पित करते हों। क्योंकि उस समय चरमता या तो उद्देश्यमूलक (Teleological) होगी या फिर किसी विषय के निरे सम्वेदनों (परितृप्ति अथवा पीड़ा) पर आधारित होगी और अतएव पहली स्थिति में वह सौन्दर्यमूलक नहीं होगी और दूसरी स्थिति में मात्र स्वरूपात्मक नहीं होगी। अतएव यदि हम नक्षत्रखचित आकाश के दृश्य को उदात्त कहें तो हमें तत्सम्बन्धी अपने आकलन को उन प्रकाशमान बिन्दुओं द्वारा बौद्धिक प्राणियों से आबाद लोकों की किन्हीं संकल्पनाओं (Concepts) के आधार पर निर्मित नहीं करना चाहिए जिन्हें हम उनके उन सूर्यों के रूप में अपने ऊपर के अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करते हुए पाते हैं जो अत्यन्त बुद्धिमतापूर्ण उद्देश्यों के साथ अपने निर्दिष्ट ग्रहपथ पर गतिमान हैं। अपितु हमें इसको जैसा कि यह हमारी दृष्टि को प्रभावित करता है, एक विस्तीर्ण एवं सर्वपरिवेष्ठी चन्द्रातप (All embracing Canopy) के रूप में ग्रहण करना चाहिए। और मात्र ऐसे ही प्रतिचित्रण के अन्तर्गत यह सम्भव है कि हम उस औदात्य को ग्रहण कर सकें जिसे विशुद्ध सौन्दर्य निर्णय इस विषय पर अध्यासित करता है। ठीक इसी प्रकार समुद्र-दृश्य के सम्बन्ध में हमें जैसा कि हम वस्तुओं की विविधता के ज्ञान (जो अव्यवहित स्वानुभूति में अन्तर्निविष्ट नहीं होता) से संचित अपने मन द्वारा उसको विचार रूप में प्रतिरूपित करने के आदी हैं, उदाहरणार्थ उसको जलचर जीवों के विशाल साम्राज्य के रूप में अथवा ऐसे महाजलाशय के रूप में जिससे वे वाष्पें खींची जाती हैं जो पृथ्वी के मंगलार्थ आकाश को आर्द्रता के मेघों से परिपूर्ण कर देती हैं अथवा और भी एक ऐसी वस्तु के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए जो निस्सदेन्ह महाद्वीप को महाद्वीप से विभक्त करती किन्तु साथ ही उनके बीच अधिकतम वाणिज्यिक समागम के साधन प्रदान करती है। क्योंकि इस प्रकार हम उद्देश्यवादी निर्णयों (Teleological judgements) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाते। बजाय इसके हमें समुद्र में, जैसा कि कविगण उसे मानते हैं, उसे एक ऐसी वस्तु मानते हुये, औदात्य (Sublimity) देखने में अवश्य सफल होना चाहिए जिसके अनुसार दृष्टि पर पड़ने वाला प्रभाव उसके सम्मुख उसकी प्रशान्तता में एक ऐसे स्वच्छ विशद जलदर्पण को उद्घाटित करता है जो चतुर्दिक् केवल आकाश से परिवेष्ठित है अथवा जो क्षुब्ध होने पर प्रत्येक वस्तु को अभिभूत और अन्तर्ग्रस्त कर लेने की धमकी देता है। ठीक यही बात मानव प्रकृतिगत उदात्त और सुन्दरम् के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यहाँ निर्णय की आधारभूमि का निश्चय करने के लिए हमें उसके समस्त अंगों और सदस्यों द्वारा उपकृत उद्देश्य-संकल्पनाओं का आश्रय नहीं लेना चाहिए अथवा इन उद्देश्यों के साथ उनकी अनुरूपता को, सौन्दर्य निर्णय ऐसा स्थिति में वह आगे विशुद्ध नहीं रह जाता) को प्रभावित

करने नहीं देना चाहिए हाँलाकि यह भी निश्चय ही सौन्दर्यानन्द (Aesthetic delight) की एक अनिवार्य उपाधि है कि उन्हें इन उद्देश्यों के साथ भिड़ना नहीं चाहिए। सौन्दर्यपरक चरमता निर्णय के स्वातन्त्र्य में उसकी नियमानुसारिता (Conformity to law) है। वस्तुगत आनन्द उस सन्दर्भ पर निर्भर करता है जिसे हम कल्पना को प्रदान करने का प्रयास कहते हैं जो इस प्रतिबन्ध (Proviso) का विषय है कि वह किसी स्वच्छन्द व्यापार में मनोरंजन करने के लिए है। इसी ओर यदि कोई और ही वस्तु—चाहे वह सम्वेदन हो अथवा बुद्धि की संकल्पना निर्णय को निर्धारित करती है तो वह निश्चय ही नियमानुसार्य है, किन्तु स्वतन्त्र निर्णय का व्यापार नहीं है।

अतः बौद्धिक सौन्दर्य अथवा औदात्य की चर्चा करना उन शब्दावलियों का व्यवहार करना है जो प्रथमतः तो सर्वथा ठीक नहीं हैं। क्योंकि वे प्रतिरूपण की ऐसी सौन्दर्यपरक रीतियाँ हैं जो हमारे विशुद्ध मनीषा (Pure intelligence) होने पर भी, (अथवा यदि हम अपने को विचार में ऐसी मनीषाओं की स्थिति में रख भी लें) हमारे लिए पूर्णतया बाह्य होगी। द्वितीयतः यद्यपि दोनों ही किसी बौद्धिक (नैतिक) आनन्द के विषय रूप में किसी कामना पर निर्भर न होने की सीमा तक सौन्दर्यानन्द के अनुरूप होंगे फिर भी दूसरी ओर ऐसे आनन्द के साथ उनकी मैत्री के मार्ग में एक कठिनाई है, वह इसलिये क्योंकि उनका कार्य कामना या प्रयोजन (Interest) उत्पन्न करना है और इस मान्यता के आधार पर कि प्रस्तुति सौन्दर्याकलन (Aesthetic estimation) गत आनन्द के साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित करना ही है यह स्वार्थ (Interest) प्रस्तुति में इससे संयुक्त किसी इन्द्रिय-स्वार्थ के द्वारा ही प्रभावित हो सकता है। किन्तु इस प्रकार,बौद्धिक चरमता कारणत्व खण्डित और अशुद्ध हो जायगी।

विशुद्ध एवं निरूपाधिक बौद्धिक आनन्द का विषय उस अधिशक्ति में प्रतिष्ठित नैतिक नियम है जिसे यह हमारे अन्दर मन के समस्त पूर्वगत उद्देश्यों पर कार्यान्वित करता है। अब चूँकि यह केवल आत्मोत्सर्ग के ही द्वारा सम्भव है कि यह अधिशक्ति हमको स्वयं अपना परिचय सौन्दर्यपरक रीति से देती है (और यह कार्य किसी वस्तु के वंचित होने को द्योतित करता है यद्यपि आन्तरिक स्वातन्त्र्य के हित में—जहाँ कि बदले मे यह हमारे अन्दर इस अतीन्द्रिय मानसिक शक्ति की एक अगाध गहराई को उद्घाटित करती है जिसके परिणाम इन्द्रिय वस्तु के बाहर तक फैलते हैं) जिसका तात्पर्य यह होता है कि सौन्दर्यबोधपरक पार्श्व से देखे जाने पर (संवेदशक्ति के सन्दर्भ में) आनन्द निषेधात्मक (Negative) है अर्थात् इस स्वार्थ के विरुद्ध है किन्तु बौद्धिक पार्श्व से देखे जाने पर वह विध्यात्मक और एक स्वार्थ से बद्ध है अस्तु इसका अभिप्राय यह होता है कि बौद्धिक और आन्तरिक

दृष्टि से चरम या लक्ष्य (नैतिक) शिव, सुन्दरम् के रूप में प्रतिचित्रित होने के बजाय सौन्दर्यबोधपरक दृष्टि से आकलित होने पर निश्चय ही उदात्त रूप में प्रति-चित्रित होगा। इसलिये यह प्रेम अथवा उसके प्रति हृदय आकृष्ट होने की भावना की अपेक्षा सम्मान की भावना को (जो चमत्कार की उपेक्षा करती है) अधिक उद्बोधित करती है—क्योंकि मानव स्वभाव स्वयं अपनी सहज स्वकीय गति से शिव के साथ सामञ्जस्य नहीं स्थापित करता बल्कि केवल उस प्रभुत्व के कारण करता है जिसे तर्कबुद्धि संवेदन-शक्ति पर प्रयुक्त करती है। विपरीततः वह वस्तु भी जिसे हम बाह्य प्रकृति में अथवा यहाँ तक कि आन्तर प्रकृति में भी उदात्त कहते हैं (जैसे कतिपय रागात्मक भावनाएँ) मन की केवल एक ऐसी अधिशक्ति के ही रूप में प्रतिचित्रित किया जाता है जो इसे नैतिक नियमों के द्वारा संवेदनशक्ति की प्रत्येक बाधा को पराभूत करने में सक्षम बनाती है और इसी से यह अपने स्वार्थ को भी व्युत्पादित करता है।

कुछ समय तक मुझे परवर्ती तथ्य पर अवश्य ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। शिव का वह प्रत्यय (Idea) जिससे रागात्मक भावना एक अतिरिक्त वस्तु के रूप में जोड़ दी जाती है औत्सुक्य है। मन की यह अवस्था उदात्त प्रतीत होती है : इतनी अधिक कि इसके सम्बन्ध में एक सामान्य उक्ति है कि इसके बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु अब प्रत्येक रागात्मक भावना अन्धी होती है, वह या तो अपने उद्देश्य के विकल्प के सम्बन्ध में अन्धी होती है या यह कल्पित करते हुये कि वह तर्क बुद्धि द्वारा निर्मित की गई है उस रीति के प्रति अन्धी होती है जिस रीति से वह प्रभावित होती है क्योकि यह वह मानसिक चेष्टा है जिसके द्वारा व्यक्ति का तदनुसार स्वयं अपना निश्चय न करने के अभिप्राय से मूलभूत सिद्धान्तों पर संविमर्श करना सम्भव होता है। इस कारण यह तर्कबुद्धि की ओर से किसी भी आनन्द की संज्ञा के योग्य नहीं हो सकती। फिर भी एक सौन्दर्यपरक दृष्टि से उत्साह (Enthusiasm) उदात्त है क्योंकि यह उन प्रत्ययों (Ideas) द्वारा प्रकटित व्यक्ति विशेष की शक्तियों का प्रयास है जो मन को संवेद्य प्रतिरूपो के के उद्दीपन की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त एवं चिरस्थायी सामर्थ्य को प्रेरणा प्रदान करते हैं। किन्तु (जैसा कि विचित्र प्रतीत होता है) एक ऐसे मन के लिए जो रागात्मक भावना के अनुन्मार्गगामी नियमों का पूर्ण तत्परता के साथ अनुसरण करता है रागात्मक भावना (Apatheia, Phlegma in significatu Bono) से मुक्ति भी उदात्त है और वह भी एक अत्यन्त व्यापक उत्कृष्टतर ढंग से क्योंकि यह साथ ही साथ विशुद्ध तर्कबुद्धि के आनन्द से युक्त होता है। मन की एकमात्र ऐसी ही प्रकृति अभिजात (Noble) कही जाती हैं। यह शब्दावली यथासमय ऐसी वस्तुओं के हेतु प्रयुक्त होने के लिये उपस्थित होती है जैसे इमारतें, परिधान साहि

उन सूत्रवाक्यों से अपना सन्दर्भ निर्देश करता है जो हमारी प्रकृति के बौद्धिक पक्ष और तर्कबुद्धि के प्रत्ययों को संवेदनशक्ति (Sensibility) के ऊपर उत्कृष्टता प्रदान करने के हेतु निदेशित होते हैं।

इस बात से डरने का हमारे पास कोई कारण नहीं कि उदात्त की अनुभूति इस प्रकार की किसी उपस्थापना की अमूर्त पद्धति से पीड़ित होगी जो ऐन्द्रिक तत्त्व की सर्वथा निषेधक है क्योंकि यद्यपि कल्पना असंदिग्ध रूप से उस संवेद्य-जगत् के बाहर कुछ भी नहीं पाती जिसको कि वह हस्तगत कर सकती है तथापि संवेद्य अवरोधों का यह अपसारण इसे अबाध-असीम होने की एक अनुभूति प्रदान करता है और इस प्रकार वह व्यपोहन (Removal) अनन्त का एक उपस्थापन है। इस रूप में यह कभी भी एक निषेधात्मक उपस्थापन से अधिक कोई वस्तु नहीं हो सकती—किन्तु फिर भी यह आत्मा का विस्तार करती है। यहूदियों के विधान में शायद इस आदेश (Commandment) से अधिक उदात्त कोई भी उद्धरण नहीं है। तू अपने में कोई उत्कीर्ण प्रतिमा (Graven image) अथवा किसी भी ऐसी वस्तु के समान कोई वस्तु नहीं बनाएगा जो आकाश में, पृथ्वी पर या पृथ्वी के नीचे है। यह आदेश अकेला ही उस औत्सुक्य या उत्साह की व्याख्या कर सकता है जिसे यहूदियों ने अपने नैतिक युग में, दूसरों के साथ या इस्लाम धर्म द्वारा अनुप्राणित दर्प के साथ अपनी तुलना करते समय अपने धर्म के लिए अनुभव किया था। ठीक यही बात नैतिक नियम के हमारे प्रतिरूपण में नैतिकता के प्रति हमारी जन्मजात क्षमता के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। यह आशंका कि यदि हम उस प्रत्येक वस्तु के इस प्रतिरूपण का परित्याग कर देते हैं जो इसे इन्द्रियों को अर्पित कर सकता है तो यह वहाँ किसी हृदयग्राही शक्ति या भाव से अनुसंगित न होकर केवल एक प्रकार के भावशून्य और निष्प्राण समर्थन से अनुगत होगा, पूर्णतया अप्रत्याभावित है। इसका ठीक विलोम ही सत्य है। क्योंकि आगे जब कुछ भी इन्द्रिय के दृष्टपथ में नहीं आता और जब निर्भ्रान्त एवं अनपनेय नैतिकता-प्रत्यय (Idea of morality) इस क्षेत्र के अधिकार में रह जाता है तो इन प्रत्ययों को, उनकी क्षमता (Potency) में अभावग्रस्त होने के भय से बिम्बों और बालिश कल्पनाओं (Childish devices) की सहायता प्रदान करने की चेष्टा करने के बजाय एक निर्बन्ध असीम कल्पना को औत्सुक्य (Enthusiasm) के स्तर तक उठने से रोकने के लिये उसकी उत्कृष्टता या व्यग्रता (Ardour) को अपेक्षाकृत कम करने की आवश्यकता होगी। इसीलिए सरकारों ने सहर्ष धर्म को इन उपसाधनों से पूर्णतया सुसज्जित होने की छूट दे दी है और इस प्रकार उसके विषयों को अनायास मुक्त करने किन्तु साथ ही उन्हें उस योग्यता से वंचित करने की चेष्टा की है जो मनमाने ढंग से उनके लिये निर्धारित सीमाओं के बाहर उनकी

आध्यात्मिक शक्तियों का विस्तार करने के लिये अपेक्षित है और जो उनके इस प्रकार निरूपित होने को जैसे मानो वे निष्क्रिय हों, सुविधा प्रदान करती है।

दूसरी ओर नैतिकता का यह विशुद्ध उन्नयनकरी निरा निषेधात्मक उपस्थापन उस धर्मान्धता की कोई आशंका द्योतित नहीं करता जो कि एक ऐसा विभ्रम है जो संवेदनशक्ति की सारी सीमाओं के परे किसी अन्तर्दृष्टि का संकल्प करेगा अर्थात् नियम के (तर्कनापरक प्रलाप) अनुसार स्वप्न देखेगा। सुरक्षण (Safe-guard) उपस्थापन का विशुद्धतः निषेधात्मक (Negative) गुणधर्म है। क्योंकि स्वातन्त्र्य-प्रत्यय की अभेद्यता (Inscrutability) समस्त विध्यात्मक उपस्थापन (Positive presentation) का प्रतिवारण कर देती है। जैसे भी हो नैतिक नियम हमारे अन्तःस्थ संकल्प का यथेष्ट एवं मौलिक उद्गम है : अतएव यह हमें एक क्षण के लिये भी स्वयं अपने से बाह्य किसी संकल्पाधार के लिये प्रयत्न करने की अनुमति नहीं देता। यदि औत्सुक्य उन्माद तुल्य है तो मतान्धता की तुलना सनक या झक के साथ की जा सकती है। इनमें से दूसरा सबसे कम उदात्त के अनुरूप है क्योंकि यह अत्यन्त उपहासास्पद—तुच्छ है। मनोविकार रूप औत्सुक्य मे कल्पना उद्दाम या स्वच्छन्द होती है एक गहन चिन्तन-निमग्न आवेश रूप मतान्धता मे यह अवैध-विश्रृङ्खल होती है। पहली एक ऐसी अल्पकालिक परिवर्ती घटना है समय आने पर सर्वाधिक स्वस्थ बुद्धि भी जिसका शिकार बन सकती है। दूसरी अन्दर-अन्दर से नष्ट करने वाली एक व्याधि है।

सहजता (कलाविहीन चरमता) प्रकृति द्वारा उदात्त की स्थिति मे गृहीत शैली है। यह नैतिकता की भी (शैली) है। परवर्ती एक ऐसी द्वितीय (अतीन्द्रिय) प्रकृति है हम जिसके नियमों मात्र को, अपनी अन्तःस्थ अतीन्द्रिय मनःशक्ति की—उस शक्ति की जो इस विधान की आधारभूमि को अन्तर्धारण करती है, कोई स्वानुभूति प्राप्त करने में समर्थ हुये बिना ही जानते हैं।

एक और अभ्युक्ति! सुन्दरगत आनन्द से किञ्चिन्मात्र भी कम, उदात्त-गत आनन्द अपनी सार्वभौम सम्प्रेषणीयता के कारण मात्र अन्य सौन्दर्य-निर्णयों से ही स्पष्टतः पृथक् नहीं हो जाता बल्कि ठीक इसी विभव से वह समाज में एक अभिरुचि भी प्राप्त करता है (जिसमें वह ऐसे सम्प्रेषण को मानता है) फिर भी इसके बावजूद हमें इस तथ्य पर ध्यान देना है कि निखिल समाज से विच्छेद को एक उदात्त जैसी ही वस्तु समझा जाता है बशर्ते यह उन प्रत्ययों (Ideas) पर निर्भर करता हो जो सम्पूर्ण संवेद्य स्वार्थ की उपेक्षा करते हैं। आप्तकाम होना और अतएव बिना असामाजिक हुये अर्थात् बिना समाज का परिहार किये उसकी अपेक्षा न रखना एक ऐसी वस्तु है जो प्रायः उदात्त के सन्निकट पहुँचती है—यह एक ऐसी अभ्युक्ति है जो अभावों के प्रति सारी गुरुता Superiority) के लिये व्यवहाय

त्यिक शैली किसी व्यक्ति का आचरण आदि, बशर्ते ये इतना अधिक विस्मय (प्रत्याश का अतिक्रमण करके अपूर्वता के निरूपण पहुँचने वाली भावना) को उद्दीप्त न करें जितना कि श्लाघा [एक ऐसा विस्मय जो अपूर्वता के मिट जाने पर भी समाप्त नहीं होता] को और इसका प्रचलन वहाँ होता है जहाँ प्रत्यय (Ideas) आयोजित और कलाशून्य ढंग सौन्दर्यपरक आनन्द के साथ अपनी प्रस्तुति में संगत होते हैं।

स्फूर्तिमय श्रेणी का प्रत्येक मनोविकार (जैसे वह जो प्रत्येक प्रतिरोध को पराभूत करने वाली हमारी शक्ति की चेतना को उत्तेजित करता है (Auimus-Stremus), सौन्दर्यपरक दृष्टि से उदात्त होता है जैसे क्रोध और यहाँ तक कि निराशोन्माद भी (साहसिक कार्य के लिए उत्कट उद्योग का उन्माद किन्तु कातरतापूर्ण निराशा नहीं)। दूसरी ओर स्फूर्तिहीन श्रेणी का मनोविकार (जो प्रतिरोध के प्रत्येक प्रयत्न को एक दुःख-विषय (Awiuws au Gwdus) में परिवर्तित कर देता है) में कुछ भी अभिजात नहीं होता, हांलाकि यह ऐन्द्रिक श्रेणी के सौन्दर्य को धारण करने वाली वस्तु के रूप में अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। अतः किसी मनोविकार (Affection) की शक्ति तक पहुँचने वाले भाव अत्यन्त विभिन्न हैं। हमारे पास ऊर्जस्वित (Spirited) भाव भी हैं और कोमल भी। जिस समय परवर्ती की शक्ति किसी मनोविकार को शक्ति तक पहुँच जाती है उस समय उनका कोई भी आकलन नहीं किया जा सकता। उसमें आसक्त होने की नैसर्गिक प्रवृत्ति भावुकता (Sentimentality) है। एक करुणाजनक शोक, जिसे ढाढ़स नहीं बँधाया जा सकता है अथवा एक ऐसा शोक जिसका, प्रयोजन उस काल्पनिक दुर्भाग्य से है जिसे हम उस सीमा तक स्थान देते हैं जिस सीमा तक हम अपनी स्वप्नाभास कल्पना (Fancy) को इसे वास्तविक तथ्य समझने की दिशा में अपने को भ्रान्त कर देने की स्वीकृति या छूट दे सकते हैं, एक कोमल किन्तु साथ ही दुर्बल आत्मा का निर्देश और निर्माण करता है जो एक सुन्दर पक्ष दर्शाता है और असंदिग्ध रूप से अनोखा (Fanciful) कहा जा सकता है किन्तु जो कभी भी उत्साहपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

रोमांस, मदोन्मत्त नाट्य, छिछले अरुचिकर सदुपदेश जो तथाकथित (यद्यपि मिथ्या ही) भावों (Sentiment) की उपेक्षा करते हैं किन्तु वस्तुतः हृदय को निस्तेज कर्तव्य के कठोर आदेशों के प्रति असंवेदनशील और स्वयं हमारे अपने व्यक्तित्व और मनुष्य के अधिकारों में पाये जाने वाले मानवता के मूल्य (जो उनके सुख से एक सर्वथा भिन्न वस्तु है) का सम्मान करने में हमें अक्षम और सामान्यत समस्त दृढ़ नियमों के पालन में असमर्थ बनाते हैं यहाँ तक कि एक धर्मोपदेश भी जो उन शक्तियों के द्वारा जो हमारे अपने हाथ में हैं भले ही हम

दयनीय पापी क्यों न हों, अपनी प्रवृत्तियों के माध्यम से प्राप्य उत्कृष्टतर वस्तु को प्राप्त करने के प्रबल संकल्प के स्थान पर अपने भीतर के अशुभ का प्रतिरोध करने में अपने निजी सामर्थ्य में होने वाले सम्पूर्ण विश्वास का परिहार करके एक प्रकार की खुशामदी दया-याचना और अनुग्रह-लाभ के लिये अनुरोध करता है; वह झूठा दैन्य जिसके द्वारा आत्म-तिरस्कार, कराहने वाला दम्भपूर्ण प्रायश्चित और एक ऐसी निरी अकर्मण्य मानसिक गठन बद्धमूल हो जाती है, एकमात्र जिसके ही द्वारा हम ईश्वर के लिये ग्राह्य हो सकते हैं आदि इन वस्तुओं का उस वस्तु में न तो कोई अंश है और न उसके साथ कोई मैत्री ही, जिसकी गणना सुन्दर के अन्तर्गत हो सकती है, केवल सुन्दर के ही अन्तर्गत न कि मानसिक प्रकृति वाले औदात्य के।

किन्तु यहाँ तक कि मन की अत्यन्त तीव्र चेष्टाएँ भी—भले ही वे ज्ञान-वृद्धि या सुधार (Edification) के नाम पर धर्म प्रत्ययों से अथवा केवल संस्कृति से सम्बन्ध रखने के कारण किसी सामाजिक स्वार्थ का अन्तर्भूत करने वाले प्रत्ययों से सम्बद्ध हों—वे कल्पना के चाहे जिस उद्वेग को उत्पन्न करें, किसी भी उदात्त-उपस्थापन की पद-प्रतिष्ठा का दावा नहीं कर सकतीं। बशर्ते यदि वे अपने पीछे मन की एक ऐसी प्रकृति को नहीं छोड़ जातीं, जो चाहे वह परोक्ष रूप से ही हो, उस वस्तु के सम्बन्ध में मन की शक्ति और दृढ़ संकल्पना की चेतना पर एक प्रकार का प्रभाव रखती है जो अपने साथ विशुद्ध बौद्धिक चरमता (अतीन्द्रिय) को वहन करती है। क्योंकि इसके अभाव में ये सारे भाव (Emotion) केवल गति (Motion) से सम्बन्ध रखते हैं जिसका हम अच्छे स्वास्थ्य के हित में स्वागत करते हैं। अनुकूलवेदनीय तन्द्रा जो उस प्रकार से मनोविकारों की क्रिया द्वारा उत्तेजित होने पर आघटित होती है उस समतावस्था की उपलब्धि या उपभोग है जो हमारी अन्तस्थ विविध जीवन-शक्तियों की साम्यावस्था के प्रत्यावस्थापन से उत्पन्न होती है। यह वस्तु अन्ततोगत्वा उस वस्तु से अधिक नहीं सिद्ध होती जिसे पौरस्त्य विषयी व्यक्ति (Voluptuaries) उस समय इतना शान्तिजनक पाते हैं जिस समय वे अपने शरीर पर अभ्यंग-मर्दन करवाते और अपनी सारी मांसपेशियों और जोड़ों को धीरे-धीरे निपीड़ित करवाते और झुकवाते हैं: यह कि केवल पहला ही वह नियम मुख्यतः आन्तरिक है जो चेष्टा को घटित करता है जबकि यह पूर्णतया बाह्य है। इस प्रकार कोई व्यक्ति उस प्रवचन (Sermon) द्वारा अपना सुधार होने में विश्वास करता है जिसमें किसी भी वस्तु की कोई भी स्थापना नहीं होती (अच्छे सूत्रवाक्यों का कोई भी सिद्धान्त नहीं होता) अथवा उस समय किसी त्रासदी (Tragedy) द्वारा स्वयं को उन्नत अनुभव करता है जिस समय वह ऊबने की अनुभूति से अपने को भली-भाँति मुक्त पाकर मात्र प्रसन्न होता है इस प्रकार हर एक स्थिति में उदात्त अनिवार्यतः हमारी विचार-पद्धति अर्थात

उन सूत्रवाक्यों से अपना सन्दर्भ निर्देश करता है जो हमारी प्रकृति के बौद्धिक पक्ष और तर्कबुद्धि के प्रत्ययों को संवेदनशक्ति (Sensibility) के ऊपर उत्कृष्टता प्रदान करने के हेतु निर्देशित होते हैं।

इस बात से डरने का हमारे पास कोई कारण नहीं कि उदात्त की अनुभूति इस प्रकार की किसी उपस्थापना की अमूर्त पद्धति से पीड़ित होगी जो ऐन्द्रिक तत्त्व की सर्वथा निषेधक है क्योंकि यद्यपि कल्पना असंदिग्ध रूप से उस संवेद्य-जगत् के बाहर कुछ भी नहीं पाती जिसको कि वह हस्तगत कर सकती है तथापि संवेद्य अव-रोधों का यह अपसारण इसे अबाध-असीम होने की एक अनुभूति प्रदान करता है और इस प्रकार वह व्यपोहन (Removal) अनन्त का एक उपस्थापन है। इस रूप में यह कभी भी एक निषेधात्मक उपस्थापन से अधिक कोई वस्तु नहीं हो सकती—किन्तु फिर भी यह आत्मा का विस्तार करती है। यहूदियों के विधान में शायद इस आदेश (Commandment) से अधिक उदात्त कोई भी उद्धरण नहीं है। तू अपने में कोई उत्कीर्ण प्रतिमा (Graven image) अथवा किसी भी ऐसी वस्तु के समान कोई वस्तु नहीं बनाएगा जो आकाश में, पृथ्वी पर या पृथ्वी के नीचे है। यह आदेश अकेला ही उस औत्सुक्य या उत्साह की व्याख्या कर सकता है जिसे यहूदियों ने अपने नैतिक युग में, दूसरों के साथ या इस्लाम धर्म द्वारा अनुप्राणित दर्प के साथ अपनी तुलना करते समय अपने धर्म के लिए अनुभव किया था। ठीक यही बात नैतिक नियम के हमारे प्रतिरूपण में नैतिकता के प्रति हमारी जन्मजात क्षमता के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। यह आशंका कि यदि हम उस प्रत्येक वस्तु के इस प्रतिरूपण का परित्याग कर देते हैं जो इसे इन्द्रियों को अर्पित कर सकता है तो यह वहाँ किसी हृदयग्राही शक्ति या भाव से अनुसंगित न होकर केवल एक प्रकार के भावशून्य और निष्प्राण समर्थन से अनुगत होगा, पूर्णतया अप्रत्याभावित है। इसका ठीक विलोम ही सत्य है। क्योंकि आगे जब कुछ भी इन्द्रिय के दृष्टपथ में नहीं आता और जब निर्भ्रान्त एवं अनपनेय नैतिकता-प्रत्यय (Idea of morality) इस क्षेत्र के अधिकार में रह जाता है तो इन प्रत्ययों को, उनकी क्षमता (Potency) में अभावग्रस्त होने के भय से बिम्बों और बालिश कल्पनाओं (Childish devices) की सहायता प्रदान करने की चेष्टा करने के बजाय एक निर्बन्ध असीम कल्पना को औत्सुक्य (Enthusiasm) के स्तर तक उठने से रोकने के लिये उसकी उत्कृष्टता या व्यग्रता (Ardour) को अपेक्षाकृत कम करने की आवश्यकता होगी। इसीलिए सरकारों ने सहर्ष धर्म को इन उपसाधनों से पूर्णतया सुसज्जित होने की छूट दे दी है और इस प्रकार उसके विषयों को मुक्त करने किन्तु साथ ही उन्हें उस योग्यता से वंचित करने की चेष्टा की है जो मनमाने ढग से उनके लिये निर्धारित सीमाओं के बाहर उनकी

आध्यात्मिक शक्तियों का विस्तार करने के लिये अपेक्षित है और जो उनके ... प्रकार निरूपित होने को जैसे मानो वे निष्क्रिय हों, सुविधा प्रदान करती है।

दूसरी ओर नैतिकता का यह विशुद्ध उन्नयनकरी निरा निषेधात्मक उपस्थापन उस धर्मान्धता की कोई आशंका द्योतित नहीं करता जो कि एक ऐसा विभ्रम है जो संवेदनशक्ति की सारी सीमाओं के परे किसी अन्तर्दृष्टि का संकल्प करेगा अर्थात् नियम के (तर्कनापरक प्रलाप) अनुसार स्वप्न देखेगा। सुरक्षण (Safe-guard) उपस्थापन का विशुद्धतः निषेधात्मक (Negative) गुणधर्म है। क्योंकि स्वातन्त्र्य-प्रत्यय की अभेद्यता (Inscrutability) समस्त विध्यात्मक उपस्थापन (Positive presentation) का प्रतिवारण कर देती है। जैसे भी हो नैतिक नियम हमारे अन्तःस्थ संकल्प का यथेष्ट एवं मौलिक उद्गम है : अतएव यह हमें एक क्षण के लिये भी स्वयं अपने से बाह्य किसी संकल्पाधार के लिये प्रयत्न करने की अनुमति नहीं देता। यदि औत्सुक्य उन्माद तुल्य है तो मतान्धता की तुलना सनक या झक के साथ की जा सकती है। इनमें से दूसरा सबसे कम उदात्त के अनुरूप है क्योंकि यह अत्यन्त उपहासास्पद—तुच्छ है। मनोविकार रूप औत्सुक्य में कल्पना उद्दाम या स्वच्छन्द होती है एक गहन चिन्तन-निमग्न आवेश रूप मतान्धता मे यह अवैध-विशृङ्खल होती है। पहली एक ऐसी अल्पकालिक परिवर्ती घटना है समय आने पर सर्वाधिक स्वस्थ बुद्धि भी जिसका शिकार बन सकती है। दूसरी अन्दर-अन्दर से नष्ट करने वाली एक व्याधि है।

सहजता (कलाविहीन चरमता) प्रकृति द्वारा उदात्त की स्थिति मे गृहीत शैली है। यह नैतिकता की भी (शैली) है। परवर्ती एक ऐसी द्वितीय (अतीन्द्रिय) प्रकृति है हम जिसके नियमों मात्र को, अपनी अन्तःस्थ अतीन्द्रिय मनःशक्ति की—उस शक्ति की जो इस विधान की आधारभूमि को अन्तर्धारण करती है, कोई स्वानुभूति प्राप्त करने में समर्थ हुये बिना ही जानते हैं।

एक और अभ्युक्ति! सुन्दरगत आनन्द से किञ्चिन्मात्र भी कम, उदात्तगत आनन्द अपनी सार्वभौम सम्प्रेषणीयता के कारण मात्र अन्य सौन्दर्य-निर्णयो से ही स्पष्टतः पृथक् नहीं हो जाता बल्कि ठीक इसी विभव से वह समाज में एक अभिरुचि भी प्राप्त करता है (जिसमें वह ऐसे सम्प्रेषण को मानता है) फिर भी इसके बावजूद हमें इस तथ्य पर ध्यान देना है कि निखिल समाज से विच्छेद को एक उदात्त जैसी ही वस्तु समझा जाता है बशर्ते यह उन प्रत्ययों (Ideas) पर निर्भर करता हो जो सम्पूर्ण संवेद्य स्वार्थ की उपेक्षा करते हैं। आप्तकाम होना और अतएव बिना असामाजिक हुये अर्थात् बिना समाज का परिहार किये उसकी अपेक्षा न रखना एक ऐसी वस्तु है जो प्राय उदात्त के सन्निकट पहुँचती है—यह एक ऐसा अभ्युक्ति है जो अभावों के प्रति सारी गुरुता (Superiority) के लिये व्यवहाय

है। दूसरी ओर जनद्वेष से उनके प्रति शत्रुता होने के कारण अथवा ऐन्थ्रॉपॉफॉबिया (Anthropophobia) से क्योंकि हम यह सोचते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति हमारे विरुद्ध है अपने संगी मनुष्यों का परित्याग कर देना अंशतः (जो अत्यन्त अनुचित ढंग से ऐसा कहा जाता है) घृण्य और अंशतः अवमान्य है। तथापि एक ऐसा जनद्वेष भी पाया जाता है जिसके प्रति वयोवृद्धि के साथ-साथ अनेक सद्विचारपरायण मनुष्यों में भी प्रवृत्ति देखी जा सकती है। जहाँ तक कि सद्भावना (Good will) काम करती है, वह प्रवृत्ति निश्चय ही पर्याप्त लोकहितैषिणी है किन्तु दीर्घकालीन एवं विषण्ण अनुभव के फलस्वरूप मानव जातिगत आनन्द से अत्यन्त भिन्न हो जाती है। इसके स्पष्ट प्रमाण हमे वैराग्योन्मुखी प्रवृत्ति में, अवकाशप्राप्त व्यक्ति की अपने ग्राम्यावास सम्बन्धी काल्पनिक इच्छाओं में अथवा (युवकों के पक्ष में) शेष जगत् के लिये अज्ञात किसी द्वीप पर एक छोटे से परिवार के साथ अपना जीवन व्यतीत कर सकने के सुख-स्वप्न में मिलते हैं जिसकी सामग्री का ऐसा अच्छा उपयोग करना लेखक राबिन्सनक्रूसो जानते हैं। असत्य, अकृतज्ञता, अन्याय और उन उद्देश्यों की तुच्छता जिन्हें स्वयं हम महान् और अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते हैं और जिन्हें हस्तगत करने के लिये मानव अपने को सारे कल्पनीय अनिष्ट या क्षति पहुँचाता है—ये सारी की सारी चीजें इस विचार का बेहद विरोध करती हैं कि मनुष्य क्या होते यदि वे केवल ऐसा होते और वे उन्हें अधिक खुशहाल देखने की हमारी इस सक्रिय कामना के असामञ्जस्य में ऐसा है कि जहाँ हम प्यार नहीं कर सकते वहाँ घृणा न करें, बन्धुता के सम्पूर्ण आनन्द का परित्याग कर देना एक अत्यन्त हल्का त्याग प्रतीत होता है। यह विषण्णता (Sadness), जो उन अनिष्टों या अशुभों के प्रति निर्देशित नहीं है जिन्हें भाग्य दूसरों के ऊपर घटित करती है, (एक ऐसी विषण्णता जो सहानुभूति से उत्पन्न होती है) बल्कि जो उन अनिष्टों के प्रति निर्देशित है जिन्हें वे स्वयं अपने को पहुँचाते हैं (एक ऐसी विषण्णता जो सिद्धान्त की दृष्टि से नैसर्गिक विद्वेष पर आधारित है।) उदात्त है क्योंकि यह प्रत्ययों पर आधारित है जबकि सहानुभूति से उत्पन्न होने वाली विषण्णता केवल सुन्दर मानी जा सकती है—ससरे जो कि उतना ही विचक्षण था जितना कि वह गम्भीर था, अपने आल्पाइन यात्राओं के वर्णन में सावोय पर्वतों में से ब्राजहामे नामक पर्वत को लक्ष्य करके कहता है "वहाँ एक रूक्ष विषण्णता (Insipid sadness) परिव्याप्त है।" अतएव उसने यह माना कि इसके अतिरिक्त एक रोचक विषण्णता भी (Interesting sadness) है जैसे वह विषण्णता जो किसी ऐसे एकान्त स्थान के दृश्य से अनुप्राणित होती है जिसमें कि मनुष्य परिस्थितिवश फिर कभी बाह्य-जगत् की आवाज न सुनने और उसके कार्य-व्यापार में फिर कभी अभिज्ञ न होने के लिए स्वयं अपने को खींच लाते हैं एक ऐसा स्थान जो फिर भी सर्वथा इतना आतिथ्य

विमुख नहीं हो सकता कि एक मानव को एक दयनीय एकान्तवास न दे सके। मैं यह निरूपण मात्र एक स्थान के रूप में कर रहा हूँ कि यहाँ तक कि अवसाद या निर्वेद (किन्तु नैराश्यग्रस्त विषण्णता नहीं) भी प्रबल मनोविकारों में अपना स्थान प्राप्त कर सकता है बशर्ते उसका मूल नैतिक प्रत्ययों में निहित हो। यदि फिर भी यह सहानुभूति पर आधारित है और इस रूप में प्रिय है तो यह केवल शिथिल मनोविकारों (Languid affections) के अन्तर्गत आता है। और यह उस मानसिक प्रकृति के प्रति ध्यान आकृष्ट करने के काम आता है जो प्रथम स्थिति में एकमात्र उदात्त है।

सौन्दर्य-निर्णयों की उस अतीन्द्रिय व्याख्या की जिसे अभी समाप्त किया गया है बर्क और हममें से अनेक तीक्ष्णमति पुरुषों द्वारा निष्पादित भौतिकीय व्याख्या के साथ तुलना की जा सकती है जिससे कि हम यह देख सकें कि उदात्त और सुन्दर की निरी अनुभाविक व्याख्या हमें कहाँ ले जायगी बर्क[1] जो निरूपण की इस पद्धति में सर्वाग्रणी लेखक कहलाने का अधिकारी है इन्हीं पद्धतियों पर यह उपपादित करता है कि उदात्त की अनुभूति आत्मरक्षणोन्मुखी प्रवृत्ति और भय पर अर्थात् उस वेदना (Pain) पर आधारित है जो, चूँकि वह शारीरिक अवयवों को अव्यवस्थित करने की सीमा तक नहीं जाती, उन चेष्टाओं (Movements) को आगे लाती है, जो, चूँकि वे पात्रों के, चाहे वे सुललित हों या स्थूल, साघातिक और सुखद भार को परिमार्जित करती हैं, आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ है ; सुख की नहीं अपितु एक प्रकार के आनन्दपूर्ण आतंक की, संत्रास-रंजित एक प्रकार की प्रशान्तता या निर्वृत्ति (Tranquillity) की सृष्टि करने में समर्थ हैं। 'सुन्दरम् को' जिसे वह प्रेम (Love) पर आधारित करता है (जिससे वह फिर भी पृथक् इच्छा रखता होगा) शरीर के तन्तुओं के मृदूकरण श्लथन और ओज-निरसन (Enervating) और परिणामतः सुख के लिये उनके कोमलीभवन् विलयन शमन, मूर्च्छन, मरण और द्रावण में अपचित करता है और इस व्याख्या का वह मात्र उन दृष्टान्तों द्वारा ही समर्थन नहीं करता जिनमें उदात्त की अनुभूति की भाँति ही सुन्दरम् की अनुभूति बुद्धि—सम्पर्कित कल्पना द्वारा हमारे अन्दर उद्दीप्त हो सकती है बल्कि यहाँ तक कि उसके संवेदना के संसर्ग में होने पर दृष्टान्तों द्वारा भी उद्दीप्त हो सकती है। मनोवैज्ञानिक निरूपण रूप हमारे मानसिक प्रपंचों (Mental Phenomena) के ये विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म हैं और आनुभविक नृविज्ञान की अभीष्ट गवेषणाओं के लिए सामग्री-वैभव प्रदान करते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त वहाँ

[1] उसकी कृति के जर्मन रूपान्तर "सुन्दर और उदात्त सम्बन्धी धारणाओं के मूल के सम्बन्ध में दार्शनिक गवेषणाएँ हार्टेनाकद्वारा प्रकाशित रीगा १७७६ के पृष्ठ २२३ पर देखिए

इस बात का निवर्तन नहीं है कि हमारे अन्दर के सारे प्रतिरूप (Representations) चाहे वे वस्तुपरक दृष्टि से निरे संवेद्य हों या पूर्णतया बौद्धिक, फिर भी वे परितृप्ति (Gratification) अथवा वेदना (Pain) के साथ व्यक्तिनिष्ठतया सम्मिलन-योग्य हैं इनमें से कोई चाहे कितनी ही अगोचर क्यों न हो। (इन प्रतिरूपों के कारण उनमें से सबकी सब जीवनानुभूति पर प्रभाव डालती हैं और उस हद तक उनमे से कोई भी उदासीन नहीं हो सकती जिस हद तक कि वह विषयी का एक विकार है।) जैसा कि एपीक्यूरस मानता था हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि परितृप्ति और वेदना हालाँकि वे कल्पना अथवा यहाँ तक कि बुद्धि के प्रतिरूपों से आरम्भ होती हैं, अन्ततोगत्वा सदैव पार्थिक हैं क्योंकि शरीरावयवों की किसी भी अनुभूति से पृथक् जीवन तो अपने अस्तित्व की एक चेतना मात्र होगा और मंगल या उसके विलोम अर्थात् जीवनशक्तियों के उत्कर्ष या प्रतिषेध की किसी भी अनुभूति को अन्तर्विष्ट नहीं कर सकेगा। क्योंकि स्वयं अकेले ही मन सम्पूर्ण जीवन है (स्वयं जीवन सिद्धान्त ही) और उत्कर्ष या प्रतिषेध इसके बाहर और फिर भी स्वयं मनुष्य के ही भीतर परिणामतः उसके शरीर के सम्बन्ध में खोजी जाने वाली वस्तु है।

किन्तु यदि हम उस विषयगत आनन्द को पूर्णतया और समग्रतः तृप्ति पर आरोपित कर देते हैं जिसे वह (तृप्ति) चमत्कार और भावसंवेग द्वारा प्रदान करती है तो हमें अपने द्वारा पारित सौन्दर्य निर्णय के साथ किसी अन्य व्यक्ति से उसके मतैक्य या सहमति की माँग नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ऐसे विषयों में प्रत्येक व्यक्ति उचित ही, केवल अपनी ही व्यक्तिगत अनुभूति से परामर्श लेता है। किन्तु उस स्थिति में रुचि की सम्पूर्ण प्रतिबन्धक व्यवस्था (Sensorship) का एक उद्देश्य है—जबतक कि दूसरों द्वारा प्रदत्त उनके निर्णयों की नैमित्तिक अनुरूपता से उत्पन्न दृष्टान्त हमारी सम्मति का नियन्त्रण करने वाला माना जाता है। किन्तु हम मान्य रूप से इस नियम के प्रति आक्रोश और स्वयं अपने इंद्रिय बोध (Sense) को निर्णय प्रदान करने वाले अपने निसर्ग सिद्ध अधिकार के प्रति अनुरोध करेंगे, जहाँ कि वह इसे दूसरों के इन्द्रिय बोध के सम्मुख प्रस्तुत करने के बजाय व्यक्तिगत मंगल की अव्यवहित अनुभूति पर निर्भर करता है।

अतएव जहाँ हम रुचि निर्णय का मूल्यांकन प्रत्येक व्यक्ति की सहमति की अपेक्षा रखने के अधिकारी निर्णय के रूप में करते हैं यदि उसका आशय अहंवादी (Egoistic) नहीं हो सकता, बल्कि जहाँ उसकी आन्तरिक प्रकृति द्वारा अर्थात् रुचि स्वयं जो कुछ है उसके कारण, न कि उन दृष्टान्तों के कारण जो अन्य लोग अपनी रुचि के सम्बन्ध में देते हैं उसे अनिवार्य रूप से बहुवादी मान्यता दी जा सकती है तो उसे अवश्यमेव किसी अनुभव निरपेक्ष नियम पर चाहे वह

हो अथवा वस्तुनिष्ठ) आधारित होना चाहिए और उन परिवर्तनों के आनुभविक नियमों के सूक्ष्म निरूपण या अन्वेषण की कोई भी मात्रा ऐसे नियम की स्थापना करने में सफल नहीं हो सकती जो हमारे मन में होते रहते हैं। क्योंकि ये नियम केवल इस बात का ज्ञान उत्पन्न करते हैं कि हम कैसे निर्णय करें किन्तु ये हमें इस बात का आदेश नहीं देते कि हमें कैसे निर्णय करना चाहिए और इससे अधिक ये हमें एक ऐसा आदेश नहीं देते जो निरुपाधि (Unconditioned) है और इस प्रकार के आदेश रुचि-निर्णय द्वारा उतनी ही मात्रा में पूर्वकल्पित किये जाते हैं जितनी मात्रा में कि वे प्रतिरूपण के साथ अव्यवहित रूप से सम्बद्ध किए जाने के लिये आनन्द की अपेक्षा रखते हैं। तदनुसार यद्यपि सौन्दर्य-निर्णयों की आनुभविक व्याख्या एक उच्चतर गवेषणा के लिए सामग्री संचित करने की दिशा में पहला कदम हो सकता है फिर भी इस मनः शक्ति (Faculty) की एक अतीन्द्रिय (Transcendental) परीक्षा सम्भव है और वह 'रुचि मीमांसा' के एक अनिवार्य अंग का रूप ग्रहण करती है। क्योंकि यदि रुचि अनुभव-निरपेक्ष नियमों के अधिकार में न होती तो वह सम्भवतः दूसरों के निर्णयों के ऊपर विहित होने वाले निर्णय में प्रतिष्ठित न हो पाती और उनके ऊपर यहाँ तक कि अधिकारी से जरा भी सादृश्य के साथ श्लाघा अथवा भर्त्सना के वाक्य पारित न करती।

सौन्दर्य-निर्णय की वैश्लेषिकी का शेषांश सर्वप्रथम अन्तर्धारण करता है :—

विशुद्ध सौन्दर्य-निर्णयों का उपपादन

प्रकृति की वस्तुओं पर विहित होने वाले सौन्दर्य-निर्णयों का उपपादन उस वस्तु की दिशा में निदेशित नहीं होना चाहिए जिसे हम प्रकृतिगत उदात्त कहते हैं बल्कि उसे मात्र सुन्दरम् की ओर निदेशित होना चाहिए।

सौन्दर्य निर्णय का प्रत्येक विषयी के लिये सार्वभौम मान्यता का दावा एक ऐसा निर्णय होने के कारण जो अनिवार्यतः किसी अनुभव-निरपेक्ष नियम पर निर्भर करता है, उपपादन की (अर्थात् अपनी संज्ञा से व्युत्पादन की) अपेक्षा रखता है। इसके आगे जहाँ आनन्द अथवा विरक्ति वस्तु के स्वरूप पर अवलम्बित करने लग जाती है वहाँ यह निर्णय की व्याख्या के ऊपर उठ जाती है। ऐसी ही स्थिति प्रकृतिगत सुन्दरम् पर दिये जाने वाले रुचि-निर्णयों के साथ है। क्योंकि वहाँ चरमता का आधार विषय या वस्तु और उसके बाह्य स्वरूप में निहित होता है—हालाँकि संकल्पनाओं के अनुसार (संज्ञानात्मक निर्णयों के अभिप्राय से, यह दूसरी वस्तुओं के साथ इसके सन्दर्भ को सूचित नहीं करता बल्कि उस हद तक यह केवल इस स्वरूप के बोध Apprehension) से सम्बद्ध है जि-

हद तक यह मन में संकल्पनाओं की शक्ति की भाँति ही उनकी उपस्थापन शक्ति (जो बोधशक्ति से अभिन्न है) के साथ सामञ्जस्यपूर्ण सिद्ध होता है। अतएव हम प्रकृतिगत सुन्दरम् के सम्बन्ध में उनके स्वरूप की इस चरमता के कारण को स्पर्श करने वाले अनेकानेक प्रश्न आरम्भ कर सकते हैं, यथा हम कैसे इस बात की व्याख्या करेंगे कि प्रकृति के पास बाहर अपव्यय पूर्ण हाथों से, बिखरा हुआ इतना सौन्दर्य क्यों है यहाँ तक कि उस समुद्र की गहराई में भी जहाँ तक उस मनुष्य की दृष्टि बहुत कम ही पहुँच सकती है जो एकमात्र जिसके ही लिये यह लक्ष्य (Final) है।

किन्तु हम यदि प्रकृतिगत उदात्त पर, उस वस्तुनिष्ठ चरमता के रूप में, जो निर्णय को उद्देश्यमूलक बना देगा, पूर्णता की संकल्पनाओं से अमिश्रित कोई विशुद्ध सौन्दर्य-निर्णय दें तो वह (प्रकृतिगत उदात्त) पूर्णतया स्वरूपाभाव ग्रस्त माना जा सकता है और उससे जरा भी कम एक विशुद्ध आनन्द की वस्तु नहीं समझा जा सकता और वह निर्दिष्ट प्रतिरूप (Representation) के व्यक्तिनिष्ठ चरमता को सूचित करता है। अस्तु, अब प्रश्न स्वयं अपने को यह सुझाव देता है कि क्या इस प्रकार के किसी सौन्दर्य-निर्णय में उसकी व्याख्या के अतिरिक्त जो कुछ सोचा जाता है हमसे उसके किसी (व्यक्तिनिष्ठ) अनुभव-निरपेक्ष नियम के प्रति उसके दावे का उपपादन प्रस्तुत करने का अनुरोध किया जा सकता है।

इसका मुकाबला हम इस उत्तर के साथ करते हैं कि प्रकृतिगत उदात्त को अनुचित ढंग से ऐसा (प्रकृतिगत उदात्त) कहा जाता है और उदात्तता को, यथार्थ में, केवल विचार पद्धति या उस वस्तु पर अध्यासित किया जाना चाहिए जो मानव-प्रकृति में इसके आधार का काम करती है। अन्यथा स्वरूपहीन और उद्देश्यों के साथ संघर्षरत किसी वस्तु (Object) का बोध (Apprehension) हमारे इस आधार की चेतना तक पहुँचने का निरा अवसर प्रदान करता है; और वस्तु इस प्रकार एक व्यक्ति-निष्ठतया लक्ष्य (Subjectively final) उपयोग में विनियुक्त हो जाती है, किन्तु वह स्वयं अपने कारण या अपने स्वरूप के कारण व्यक्तिनिष्ठतया लक्ष्य (Subjectively final) आकलित नहीं की जाती। (यह एक Species finalies accepta non data है) परिणामतः प्रकृतिगत उदात्त के ऊपर विहित निर्णयों की जो व्याख्या हमने दी वह साथ ही साथ उनका उपपादन भी थी। क्योंकि इस स्थिति में निर्णय की ओर से विमर्श के अपने विश्लेषण में हमने यह पाया कि ऐसे निर्णयों मे संज्ञानात्मक शक्तियों (Cognitive faculties) का एक ऐसा चरम सम्बन्ध (Final relation) होता है जिसे उद्देश्यों की मनःशक्ति (Faculty of ends) (इच्छा शक्ति) के आधार पर प्रस्थापित किया जाना चाहिए और इसीलिए जो स्वयं प्रागनुभवसोद्देश्य (Apriori final) है तो यह तत्काल अर्थात् ऐसे निर्णय के सार्वभौमत अनिवार्य मान्यता

(Universally necessary validity) के प्रति अपने दावे के औचित्यसमर्थन को उपलक्षित करता है ।

अतः हम अपनी गवेषणा को एक वस्तु तक रुचि-निर्णयों के उपपादन अर्थात् प्रकृति की वस्तुओं के सौन्दर्य पर दिये जाने वाले निर्णयों तक सीमित रख सकते हैं और यह सन्तोषजनक रूप से निर्णय की सम्पूर्ण सौन्दर्यपरक मनःशक्ति की समस्या को दूर कर देगा ।

रुचि-निर्णयों के उपपादन की पद्धति का उपपादन

किसी उपपादन को निष्पन्न करने का दायित्व अर्थात् एक विशेष प्रकार के निर्णयों की वैधता या औचित्य की गारंटी केवल वहीं पैदा होती है जहाँ निर्णय अनिवार्यता (Necessity) का दावा करता है। यहाँ तक कि यही स्थिति वहाँ भी होती है जहाँ यह व्यक्तिनिष्ठ सर्वनिष्ठता (Subjective Universality) की अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की सहमति की अपेक्षा रखता है हालाँकि निर्णय कोई संज्ञानात्मक निर्णय नहीं है । बल्कि वह केवल किसी निर्दिष्ट विषयगत सुख अथवा दुःख का ही निर्णय है कहने का अभिप्राय यह कि यह किसी ऐसे व्यक्तिनिष्ठ चरमता की एक मान्यता है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक पूरी मान्यता रखता है और जो, चूँकि निर्णय रुचि का निर्णय है, वस्तु की किसी भी संकल्पना पर आधारित होने को नहीं है ।

परवर्ती स्थिति में, अब हम किसी संज्ञान निर्णय (Judgment of cognition) का निरूपण नहीं कर रहे हैं न तो बुद्धि द्वारा प्रदत्त सामान्यतः किसी प्रकृति की संकल्पना पर आधारित किसी सैद्धान्तिक निर्णय का निरूपण कर रहे हैं और न तर्कबुद्धि द्वारा अनुभव-निरपेक्ष रूप में प्रदत्त स्वातन्त्र्य-प्रत्यय पर आधारित किसी (विशुद्ध) व्यावहारिक निर्णय का निरूपण कर रहे हैं और इसीलिए हमसे अनुभव निरपेक्ष रीति के किसी ऐसे निर्णय के औचित्य-समर्थन का आग्रह नहीं किया जाता जो या तो इस तथ्य का प्रतिरूपण करता है कि वस्तु क्या है या फिर इस तथ्य का कोई ऐसा कार्य है जिसे उसके उत्पादनार्थ हमें करना चाहिए । परिणामस्वरूप यदि निर्णय के लिये हम सामान्यतः किसी वस्तु के स्वरूप के आनुभविक प्रतिरूपण की व्यक्तिनिष्ठ चरमता को प्रकट करने वाले किसी एकनिष्ठ निर्णय की सार्वभौम मान्यता का प्रतिपादन करें तो हम वह सब कर लेंगे जो इस तथ्य की व्याख्या करने के लिए अपेक्षित है कि यह कैसे सम्भव है कि कोई वस्तु किस प्रकार अपने आकलन की निरी संरचना में (बिना संवेदन अथवा संकल्पना के) सुख प्रदान कर सकती है है और किस प्रकार वह संज्ञानार्थ किसी वस्तु के आकलन के रूप में सामान्यत सार्वभौम नियमों से युक्त हो सकती है कि किस प्रकार किसी एक व्यक्ति का आनन्द अन्य प्रत्येक व्यक्ति के नियम रूप में अभिहित हो सकता है

अब यदि यह सार्वभौम मान्यता कि दूसरे लोग किस प्रकार की संवेदनाओं का अनुभव करते हैं इनके तत्सम्बन्धी मतों के संग्रह और पृच्छा पर आधारित होने को नहीं है बल्कि सुखानुभूति (Feeling of pleasure) पर निर्णय देने वाले विषयी की स्वायत्तता पर अर्थात् उसकी अपनी रुचि पर आधारित होने को है और तिस पर भी यदि वह संकल्पनाओं से व्युत्पादित होने को नहीं है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि ऐसा निर्णय—और रुचि निर्णय वस्तुतः ऐसा ही है भी—एक द्वैध विशिष्टता और एक अन्वीक्षात्मक विशिष्टता भी रखता है। क्योंकि प्रथमतः यह प्रागनुभव सार्वभौम मान्यता रखता है फिर भी संकल्पनाओं के अनुसार कोई अन्वीक्षात्मक सार्वभौमता रखे बिना केवल एकनिष्ठ निर्णय की सार्वभौमता से युक्त होकर। द्वितीयतः यह एक अनिवार्यता (Necessity) से युक्त होता है (जो अवश्यमेव अपरिवर्तनीय रूप से प्रागानुभव आधार भूमियों पर निर्भर करती है) किन्तु एक ऐसी अनिवार्यता जो ऐसे किन्हीं भी प्रागानुभव मान्यताओं पर निर्भर नहीं करती जिनके प्रतिरूपण द्वारा उस सहमति को लागू करना समुचित होगा जिसकी रुचि-निर्णय प्रत्येक व्यक्ति से माँग करता है।

इन अन्वीक्षात्मक विशिष्टताओं का जो रुचि-निर्णय को समस्त संज्ञानात्मक निर्णयों से पृथक् करती हैं, कोई समाधान इस विलक्षण मनःशक्ति के लिए स्वयं पर्याप्त होगा, बशर्ते हम प्रारम्भ में ही निर्णय की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु जैसे सुखानुभूति आदि से अपना ध्यान खींच कर अन्वीक्षा द्वारा विहित वस्तुनिष्ठ निर्णयों के रूप (Form) के साथ मात्र सौन्दर्यपरक रूप की तुलना ही करें। दृष्टान्तों की सहायता से मैं सर्वप्रथम रुचि की इन गुणधर्ममूलक विशेषताओं को ही सोदाहरण स्पष्ट करने और प्रकाश में लाने का प्रयत्न करूँगा।

रुचि-निर्णय की प्रथम विशिष्टता

रुचि-निर्णय प्रत्येक व्यक्ति की सहमति के दावे के साथ आनन्द (सौन्दर्य की एक वस्तु के रूप में) के सम्बन्ध में अपने विषय (Object) का निर्धारण करता है जैसे मानो वह वस्तुनिष्ठ हो।

यह कहना कि यह पुष्प सुन्दर है, प्रत्येक व्यक्ति के आनन्द के प्रति उसके निजी दावे को दुहराने के समान है। उसकी सुगन्ध की अनुकूलवेदनीयता उसे कोई भी दावा नहीं प्रदान करती। एक व्यक्ति उससे आमोदित हो उठता है किन्तु दूसरे व्यक्ति को वही शिरोवेदना प्रदान करती है।

अब इससे हम इसके अतिरिक्त और अधिक क्या सोच सकते हैं कि इसके सौन्दर्य को स्वयं पुष्प का ही गुणधर्म समझना चाहिए जो व्यक्तियों के वैविध्य और जनसमुदाय के व्यक्तिगत इन्द्रिय-संवेदों के साथ स्वयं को अनुकूलित नहीं करता बल्कि जिसके साथ यदि वे उस पर निर्णय देने जा रहे हैं तो उन्हें स्वयं

अपने को अनुकूलीकृत करना चाहिए। और फिर भी समस्या की अवस्थिति का स्वरूप यह नहीं है। क्योंकि रुचि-निर्णय वस्तुतः एक ऐसी वस्तु में निहित होता है जो प्रधानतया उस गुण के सन्दर्भ में सुन्दर कहलाती है जिसके अन्तर्गत यह स्वय अपने को इसे ग्रहण करने के हमारे ढंग के साथ अनुकूलित करता है।

इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक निर्णय जो व्यक्ति की रुचि को दर्शाने के लिये है, स्वयं व्यक्ति का स्वतन्त्र निर्णय (Independent Judgment) होने के लिये अपेक्षित है। दूसरे लोगों के निर्णयो को टटोलने और उसी विषयगत उनके आनन्द अथवा उसी विषय के प्रति उनकी विरक्ति से पहले से ही शिक्षा ग्रहण करने की कोई भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। परिणामतः उसे अपना निर्णय निरपेक्ष रूप से देना चाहिए, और किसी ऐसी अनुकृति के रूप में नहीं देना चाहिए जो उस सामान्य आनन्द पर निर्भर करती हो जिसे कोई वस्तु एक वास्तविकता के रूप में प्रदान करती है। कुछ भी हो, व्यक्ति यह सोचेगा कि एक प्रागनुभव निर्णय को उस विषय (Object) की किसी संकल्पना को अवश्य द्योतित करना चाहिए जिसके संज्ञान के लिये वह इस नियम को अन्तर्धारण करता है कि रुचि-निर्णय संकल्पनाओं के आधार पर निर्मित नहीं होता और वह किसी भी प्रकार संज्ञान न होकर मात्र एक सौन्दर्य निर्णय है।

इसीलिये यह देखा जाता है कि एक तरुण कवि इस विश्वास या धारणा द्वारा फुसलाए जाने से इन्कार कर देता है कि उसकी कविता सुन्दर है, चाहे यह निर्णय जनता द्वारा किया गया हो या उसके मित्रों द्वारा और यदि वह उनकी बात पर थोड़ा विश्वास भी कर लेता है तो वह ऐसा इसलिए नहीं करता कि अब वह एक दूसरे निर्णय पर पहुँच गया है बल्कि इसलिए करता है कि जहाँ तक उसकी कृति का सम्बन्ध है चाहे सारी जनता झूँठी रुचि रखती हो, किन्तु वह फिर भी अपनी संज्ञानेच्छा में अपने को लोक-प्रचलित भ्रम के अनुकूल बनाने के यथेष्ट कारण पाता है (यहाँ तक कि स्वयं अपने ही निर्णय के विरुद्ध) ऐसा केवल बाद मे उस समय होता है जब उसका निर्णय अभ्यास द्वारा निष्णात् हो चुका होता है कि वह अपनी निजी स्वतन्त्र इच्छा और स्वेच्छा से अपने पूर्ववर्ती निर्णय का परित्याग कर देता है—हालाँकि वह उनके साथ ठीक उसी तरह का व्यवहार कर रहा होता है जैसा कि अपने उन निर्णयों के साथ करता है जो पूर्णतया तर्कबुद्धि (Reason) पर निर्भर करते हैं। रुचि केवल स्वायत्तता का दावा करती है। दूसरों के निर्णयों को स्वयं अपने निर्णय की निर्धारिणी—आधारभूमि बनाना परायत्तता हो जायगी।

हम पुरातनों की कृतियों को प्रतिमान (Models) मानते हैं और सचमुच हो उनके लेखको को लेखक कहते हैं जो लेखकों के बीच एक एस

आभिजात्य का विधान करते हैं जो पथ प्रदर्शन करता है और उसके द्वारा लोगों को नियम प्रदान करता है, यह तथ्य रुचि के अनुभव-सापेक्ष स्रोतों की ओर संकेत करता हुआ और प्रत्येक व्यक्ति में प्राप्य रुचि-स्वायत्तता का विरोध करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु इसी तरह हम यह भी कह सकते है कि प्राचीन गणितज्ञ जो इस युग के लिए संश्लेषणात्मक पद्धतियों में परिपूर्ण सम्यक्ता और प्राञ्जलता के प्राय: अपरिहार्य आदर्श समझे जाते हैं, वह प्रमाणित करते हैं कि हमारी ओर से तर्कबुद्धि भी मात्र अनुकृतिमूलक ही है और अत्यन्त गहन स्वानुभूति की तुलना में सकल्पनाओं की संरचना द्वारा वह स्वतः कठोर प्रमाण प्रस्तुत करने में अक्षम है। वहाँ हमारी शक्तियो का चाहे वे कितनी ही स्वच्छन्द क्यों न हों, कोई भी नियोजन नहीं है यहाँ तक कि स्वयं उस तर्कबुद्धि का कोई भी नियोजन नहीं है (जिसे सामान्य अनुभव-निरपेक्ष स्रोतों से उसके सारे निर्णयों की सृष्टि करनी चाहिए) जो, यदि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपने अपरिष्कृत मानसिक सम्भार के साथ एकदम नये सिरे से आरम्भ करना पड़ता अपने को भ्रामक प्रयासों में उलझा लेता यदि चेतावनी रूप में दूसरों के प्रयास उसके सामने न होते। ऐसा नहीं है कि पूर्ववर्ती लोग उन लोगो को जो उनका अनुसरण करते हैं निरा अनुकर्ता बनाते हैं बल्कि अपनी पद्धतियों द्वारा वे दूसरों को स्वयं अपने सिद्धान्तों को खोजने और इस प्रकार स्वयं अपनी अपेक्षाकृत उत्कृष्ट प्रक्रिया को ग्रहण करने के रास्ते पर लगा देते हैं। यहाँ तक कि धर्म मे भी—जहाँ कि हर एक व्यक्ति को अपना आचरण नियम स्वयं अपने में से व्युत्पादित करना पड़ता है, यह देखते हुये कि इसके लिये वह स्वयं उत्तरदायी रहता है और जब वह गलती कर बैठता है तो वह इस दोष को अपने ऊपर से उठाकर शिक्षक अथवा नेता को देकर दूसरों के मत्थे नहीं मढ़ सकता—धर्माचार्य अथवा दार्शनिक के चरणों में बैठकर अथवा स्वयं अपने ही साधन-स्रोतों से सीखे गये सूत्रवाक्य (Precepts) कभी भी उतने लाभप्रद नहीं होते जितना सद्गुण अथवा पवित्रता का कोई ऐसा दृष्टान्त होता है जो कि ऐतिहासिक रूप से चित्रित होने पर, नैतिकता (अनुभव निरपेक्ष) के स्वतः प्रेरित और मौलिक (Original) प्रत्यय से गृहीत सद्गुण की स्वायत्तता से मुक्त नहीं हो जाता अथवा इसे अनुकृति की यान्त्रिक प्रक्रिया में परिवर्तित नहीं कर देता। नीचे जो चीज अनुकृति से नहीं, बल्कि एक पूर्वपद (Precedent) से अपना सन्दर्भ निर्दिष्ट करती है वह हमारे उस सम्पूर्ण प्रभाव की समुचित अभिव्यक्ति है जिसे किसी अनुकरणीय लेखक की रचनाएँ दूसरों पर डाल सकती हैं—इसका अर्थ एक सर्जनात्मक कृति के लिए उन्हीं स्रोतों (Sources) तक जाने से अधिक और कुछ भी नहीं है जिस तक वह स्वयं अपनी सर्जनाओं के लिए गया और अपने पूर्वपुरुष से सीखने का अर्थ व्यक्ति का एस स्रोतों से लाभ उठाने से अधिक और कुछ नहीं है

रुचि चूँकि, उसका निर्णय संकल्पनाओं अथवा सूत्रवाक्यों (Precepts) द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता अतएव वह समस्त मानसिक शक्तियों और प्रवणताओं में से वह है जो उस वस्तु के दृष्टान्तों की सर्वाधिक अपेक्षा रखती है जिसने संस्कृति की प्रक्रिया में अपने को सबसे बड़े सम्मान का भाजन बनाए रखा है। इस प्रकार यह अपरिपक्वावस्था में पूर्वपतित होने और अपने प्रारम्भिकतम प्रयासों की अपरिपक्वता के प्रति प्रत्यावर्तन का परिहार करती है :

रुचि-निर्णय की द्वितीय विशिष्टता

रुचि निर्णय का निर्धारण करने के लिये प्रमाण किसी काम के नहीं ठहरते वे चाहे जैसे भी हों और इस सम्बन्ध में स्थिति ऐसी होती है जैसे मानो वह निर्णय मात्र व्यक्तिनिष्ठ हो।

यदि कोई व्यक्ति किसी इमारत, दृश्य या कविता को सुन्दर नहीं समझता तो प्रथमतः, वह जहाँ तक कि उसका अन्तस्तम विश्वास पहुँचता है, आकाश को सवर्द्धित करने वाले शतशत स्वरों से अभिमति देने से इन्कार कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि वह उससे आह्लादित अनुभव करने का ढोंग कर सकता है जिससे कि उसे रुचि-शून्य न समझा जाय। यहाँ तक कि वह इन सन्देहों का भी आश्रय लेने लग सकता है कि क्या उसने एक विशेष प्रकार की वस्तुओं की प्रचुर-संख्या की परिचिति के आधार पर अपनी रुचि को निर्मित किया है (जिस प्रकार कि वह व्यक्ति जो सुदूर स्थित जैसा कि उसका विश्वास है किसी वस्तु को जंगल समझता है जिसे हर अन्य व्यक्ति नगर मानता है, अपनी दृष्टिशक्ति के निर्णय के सम्बन्ध मे सन्देहग्रस्त हो उठता है। किन्तु तो भी वह स्पष्ट देखता है कि दूसरों की अभिमतिसौन्दर्याकलन के लिए सुलभ कोई वैध प्रमाण नहीं प्रदान करती। वह मानता है कि संयोगात् दूसरे उसके लिये देख सकते और निरूपण कर सकते हैं, और यह कि जिस वस्तु को अनेकों ने बिलकुल एक ही रूप में देखा है वह सैद्धान्तिक और अन्वीक्षात्मक निर्णय (Logical judgment) के हेतु उसके लिए एक उपयुक्त प्रमाणाधार का काम कर सकती है, बशर्ते वह यह विश्वास करता हो कि उसने उसे अन्य रूप में देखा है, किन्तु यह कि जिस वस्तु ने दूसरों को आह्लादित किया है वह उसके लिये सौन्दर्य निर्णय की आधारभूमि का काम नहीं दे सकती निःसन्देह दूसरों के निर्णय, जहाँ वे हमारे निर्णय के अनुकूल होते हैं, ठीक ही हमें स्वयं अपने निर्णय के सम्बन्ध में संशयालु बनाते हैं किन्तु हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि या गलत है, ऐसा कभी नहीं हो सकता। अतः ऐसा कोई अनुभवमूलक प्रमाणाधार नहीं है जो किसी के रुचि-निर्णय पर बल प्रयोग कर सके।

द्वितीयत एक प्रमाण निश्चित नियमों के अनुसार सौन्दर्य विषयक निर्णय का निर्धारण करने में और भी कम समर्थ है यदि कोई व्यक्ति

मुझे अपनी कविता पढ़कर सुनाता है अथवा कोई नाटक दिखाता है जो पूरी पढ़ और दिखा चुकने पर मेरी रुचि की संस्तुति प्राप्त कर सकने में असमर्थ रहता है तो उसे अपनी कविता के सौन्दर्य के प्रमाण स्वरूप बैटेक्स या लेशिंग अथवा रुचि के और भी अधिक प्राचीन तथा अधिक प्रसिद्ध आलोचकों को, उनके द्वारा विहित सम्पूर्ण नियमावली के साथ उद्धृत करने दीजिए; कुछ ऐसे अंशों को जो मेरे लिए विशेषतः अरुचिकर (Displeasing) हैं पूर्णतया सौन्दर्य-नियमों के अनुरूप होने दीजिए (जैसा कि इन आलोचकों द्वारा निश्चित किया गया और सार्वभौम रूप से स्वीकार किया गया है) मैं अपने कान बन्द कर लेता हूँ; मैं इस सम्बन्ध में कोई कारण या कोई. तर्क नहीं सुनना चाहता। मैं यह कल्पित करना पसन्द करूँगा कि आलोचकों के वे नियम दोषग्रस्त थे अथवा कम से कम हमारे निर्णय को प्रागनुभव प्रमाणों द्वारा निर्धारित होने की स्वीकृति देने के अलावा उनका कोई व्यवहार (Application) नहीं था। मैं अपने तर्क को इस तर्क पर आधारित करता हूँ कि मेरा निर्णय, रुचि-निर्णयों में से एक है और वह बुद्धि अथवा तर्कबुद्धि के निर्णयों में से नहीं है।

यह इस तथ्य के कारणों में से-कि सौन्दर्य-निर्णय की इस शक्ति को क्यों रुचि की संज्ञा प्रदान की गई है, एक प्रमुख कारण प्रतीत होगा। क्योंकि एक व्यक्ति मुझ से किसी थाली के सारे पदार्थों का सविस्तार वर्णन कर सकता है और यह निरूपण कर सकता है कि उनमें से प्रत्येक वस्तु ठीक वही है जिसे मैं पसन्द करता हूँ और इसके साथ ही भोजन की सम्पूर्णता की प्रशंसा कर सकता है; तथापि मैं इन समस्त तर्कों के प्रति बधिर हूँ, मैं थाली का आस्वादन स्वयं अपनी रसना और अभिरुचि से करता हूँ और उनके न्याय के अनुसार निर्णय देता हूँ (सार्वभौम नियमों के अनुसार नहीं)।

वास्तव में रुचि-निर्णय को अपरिवर्तनीय रूप से विषय के ऊपर एकनिष्ठ-निर्णय के रूप में विहित किया जाता है। बुद्धि आनन्द के विचार से दूसरों के निर्णयों के साथ वस्तु (Object) की तुलना से एक सार्वभौम-निर्णय का निर्गमन कर सकती है उदाहरणार्थ जैसे "सारे कन्दपुष्प सुन्दर होते हैं"। किन्तु फिर वह निर्णय कोई रुचि-निर्णय नहीं है अपितु वह एक अन्वीक्षापरक निर्णय है जो हमारी रुचि के किसी विषय (Object) के सन्दर्भ को किसी प्रकार की वस्तुओं के अन्तर्गत आने वाले विधेय में रूपान्तरित कर देता है। किन्तु यह निर्णय ही है जिसके द्वारा मैं एक विशेष निर्दिष्ट कन्दपुष्प को सुन्दर मानता हूँ अर्थात् तद्गत अपने आनन्द को सार्वभौम मान्यता का आनन्द अर्थात् उसे एक रुचि-निर्णय मानता हूँ। जैसे भी हो इसकी विशिष्टता (Peculiarity) इस बात में निहित है कि यद्यपि यह मात्र व्यक्तिनिष्ठ रखता है फिर भी यह उतने ही निःसंकोच भाव से सभी

विषयियों (Subjects) तक अपने दावे का विस्तार करता है जितने निःसंकोच भाव से यह तब करता जबकि यदि वह सज्ञान की आधारभूमियों पर आधारित और उपपादन सिद्ध होने में समर्थ एक वस्तुनिष्ठ निर्णय होता।

रुचि का कोई वस्तुनिष्ठ नियम सम्भव नहीं है

रुचि के एक नियम का अर्थ होगा एक ऐसा मूलभूत पक्ष या आधार-वाक्य जिसकी परिस्थिति में (Under the condition) कोई व्यक्ति किसी वस्तु-प्रत्यय (Concept of an Object) को अन्तर्भूत कर सके और फिर हेत्वनुमान (Syllogism) द्वारा यह निर्णय कर सके कि वह सुन्दर है। जैसे भी हो यह सर्वथा असम्भव है। क्योंकि मैं किसी वस्तु के प्रतिरूपण-जन्य आनन्द को अव्यवहित रूप से अनुभव करता हूँ और इस सम्बन्ध मे मैं किन्हीं भी प्रमाणाधारों द्वारा प्रभावित नही हो सकता। इस प्रकार ह्यूम (Hume) कहता है कि यद्यपि आलोचक सूपकार (Cooks) की अपेक्षा अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से विवेचना कर सकते हैं किन्तु फिर भी वे उसी भाग्य के भागी बनते हैं। अपने निर्णय की निर्धारिणी आधारभूमि के लिये वे निरूपणों की शक्ति (Force of demonstrations) का ध्यान रखने मे समर्थ न होकर सूत्रवाक्यों और नियमों से अपवर्जित मात्र अपनी निजी अवस्था (आनन्द अथवा विषाद की) पर विषयी के चिन्तन (Reflection) का ध्यान रख सकते हैं।

जैसे भी हो उसमें एक ऐसी वस्तु है जिस पर आलोचकों के लिये अपनी सूक्ष्मदर्शिता का प्रयोग करना आनुषंगिक है और जिस पर उन्हें तब तक ऐसा करना चाहिये जब तक कि वह हमारे रुचि-निर्णयों के परिशोधन बिस्तरण की दिशा मे प्रवृत्त होती है। किन्तु वह वस्तु, किसी सार्वभौमतः व्यवहार्य सूत्र (Uinversally applicable Formula) में जो कि असम्भव है, इस प्रकार के सौन्दर्य-निर्णयों की निर्धारिणी आधारभूमि का प्रदर्शन करने वाली नहीं है। बल्कि वह संज्ञान-शक्तियों (Faculties of Cognition) और इन निर्णयों में उनकी क्रिया की गवेषणा और उनकी उस अन्योन्य व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्यमूलकता (Finality) का दृष्टान्तों के विश्लेषण द्वारा निदर्शन है। ऊपर एक निर्दिष्ट प्रतिरूपण में जिसके रूप को उनके विषयों के सौन्दर्य का विधान करने वाला दर्शाया गया है। अतएव उस प्रतिरूपण के विचार से, जिसके द्वारा कि कोई विषय या वस्तु निर्दिष्ट की जाती है, रुचि मीमांसा (Critique of taste) स्वयमेव व्यक्तिनिष्ठ है; अभिधानतः यह निर्दिष्ट प्रतिरूप में (बिना पूर्वगत संवेदन अथवा संकल्पना का सन्दर्भ दिये) बुद्धि और कल्पना के पारस्परिक सम्बन्ध को, परिणामतः उनकी अनुरूपता अथवा वैषम्य को नियमों में अपचित करने और उन्हें उनकी अवस्थाओं के विचार से निर्धारित करने की कला अथवा विज्ञान है यह कला है यदि यह इसे दृष्टान्तों

द्वारा केवल उदाहृत करती है; यह विज्ञान है यदि सामान्य ज्ञानवृत्ति रूप (as faculties of knowledge in general) इन वृत्तियों (Faculties) की प्रकृति में ऐसे आकलन की सम्भावना का उपपादन करती है यहाँ हमारा सम्बन्ध इन्द्रियानुभवातीत मीमांसा (Transcendental Critique) रूप केवल परवर्ती से ही है। इसका समीचीन क्षेत्र निर्णय के प्रागनुभव नियम रूप, रुचि के व्यक्तिपरक सिद्धान्त का विकास और औचित्यसमर्थन (Justification) है। कला के रूप में 'मीमांसा' केवल उन दैहिक (यहाँ मनोवैज्ञानिक) और परिणामतः अनुभवमूलक नियमों का ध्यान रखती है जिनके अनुसार रुचि वस्तुतः आगे बढ़ती और अपने विषयों (Objects) का आकलन करने में उनका सम्भरण करने का प्रयत्न करती है। परवर्ती मीमांसा ठीक उसी प्रकार ललित कलाकृतियों की आलोचना करती है जिस प्रकार पूर्ववर्ती उनका आकलन करने वाली मनःशक्ति (Faculty) की आलोचना करती है।

रुचि का नियम निर्णय की सामान्यशक्ति का व्यक्तिनिष्ठ नियम है

रुचि-निर्णय को अन्वीक्षामूलक निर्णय से इस तथ्य द्वारा पृथक् किया जाता है कि जहाँ परवर्ती एक प्रतिचित्रण को किसी वस्तु-संकल्पना के अन्तर्गत करता है वहाँ रुचि-निर्णय उसे किसी संकल्पना के अन्तर्गत बिलकुल ही नहीं करता—क्योंकि यदि वह करता तो अनिवार्य एवं सार्वभौम अभिमति प्रमाणों द्वारा लागू की जाने में समर्थ होती। और फिर भी यह निश्चित रूप से अन्वीक्षामूलक निर्णय के साथ यह सादृश्य रखती है कि यह एक सार्वभौमता तथा अनिवार्यता का प्रतिपादन करती है, तथापि वस्तु-संकल्पनाओं के अनुसार नहीं बल्कि एक ऐसी सार्वभौमता और अनिवार्यता का प्रतिपादन करती है जो परिणामतः निरी व्यक्तिनिष्ठ है। अब किसी निर्णय में निहित संकल्पनाएँ उसकी अन्तर्वस्तु, (वह वस्तु जो विषय-संज्ञान से सम्बन्ध रखती है) का विधान करती हैं। किन्तु रुचि-निर्णय संकल्पनाओं द्वारा निर्धार्य नहीं है। अतएव वह केवल एक सामान्य निर्णय की व्यक्तिनिष्ठ रूपात्मक अवस्था में ही अपना आधार पा सकती है। सारे निर्णयों की व्यक्तिनिष्ठ अवस्था स्वयमेव निर्णयकारिणी शक्ति अथवा निर्णय है। एक ऐसे प्रतिरूपण के सम्बन्ध में विनियुक्त होने पर, जिसके द्वारा कोई विषय निर्दिष्ट किया जाता है यह प्रतिरूपण की दो शक्तियों के सामञ्जस्यपूर्ण अनुरूपता की अपेक्षा रखती है। ये हैं कल्पना (स्वानुभूति और बहुविध स्वानुभूति के विन्यास के लिए) और बुद्धि (इस विन्यास की एकता के प्रतिरूप-स्वरूप संकल्पना के लिये)। अब चूँकि यहाँ इस निर्णय में कोई भी वस्तु-संकल्पना अन्तर्निहित नहीं होती अतएव यह उन दशाओं के स्वयं कल्पना (उस प्रतिरूपण की स्थिति में जिसके द्वारा कोई विषय निर्दिष्ट किया जाता है) के उपनय में निहित होता है जो बुद्धि को रूप

मे स्वानुभूति से संकल्पनाओं की दिशा में बढ़ने के लिये सामर्थ्य प्रदान करती है। कहने का अभिप्राय यह कि चूँकि कल्पना की स्वच्छन्दता वस्तुतः इस बात में निहित होती है कि वह बिना किसी संकल्पना के ही योजना बनाती है, अतएव रुचि निर्णय को, अपनी स्वच्छन्दता से युक्त कल्पना की परस्पर त्वरावर्द्धिनी चेष्टा के और अपनी नियमानुसारिता (Conformity to law) के सहित बुद्धि के निरे सवेदन पर आधारित होना चाहिये। अतएव इसे एक ऐसी भावना (Feeling) पर आधारित होना चाहिए जो विषय (Object) को, उनकी स्वच्छन्द क्रिया में संज्ञानात्मक शक्तियों (Cognitive Faculties) के उत्कर्ष के लिए, प्रतिरूपण की उद्देश्यमूलकता (Finality) द्वारा आकर्षित होने की स्वीकृति दे देता है। तो, निर्णय की व्यक्तिनिष्ठ शक्ति रूप रुचि, संकल्पनाओं के अन्तर्गत सहानुभूतियों के नहीं बल्कि सहानुभूतियों की शक्ति अथवा उपस्थापनाओं अर्थात् संकल्पनाओं की शक्ति के अन्तर्गत अर्थात् उस सीमा तक बुद्धि के अतर्गत कल्पना के उपनय के एक नियम को अन्तर्विष्ट करता है जिस सीमा तक कि पूर्ववर्ती अपनी स्वच्छन्दता में परवर्ती के साथ उसकी नियमानुसारिता में सामञ्जस्य रखता है।

रुचि-निर्णयों के निगमन द्वारा इस संज्ञा (Title) के शोध के लिये हम केवल इस प्रकार के निर्णयों की रूपात्मक विशिष्टताओं (Formal Peculiarities) के निर्देशन और परिणामतः उनके अन्वोक्षात्मक रूप की निरी विचारणा (Mere Consideration) से ही लाभ उठा सकते हैं।

रुचि-निर्णयों के निगमन की समस्या

एक संज्ञानात्मक निर्णय (Cognitive Judgment) का विधान करने के लिए हम अव्यवहित रूप से किसी विषय के प्रत्यक्ष बोध (Perception of an object) के साथ सामान्यतः एक ऐसे विषय (Object) को सम्बद्ध करते हैं जिसके अनुभवमूलक विधेय (Empirical predicate) उस प्रत्यक्ष बोध (Perception) में अन्तर्विष्ट होते हैं। इस प्रकार एक अनुभव-निर्णय (Judgment of experience) उत्पन्न होता है। अब यह निर्णय उस बहुविध स्वानुभूति की समन्वयात्मक एकता की अनुभव-निरपेक्ष संकल्पनाओं (Apriori concepts) के आधार पर निर्भर करता है जो इसे किसी विषय या वस्तु (Object) के निर्धारण के रूप में गृहीत होने योग्य बनाती है। ये संकल्पनाएँ (बुद्धि-विकल्प) एक 'निगमन' की माँग करती है और ऐसा ही (निगमन) उन्हें 'विशुद्ध तर्कबुद्धि की मीमांसा' (Critique of pure reason में प्रदान किया गया था और उस 'निगमन ने हमें इस समस्या करने में समर्थ बनाया कि किस प्रकार अनुभव-निरपेक्ष

संज्ञानात्मक निर्णय सम्भव हैं ? तदनुसार इस समस्या का प्रयोजन विशुद्ध बुद्धि के अनुभव-निरपेक्ष नियमों और उसके सैद्धान्तिक निर्णयों से था।

किन्तु हम एक प्रत्यक्ष बोध (Perception) के साथ अव्यवहित रूप से किसी सुख (अथवा दुःख) की अनुभूति और विषय (Object) के प्रतिरूपण का उपलब्ध करने वाले और एक विधेय के बदले में उसका काम करने वाले आनन्द को सम्बद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार एक ऐसा निर्णय उद्भूत होता है जो सौन्दर्यपरक और असंज्ञानात्मक है। अब यदि ऐसा निर्णय कोरा संवेदन-निर्णय न होकर वह रूपात्मक विमर्श-निर्णय है जो एक अनिवार्य आनन्द के रूप में इस आनन्द की हर एक व्यक्ति से माँग करता है तो इसके आधार में इसके अनुभव निरपेक्ष नियम के रूप में कोई वस्तु अवश्य निहित होनी चाहिए। वास्तव में यह नियम एक निरा व्यक्तिनिष्ठ नियम हो सकता है (यह कल्पित करते हुये कि इस प्रकार के निर्णय के लिये एक वस्तुनिष्ठ नियम असम्भव होगा) किन्तु इस रूप में भी यह इस तथ्य को बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए एक निगमन की अपेक्षा रखता है कि एक सौन्दर्य-परक निर्णय (Aesthetic Judgment) किस प्रकार अनिवार्यता का दावा कर सकता है। अब यही वह वस्तु है जो उस समस्या के मूल में निहित है जिसमें हम सलग्न हैं अर्थात् रुचि-निर्णय किस प्रकार सम्भव हैं ? अतः इस समस्या का सम्बन्ध सौन्दर्य-निर्णयों में विशुद्ध निर्णय के अनुभव-निरपेक्ष नियमों से है अर्थात् उनसे नहीं है जिनमें (जैसा कि सैद्धान्तिक निर्णयों में होता है) इसे केवल बुद्धि की व्यक्तिनिष्ठ संकल्पनाओं के अन्तर्गत उपनीत होना पड़ता है और जिसमें यह एक विधान के अन्तर्गत आती है बल्कि उनसे है जिनमें कि व्यक्तिपरक दृष्टि से यह स्वयमेव उसी तरह विधान भी है जिस तरह विषय (Object) ।

हम इस समस्या को इस प्रकार भी रख सकते हैं। एक ऐसा निर्णय (Judgment) किस प्रकार सम्भव है जो केवल व्यक्ति की निजी संकल्पना (Concept) निरपेक्ष किसी विषय से उत्पन्न सुख की अनुभूति पर अडिग रहते हुये उसे एक ऐसे सुख के रूप मे प्राक्कलित करता है जो हर दूसरे व्यक्ति में उसी विषय के प्रतिरूपण से संलग्न (Attached) रहता है और ऐसा वह अनुभव-निरपेक्ष रूप से अर्थात् बिना इस तथ्य की प्रतीक्षा करने और इसे देखने की अनुमति लिए ही करता कि दूसरे लोग भी इस तथ्य से सहमत होते हैं ?

यह देखना आसान है कि रुचि-निर्णय समन्वयात्मक होते हैं क्योंकि वे संकल्पना और यहाँ तक कि विषय की स्वानुभूति को भी अतिक्रान्त कर जाते और विधेय रूप में उस किसी स्वानुभूति में जाकर सम्मिलित हो जाते हैं जो बिलकुल ही सज्ञान (Cogn tion) भी नहीं है अर्थात् सुख (अथवा दुःख) की अनुभूति

किन्तु यद्यपि विधेय (वह व्यक्तिगत आनन्द जो प्रतिरूपण से सम्बद्ध रहता है) अनुभवपरक है फिर भी हमें, जिस सीमा तक कि हर एक द्वारा अपेक्षित सहमति का सम्बन्ध है, उस चीज से आगे जाने की आवश्यकता नहीं है जो उनके यह देखने के दावे में अन्तर्विष्ट है कि वे अनुभव-निरपेक्ष निर्णय हैं अथवा वे ऐसे निर्णयों को पारित करने के लिए अभिप्रेत हैं। अतएव 'सौन्दर्य-निर्णय की मीमांसा' की यह समस्या अतीन्द्रिय दर्शन (Transcendental philosophy) की इस सामान्य समस्या का अंग है : समन्वयात्मक अनुभव-निरपेक्ष निर्णय किस प्रकार सम्भव है ?

वह वस्तु यथार्थतः क्या है जिसे किसी विषय (Object) से निरपेक्ष रूप में रुचि-निर्णय में प्रतिपादित किया जाता है।

किसी विषय या वस्तु(Object) के प्रतिरूपण का, आनन्द के साथ अव्यवहित समन्वय केवल आन्तर प्रत्यक्ष (Internal perception) की ही चीज़ हो सकती है और यदि इससे अधिक कुछ भी निर्दिष्ट करने को न होता तो इससे एक कोरा अनुभवमूलक निर्णय ही उत्पन्न होता। क्योंकि केवल उस स्थल के अलावा जहाँ कि मैं संकल्पशक्ति का निर्धारण करने वाली तर्कबुद्धि के अन्तर्गत किसी अनुभव-निरपेक्ष नियम के आधार पर निर्भर करता हूँ और कहीं भी मैं अनुभव निरपेक्ष रूप से किसी भी प्रतिरूपण के साथ किसी सुनिर्दिष्ट अनुभूति (सुख की अथवा दु.ख की) को सम्बद्ध नहीं कर सकता। सच तो यह है कि आनन्द (नैतिक अनुभूति में) नियम द्वारा संकल्पशक्ति के निर्धारण का परिणाम है। अतएव रुचिगत आनन्द के साथ इसकी तुलना नहीं की जा सकती। क्योंकि यह नियम (Law) की एक सुनिर्दिष्ट संकल्पना की अपेक्षा रखता है; जबकि रुचितगत आनन्द किसी भी संकल्पना से पूर्वतः अव्यवहित रूप से सहज आकलन के साथ सम्बद्ध होने के लिए है। इसी कारण सारे रुचि-निर्णय एकनिष्ठ निर्णय (Singular Judgments) होते हैं क्योंकि वे अपने आनन्द-विधेय को किसी संकल्पना के साथ एकान्वित न करके उसे एक निर्दिष्ट एकात्मक अनुभवपरक प्रतिरूपण के साथ एकान्वित करते हैं।

अतएव किसी रुचि-निर्णय में जो वस्तु अनुभव-निरपेक्षतया निर्णय के लिए एक सार्वभौम नियम और प्रत्येक व्यक्ति के लिये मान्य रूप में प्रतिरूपित की जाती है वह आनन्द (Pleasure) नहीं अपितु इस आनन्द की वह प्रत्यक्षीकृत सार्वभौम मान्यता है जो मन में किसी विषय (Object) के निरे आकलन के साथ संयुक्त होने के लिए है इस अभिप्राय का कोई निर्णय कि यह आनन्द के ही कारण है कि मैं किसी विषय का प्रत्यक्षीकरण और करता हूँ, एक अनु

भवमूलक निर्णय है। किन्तु यदि यह इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि मैं विषय या वस्तु (Object) को सुन्दर मानता हूँ अर्थात् मैं उस आनन्द को एक अनिवार्य आनन्द के रूप में हर एक व्यक्ति पर आरोपित कर सकता हूँ तो यह अनुभव-निरपेक्ष (Apriori) निर्णय है।

रुचि-निर्णयों का निगमन

यह स्वीकार करते हुये कि एक विशुद्ध रुचि-निर्णय में विषयगत आनन्द (The delight in the object) उसके रूप के निरे आकलन से सम्बद्ध रहता है, जिस वस्तु को हम मनोगत विषय-प्रतिरूपण (Representation of the object) से सम्बद्ध अनुभव करते हैं वह निर्णय में उसकी व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्यमूलकता के अलावा और कुछ भी नहीं है। अब चूँकि आकलन के रूपात्मक नियमों के सम्बन्ध में, सभी वस्तुओं से पृथक् (चाहे वह संवेदन हो अथवा संकल्पना) निर्णय सामान्य रूप में अपने नियोजन (Employment) की व्यक्तिनिष्ठ अवस्थाओं के ही प्रति (जो कि न तो विशेष इन्द्रिय पद्धति तक सीमित होती है और न बुद्धि की किसी विशेष संकल्पना तक) और इसीलिए केवल उस व्यक्तिपरक तत्व के ही प्रति निदेशित हो सकता है जिसे हम सभी मनुष्यों में पूर्वकल्पित कर सकते (सामान्यतः एक सम्भाव्य अनुभव की आवश्यकता के रूप में) हैं जिसका तात्पर्य यह होता है कि निर्णय की इन परिस्थितियों के साथ किसी प्रतिरूप की अनुकूलता को अपने को हर एक व्यक्ति के लिए अनुभव-निरपेक्ष रूप से मान्य कल्पित होना स्वीकार करना चाहिए। दूसरे शब्दों में हम हर एक व्यक्ति से आनन्द अथवा सामान्य रूप में[१]

[१] मात्र व्यक्तिनिष्ठ आधारभूमियों पर निर्भर किसी सौन्दर्य-निर्णय के लिये सार्वभौम सहमति का दावा करने में न्यायसंगत होने के लिये यह मानना पर्याप्त है–(१) कि सौन्दर्य-निर्णय की इस मनःशक्ति को (Faculty) व्यक्तिनिष्ठ अवस्थाएँ उस वस्तु के अन्तर्गत सभी मनुष्यों में तद्रूप या अभिन्न होती हैं जो उसमें सामान्य रूप में संज्ञान के अभिप्राय से कार्यान्वित संज्ञानात्मक शक्तियों के सम्बन्ध से सम्बन्ध रखती है। यह अवश्य सत्य है क्योंकि मनुष्य अपने प्रतिरूपणों (Representations) अथवा यहाँ तक कि अपने ज्ञान को भी सम्प्रेषित करने में असमर्थ होंगे; (२) कि निर्णय ने केवल इस सम्बन्ध के प्रति सावधानी बरती है (परिणामतः मात्र निर्णय शक्ति की रूपात्मक उपाधियों—(Formal conditions) के प्रति और वह विशुद्ध अर्थात् वह निर्धारित आधार रूप विषय संकल्पनाओं अथवा संवेदनाओं के साथ अन्तर्गत होने की स्थिति से मुक्त है। यदि इस परवर्ती तथ्य में कोई गलती हुई है तो वह केवल उस अधिकार की एक विशेष स्थिति के प्रति उसके अशुद्ध प्रयोग को ही स्पर्श करती है जो कोई नियम हमें प्रदान करता है वह त किसी अधिकार को समाप्त नहीं करता

किसी संवेद्य (Sensible) विषय के आकलन में व्यस्त संज्ञानात्मक-शक्तियों (Cognitive faculties) के सम्बन्ध के सन्दर्भ में प्रतिरूपण की व्यक्तिनिष्ठ सोद्देश्यता (Subjective finality) का आग्रह करते हैं।

अभ्युक्ति

जो वस्तु इस 'निगमन' (Deduction) को इतना सुन्दर बना देती है वह यह है कि किसी संकल्पना (Concept) के वस्तुपरक सत्य (Objective reality) के औचित्य-समर्थन की अनिवार्यता को सुरक्षित या बचा रखा जाता है। क्योंकि सौन्दर्य कोई वस्तु संकल्पना (A concept of the object) नहीं है और रुचि-निर्णय कोई संज्ञानात्मक निर्णय (Cognitive Judgment) नहीं है। वह सब जिसके कारण यह प्रलुब्ध करता है यह है कि हम यह पूर्वकल्पित करने में न्यायानुमोदित हैं कि निर्णय की जिन व्यक्तिनिष्ठ परिस्थितियों को हम स्वयं अपने अन्दर पाते हैं वही सार्वभौमतः प्रत्येक मनुष्य के भीतर विद्यमान होती हैं और इससे भी आगे यह कि हमने उचित ही इन परिस्थितियों के अन्तर्गत निर्दिष्ट विषय (Given object) को उपनीत किया है। परवर्ती को निःसन्देह ऐसी अपरिहार्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो अन्वीक्षामूलक निर्णय को प्रभावित नहीं करतीं। (क्योंकि वहाँ उपनय संकल्पनाओं के अन्तर्गत होता है; जबकि सौन्दर्य-निर्णय में यह विषय (Object) के प्रतिरूपित रूप (Represented form) में परस्पर एक दूसरे से सामञ्जस्य स्थापित करने वाली कल्पना और बुद्धि के एक निरे संवेद्य सम्बन्ध के अन्तर्गत होता है, जिस स्थिति में कि उपनय सरलतापूर्वक सदोष (Fallacious) सिद्ध हो सकता है। किन्तु यह किसी भी प्रकार सार्वभौम सहमति का विश्वास रखने वाले निर्णय के दावे की वैधता का अपहरण नहीं करता—एक ऐसा दावा जो इससे अधिक कोई महत्त्व नहीं रखता : व्यक्तिनिष्ठ आधारभूमियों पर हर एक के लिए मान्यता का निर्णय करने वाले नियम की यथातथ्यता। क्योंकि उस नियम के अन्तर्गत उपनय की यथातथ्यता से सम्बन्ध रखने वाली कठिनाई और अनिश्चितता के सिलसिले में यह सामान्यतः किसी सौन्दर्य-निर्णय की ओर से इस मान्यता के प्रति किये जाने वाले दावे की वैधता अथवा इसीलिए स्वयं नियम पर ही उन गल्तियों (यद्यपि जो बहुधा या सरलतापूर्वक अभिभूत नहीं करतीं) के अलावा कोई सन्देह नहीं करता जिनके अधीन उसी प्रकार अपने नियमान्तर्गत अन्वीक्षात्मक निर्णय का उपनय (Subsumption) भी है और जिनमें वह उस परवर्ती नियम को परिवर्तित कर सकता है जो वस्तुपरक और स्पष्टतः सन्देह का पात्र है। किन्तु यदि प्रश्न यह होता है कि अनुभव निरपेक्ष रूप से यह मानना कैसे सम्भव है कि प्रकृति रुचि विषयों (Objects of taste

का मिश्रण है ? तो समस्या उद्देश्यवाद (Teleology) से सम्बन्ध रखती क्योंकि इसे तत्वतः प्रकृति की इस संकल्पना से सम्बन्ध रखने वाला उसका उद्देश्य या साध्य (End) मानना पड़ता, कि इसे ऐसे रूपों (Forms) को प्रदर्शित करना चाहिए जो हमारे निर्णय के लिए लक्ष्य (Final) हों। किन्तु इस उपनय की यथातथ्यता (Correctness) के प्रति अब भी गम्भीरतापूर्वक आपत्ति की जा सकती है जबकि प्रकृति की रमणीयता की वास्तविक सत्ता अनुभव क्षम या अनुभव के अधिकारान्तर्गत है।

संवेदना की सम्प्रेषणीयता

प्रत्यक्ष के अन्तर्गत वास्तविक रूप में संवेदना का सम्बन्ध जहाँ ज्ञान के साथ निर्दिष्ट किया जाता है वहाँ वह अवयवी-संवेदना (Organic sensation) कहलाती है और उसी प्रकार (In a like mode) उसके विशेष गुण (Specific quality) को दूसरों के प्रति सामान्यतः सम्प्रेषणीय रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है बशर्तें हम मान लें कि हर एक व्यक्ति के पास हमारी जैसी एक संवेदन-शक्ति है। जैसे भी हो अवयवी-संवेदन की स्थिति में यह एक सर्वथा अग्राह्य पूर्वकल्पना है। इस प्रकार वह व्यक्ति जो घ्राणशक्ति (Sense of smell) शून्य है अपने तक सम्प्रेषित इस प्रकार की संवेदना नहीं प्राप्त कर सकता और यदि वह इस अभाव या दोष से ग्रस्त न भी हो तो भी हम इस तथ्य के प्रति असंदिग्ध नहीं हो सकते कि वह किसी पुष्प से वस्तुतः वही संवेदन प्राप्त करता है जो उससे हम प्राप्त करते हैं। किन्तु एक ही इन्द्रिय-विषय के संवेदन से व्युत्पादित अनुकूलवेदनीयता अथवा प्रतिकूलवेदनीयता के सम्बन्ध में हमें मनुष्यों को और भी अधिक विभिन्न समझना चाहिए और यह अपेक्षा करना सर्वथा असम्बद्ध है कि ऐसे विषयों से जनित सुख हर एक व्यक्ति द्वारा अभिस्वीकृत होना चाहिए। चूँकि इस प्रकार का सुख हमारे मन (Mind) में इन्द्रिय द्वार से प्रवेश करता है—जहाँ हमारा कर्तव्य निषेधात्मक होता है—इसलिए उसे उपभोग का सुख (Pleasure of enjoyment) कहा जा सकता है।

दूसरी ओर एक क्रियागत आनन्द अपने नैतिक वैशिष्ट्य के सम्बन्ध के आधार पर उपभोग का सुख नहीं बल्कि आत्म-स्थापन व्यापार का सुख है और इस तथ्य के अन्तर्गत वह जो कुछ होने के लिए अभिप्रेत है उसके प्रत्यय (Idea) पर पहुँचने का सुख (Pleasure) है। किन्तु यह अनुभूति जो कि नैतिक अनुभूति (Moral feeling) कहलाती है, संकल्पनाओं की अपेक्षा रखती है और एक ऐसी सोद्देश्यता की प्रस्तुति (Representation) है जो स्वतन्त्र न होकर यथानियम है अतएव यह केवल तर्कबुद्धि (Reason) के साधनत्व द्वारा सम्प्रेषण को

स्वीकार करती है और यदि सुख (Pleasure) हर एक व्यक्ति के लिए एक ही जैसा हो तो यह उसे तर्कबुद्धि की प्रत्येक निर्दिष्ट व्यावहारिक संकल्पना द्वारा स्वीकार करती है।

प्रकृतिगत उदात्त-जन्य आनन्द, यौक्तिकीकर भावन (Rationalizing contemplation) के आनन्द के रूप में सार्वभौम भोग (Universal Participation) का भी दावा करता है किन्तु फिर भी यह एक अन्य अनुभूति की पूर्वकल्पना करता है संज्ञा की दृष्टि से यह हमारे अतीन्द्रिय (Supersensible) क्षेत्र की अनुभूति है जो कितनी ही अस्पष्ट होने पर भी एक नैतिक आधार रखती है। किन्तु मेरे यह पूर्वकल्पित करने का कोई आप्तप्रमाण (Authority) नहीं है कि दूसरे इस पर ध्यान देंगे और प्रकृति के विरूप आयामों का अवलोकन करने मे आनन्द लेंगे (एक ऐसा (आनन्द) जो वस्तुतः इसके उस स्वरूप पर आरोपित नहीं किया जा सकता जो आनन्दजनक होने के बजाय आतंकजनक है)। तथापि इस बात का ध्यान रखते हुये कि इस नैतिक जन्माधिकार के हर एक उचित अवसर पर ध्यान दिया जाना चाहिए, हम फिर भी उस आनन्द की प्रत्येक व्यक्ति से माँग कर सकते हैं; किन्तु हम ऐसा केवल उस नैतिक नियम के द्वारा ही कर सकते हैं जो इसके बदले में तर्कबुद्धि की संकल्पनाओं पर निर्भर करता है।

दूसरी ओर सुन्दरगत आनन्द न तो उपभोग का कोई आनन्द है, न किसी नियमानुसारी व्यापार का आनन्द है और न ही प्रत्ययानुसार किसी यौक्तिकीकर भावन का ही, बल्कि वह एक निरे चिन्तन (Mere reflection) का आनन्द है। बिना उद्देश्य अथवा सिद्धान्त की किसी निर्देशन-पद्धति के ही, स्वानुभूतिशक्ति रूप कल्पना द्वारा किन्तु संकल्पनाओं की मनःशक्ति बुद्धि का सन्दर्भ देते हुये और निर्णय और निर्णय की एक ऐसी प्रक्रिया की संक्रिया द्वारा साधारण से साधारण अनुभूति को प्राप्त करने के लिए जिसे भी उद्बोधित करना होता है यह आनन्द किसी विषय के साधारण अवबोध को उपलब्ध करता है। कुछ भी हो परवर्ती स्थिति में इसके व्यापार किसी अनुभवपरक वस्तुनिष्ठ संकल्पना को प्रत्यक्षीकृत करने की ओर निर्दिष्ट होते हैं जबकि पूर्ववर्ती में (आकलन की सौन्दर्यपरक पद्धति में) वे मात्र ज्ञान की दोनों मनःशक्तियों (Faculties) को उनकी स्वच्छन्दता मे एक सामञ्जस्यपूर्ण उद्योग में (व्यक्तिनिष्ठ रूप से लक्ष्यभूत) अर्थात् आनन्द के साथ प्रतिरूपण (Representation) के व्यक्तिनिष्ठ सम्बन्धों को अनुभूति में अभियोजित करने के लिए प्रतिरूपण के औचित्य को प्रत्यक्ष करने की ओर निदेशित होते हैं। इस आनन्द को यह देखते हुए प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक सी ही परिस्थितियों पर निर्भर करना चाहिए कि वे सामान्य रूप से एक संज्ञान (Cognition) की सम्भावना की व्यक्तिनिष्ठ उपाधियाँ (Subjective conditions) हैं और इन

संज्ञानात्मक शक्तियों का अनुपात, जो रुचि के लिए अपेक्षित है, उस सामान्य स्वस्थ बुद्धि के लिए भी अपेक्षित है जिसकी समुपस्थिति हम प्रत्येक के अन्दर पूर्व-कल्पित करने के अधिकारी हैं। और इस प्रकार भी वह व्यक्ति जो रुचिपूर्वक निर्णय करता है (बशर्ते वह चेतना के साथ कोई गलती न करे और वस्तु को 'रूप' या चमत्कार को सौन्दर्य न मान ले) व्यक्तिनिष्ठ चरमता (Subjective finality) को अर्थात् विषयगत अपने आनन्द को प्रत्येक अन्य व्यक्ति पर भी अध्यारोपित कर सकता और अपनी अनुभूति को सार्वभौमतः सम्प्रेषणीय मान सकता है और वह भी बिना संकल्पनाओं की मध्यस्थता के।

रुचि—एक प्रकार का सामान्य बोध

इन्द्रियबोध की संज्ञा वहाँ निर्णय को प्रायः दी जाती है जहाँ वह वस्तु जो हमारे ध्यान को आकृष्ट करती है उतनी अधिक उसकी विमर्शात्मक क्रिया नहीं होती जितनी कि मात्र उसका परिणाम होती है। इसीलिए हम सत्यबोध (Sense of truth) औचित्य बोध (Sense of propriety) अथवा न्यायबोध आदि की बात करते हैं तथापि निस्सन्देह हम यह जानते हैं अथवा कम से कम हमें यह जानना चाहिए कि कोई एक इन्द्रिय इन संकल्पनाओं का वास्तविक अधिष्ठान नहीं हो सकती, न्यूनतम मात्रा में भी सार्वभौम नियमों की व्यवस्था देने में सक्षम होने की बात करना दूसरी चीज़ है।

इसके विपरीत हम यह मानते हैं कि इस प्रकार का कोई प्रतिरूपण चाहे वह सत्य, औचित्य, सौन्दर्य या न्याय में से किसी का हो, हमारे विचारों में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकता, यदि हम अपने को इन्द्रियों के स्तर के ऊपर संज्ञान शक्तियों के उच्चतर स्तर तक उठा सकने में समर्थ न हों। अतएव सामान्य मानव-बुद्धि (Common Human Understanding) जो निरी स्वस्थ (तथापि उपार्जित नहीं) बुद्धि के रूप में वह कम से कम या छोटी से छोटी वस्तु समझी जाती है जिसकी हम उस किसी भी व्यक्ति से आशा कर सकते हैं जो मनुष्य संज्ञा का दावा करता है, को एक ऐसे सामान्य बोध (Sensus-Communis) की संज्ञा को धारण करने का संदिग्ध गौरव प्राप्त है जो उसे प्रदान किया जाता है और प्रदान भी उस सामान्य (केवल हमारी ही भाषा में नहीं जहाँ यह वस्तुतः द्वैध अर्थ रखता है बल्कि और बहुत सी भाषाओं में भी) शब्द के स्वीकृत अर्थ में जो इसे उस वस्तु का समकक्षी बना देता है जो प्राकृत या लोकप्रचलित (Vulgar) है जो सर्वत्र प्राप्त है—एक ऐसा गुण जो किसी भी प्रकार अपने अधिकार के ऊपर श्रेय या वैशिष्ट्य का आरोपण नहीं करता।

कुछ भी हो सामान्यबोध के नाम से लोकबोध (Public Sense) अर्थात् एक ऐसी ल शक्ति का अर्थ गृहीत होता है जो अपने

व्यापार में मानवजाति की संकलनात्मक तर्कबुद्धि के साथ अपने निर्णय को तौलने के लिए और उसके द्वारा उन व्यक्तिनिष्ठ और व्यक्तिगत उपाधियों से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति का निवारण करने के लिए प्रत्येक की प्रतिचित्रण पद्धति पर (प्रागानुभविक रूप से) ध्यान देता है जो उस भ्रान्ति के रूप में तत्काल वस्तुनिष्ठ उपाधियों के बदले ग्रहण कर ली जा सकती हैं, जो उसके निर्णय पर एक पक्षपातपूर्ण प्रभाव डालेगी। यह निर्णयों को दूसरे के वास्तविक निर्णयों के साथ तौलने से उतना अधिक निष्पन्न नहीं होता जितना उसे उनके मात्र सम्भाव्य निर्णयों के साथ तौलने और उन सीमाओं से पृथक्करण के फलस्वरूप स्वयं अपने को प्रत्येक अन्य व्यक्ति की स्थिति में रखने से होता है जो आनुषंगिक रूप से हमारे निजी आकलन को प्रभावित करती हैं। जहाँ तक सम्भव है यह चीज़ बदले में हमारे प्रतिरूपण विधायक व्यापार की सामान्य दशा में वस्तु तत्त्व (Element of matter) अर्थात् संवेदना को छोड़ देने और अपने प्रतिरूपण अथवा प्रतिरूपण-विधायक व्यापार की सामान्य दशा की रूपात्मक विशिष्टताओं के प्रति ध्यान केन्द्रित करने से प्रभावित होती है।

अब यह ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह विमर्श-क्रिया (Operation of reflection) उस मनः शक्ति (Faculty) पर अध्यारोपित होने के लिये अत्यन्त कृत्रिम है जिसे हम सामान्य बोध (Common Sense) कहते हैं। किन्तु यह एक प्रतीति मात्र है जिसका कारण अमूर्त सूत्रों में उसकी अभिव्यक्ति है। जहाँ कोई व्यक्ति किसी ऐसे निर्णय की खोज में हो जो एक सार्वभौम नियम का कार्य करने के लिए अभिप्रेत हो वहाँ चमत्कार और भावसंवेग से अपने को पृथक् करने से अधिक स्वाभाविक (Natural) स्वयं अपने में और कुछ भी नहीं है।

हालाँकि यहाँ सामान्य-मानव-बुद्धि के निम्नलिखित सूत्र 'रुचि मीमांसा' (Critique of taste) से घटक तत्वों (Constituent parts) के रूप में सम्यक्तया लागू नहीं होते फिर भी वे उसके मूलभूत न्यायवाक्यों (Propositions) की व्याख्या करने का कार्य सम्पादन कर सकते हैं। वे ये हैं: - (१) स्वयं अपने लिए सोचना। (२) प्रत्येक अन्य व्यक्ति के भी दृष्टिकोण से सोचना (३) सदैव संगतिपूर्ण ढङ्ग से सोचना। प्रथम निष्पक्ष विचार (Unprejudiced thought) का सूत्र है द्वितीय परिवर्द्धित विचार (Enlarged thought) का और तृतीय संगत (Consistent) विचार का। प्रथम अकदापि-निष्क्रिय-तर्कबुद्धि (Never passive reason) का सूत्र है। इस प्रकार की निष्क्रियता (Passivity) परिणामत. तर्कबुद्धि की परायत्तता में आसक्त होने पक्षपात (Prejudice) कहलाता है और पक्षपातों में से सबसे बड़ा पक्षपात प्रकृति के उन नियमों का विषय न होने की बात को कल्पित करना है जिन्हें बुद्धि अपने अनिवार्य नियम के कारण अपने मूल में स्थापित करती है वह है • ाम

अन्धविश्वास से मुक्ति प्रबोध या ज्ञानोद्दीप्ति[1] (Enlightenment) कहलाता है; क्योंकि यद्यपि यह पद (Term) सामान्यतः पक्षपातों से मुक्ति पर भी लागू होता है फिर भी अन्धविश्वास प्रधानतः (in sensu, eminenti) पक्षपात कहलाने का अधिकारी है। क्योंकि अन्धता की वह दशा जिसमें अन्धविश्वास व्यक्ति को विन्यस्त करता है, जिसकी यह जितनी अधिक प्रत्येक व्यक्ति से एक विवशता के रूप में माँग करता है, दूसरों द्वारा संचालित किए जाने की और परिणामतः प्रधान रूप से सुस्पष्ट तर्कबुद्धि की निष्क्रिय अवस्था की अपेक्षा रखती है। अपने विचाराभ्यासों से सम्बन्ध रखने वाले द्वितीय सूत्र के सम्बन्ध में 'हम एक ऐसे मनुष्य को संकीर्ण (संकीर्ण' परिवर्द्धित मन का होने के विरोधी रूप में) कहने के रास्ते पर आ गये हैं जिसकी मानसिक प्रवणताएँ (Talents) उस चीज़ के लिए अपर्याप्त सिद्ध होती हैं जो किसी परिमाण या विस्तार (विशेषतया वह जो घनत्व या गम्भीरता द्योतित करता है) वाले कार्य में नियोजित की जाने के लिए अपेक्षित है। किन्तु यहाँ प्रश्न संज्ञानशक्ति का नहीं है बल्कि उसका उद्देश्यपूर्ण उपयोग करने के **मानसिक अभ्यास** का है। जिस परिक्षेत्र और सीमा तक मनुष्य की नैसर्गिक क्षमताएँ (Natural endowments) पहुँचती हैं वह चाहे कितनी ही लघु क्यों न हो फिर भी यह एक परिवर्द्धित मन (Enlarged Mind) वाले मनुष्य को निर्दिष्ट करता है बशर्ते वह स्वयं को अपने उस निर्णय की व्यक्तिनिष्ठ वैयक्तिक दशाओं से निर्लिप्त कर लेता है जो अन्य अनेक व्यक्तियों के मन को जकड़ लेती हैं और स्वयं अपने निर्णय पर सार्वभौम दृष्टि से विमर्श करता है (जिसे वह केवल अपने आधार को दूसरों की विचार प्रणाली पर स्थानान्तरित करके ही निर्धारित कर सकता है) संगतिपूर्ण विचार संज्ञक तृतीय सूत्र को उपलब्ध करना सबसे कठिन है और वह केवल पूर्ववर्ती दोनों की संहति द्वारा ही उपलभ्य है और उन पर सतत

---

[1]—हम तत्काल यह देखते हैं कि ज्ञानोद्दीप्ति (Enlightenment) सरल होते हुए भी निस्सन्देह (In thesi, in hypothesi) दुष्कर और सप्राप्त करने में दुर्लभ है। क्योंकि अपनी तर्कबुद्धि द्वारा निष्क्रिय न होकर सदैव आत्मविधायक होना एक ऐसे मनुष्य के लिए निश्चय ही एक बिलकुल आसान बात है जो अपने अनिवार्य उद्देश्य के के साथ अनकूलित होने का अधिकारी है और जो यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि क्या उसकी बुद्धि के बाहर है। किन्तु चूँकि परवर्ती दिशा में होने वाली प्रवृत्ति मुश्किल से परिहार्य है और दूसरे सदैव आते और पूरे आश्वासन के साथ यह वादा करते रहते हैं कि वे उसकी जिज्ञासा को शान्त करने में समर्थ हैं इसलिये मन में (विशेष रूप के लोक-मानस में) उस निरे अभावात्मक दृष्टिकोण को सुरक्षित रखना या करना कठिन है (जो यथार्थ ज्ञानोद्दीप्ति का संगठन करता है)

ध्यान रखने के पश्चात् ही उसने किसी व्यक्ति को तत्सम्बन्धी अवलोकन कार्य में निष्णात् बनाया है। हम कह सकते हैं : इनमें से पहला बुद्धि का सूत्र है, दूसरा निर्णय का और तीसरा तर्कबुद्धि (Reason) का।

ऊपर के विषयान्तरण द्वारा अन्तर्बाधित विवेचना के सूत्र को मैं पुनः ग्रहण करता हूँ और मैं कहता हूँ कि रुचि को अधिक न्याय के साथ स्वस्थ बुद्धि कहने की अपेक्षा एक सामान्य बोध (Sensus Communis) कहा जा सकता है और यह कि बौद्धिक निर्णय के बजाय सौन्दर्य-निर्णय ही लोक-बोध[1] के अर्थ को धारण कर सकता है—लोकबोध अर्थात् यह मानते हुये कि हम 'बोध' (Sense) शब्द को एक ऐसे प्रभाव के अर्थ में प्रयुक्त करने के लिये उद्यत हैं जिसे निरा विमर्श-व्यापार मन पर डालता है; क्योंकि उस समय बोध से हमारा अभिप्राय आनन्दानुभूति (Feeling of pleasure) होता है। हम रुचि को उस वस्तु का आकलन करने वाली मनः शक्ति (Faculty) के रूप में भी परिभाषित कर सकते हैं जो बिना किसी संकल्पना (Concept) की मध्यस्थता के किसी निर्दिष्ट प्रतिरूपण-जन्य हमारी अनुभूति को सार्वभौमतः सम्प्रेषणीय बनाती है।

मनुष्यों को अपने विचारों को सम्प्रेषित करने की योग्यता या अभिरुचि, (Aptitude) संकल्पनाओं के साथ स्वानुभूतियों और बदले में स्वानुभूतियों के साथ संकल्पनाओं को, जो दोनों ही संज्ञानव्यापार में एकान्वित होती हैं, सम्बद्ध करने के लिए, कल्पना और बुद्धि के बीच भी एक सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है। किन्तु वहाँ दोनों मानसिक शक्तियों की सहमति (Agreement) 'नियमानुसार' (According to law) और निश्चित संकल्पनाओं के निग्रहान्तर्गत होती है। जब कि कल्पना अपनी स्वच्छन्दता में बुद्धि को उत्तेजित करती है और बुद्धि संकल्पनाओं से पृथक् रहकर कल्पना को नियमित व्यापार (Regular play) की स्थिति में विन्यस्त कर देती है, केवल तभी प्रतिरूपण (representation) अपने को, विचारों के रूप में नहीं बल्कि मन की एक सोद्देश्य दशा की अन्तर अनुभूति के रूप में सम्प्रेषित करता है।

अतएव रुचि उन अनुभूतियों की सम्प्रेषणीयता के एक अनुभव-निरपेक्ष आकलन का विधान करने वाली मनः शक्ति (Faculty) है जो किसी संकल्पना की मध्यस्थता के बिना, एक निर्दिष्ट प्रतिरूपण (Representation) के साथ सम्बद्ध रहती हैं।

---

[1] रुचि को सौन्दर्यानुभूतिपरक सामान्यबोध (Sensus Communi aesthetiscus) और सामान्य-मानव-बुद्धि को अन्वीक्षात्मक सामान्यबोध (Sensu Communis logicus) की संज्ञा द्वारा अभिहित किया जा सकता है।

अब यह कल्पित करते हुए कि हम यह मान सकते कि हमारी अनुभूति की मात्र सार्वभौम सम्प्रेषणीयता को ही अनिवार्यतः हमारे लिए अपने साथ एक प्रयोजन (interest) का वहन करना चाहिये (कुछ भी हो यह एक ऐसी मान्यता है जिसे हम एक निष्कर्ष के रूप मात्र विमर्शात्मक निर्णय के वैशिष्ट्य (Character) से नहीं निकाल सकते) तो हम इस तथ्य की विवृत्ति करने की दशा में होते कि किस प्रकार रुचि निर्णयगत अनुभूति एक प्रकार के कर्त्तव्य के रूप में हर एक व्यक्ति से अपेक्षित होने योग्य बन जाती है।

सुन्दरगत अनुभवपरक प्रयोजन

ऊपर यह प्रतिपादित करने के लिए प्रचुर प्रमाण दिया गया है कि रुचि-निर्णय जिसके द्वारा किसी वस्तु को सुन्दर घोषित किया जाता है, अपनी निर्धारिणी आधारभूमि के रूप में किसी भी प्रयोजन से युक्त नहीं होता। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके एक बार विशुद्ध सौन्दर्य-निर्णय के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भी कोई प्रयाजन (Interest) इसके साथ संयुक्त नहीं हो सकता। फिर भी यह संयोजन एक परोक्ष (Indirect) संयोजन के अलावा कभी और कोई चीज़ नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह कि यदि किसी वस्तु (Object) के निरे विमर्श से उद्भूत होने वाले आनन्द को अपने साथ वस्तु के वास्तविक-सत्ता-जन्य आनन्द को (उस वस्तु के रूप में जिसमें सम्पूर्ण स्वार्थ या प्रयोजन निहित होता है) सम्मिलित करना है तो रुचि को सर्वप्रथम किसी अन्य वस्तु के संसर्ग में अवश्य प्रतिरूपित होना चाहिये। क्योंकि यह उक्ति A posse ad esse non valet Consequentia जो कि संज्ञानात्मक निर्णय पर लागू की जाती है यहाँ सौन्दर्य-निर्णयों की स्थिति में भी ठीक उतरती है। अब यह 'कोई अन्य वस्तु' (Something else) कोई अनुभवमूलक चीज हो सकती है जैसे मानव-स्वभावोचित कोई प्रवृत्ति अथवा यह कोई बौद्धिक वस्तु हो सकती है जैसे संकल्पशक्ति की कोई सम्पत्ति जिसके द्वारा वह तर्कबुद्धिपरक निर्धारण (rational determination) अनुभव-निरपेक्ष (apriori) को स्वीकार करती है। इनमें से दोनों ही वस्तु के सत्ताजन्य आनन्द (delight in the existence of the object) को द्योतित करती है और इसलिए वे उस वस्तु के भीतर किसी प्रयोजन के लिए नींव डाल सकती हैं जिसने पहले ही बिना किसी प्रकार के किसी भी प्रयोजन के विचार के स्वतः आनन्दित किया है।

सुन्दरगत अनुभवमूलक प्रयोजन केवल समाज में ही अपना अस्तित्व रखता है। और यदि हम यह स्वीकार कर लें कि समाजोन्मुखी-प्रवृत्ति (impulse to society) मानवजाति के लिए स्वाभाविक है और यह कि उसके लिये अनुकूलता (Suitability और उसकी ओर रुझान (Propensity towards it) अर्थात

'सामाजिकता' (Sociability) एक ऐसी सम्पत्ति है जो समाजोद्दिष्ट जीव रूप मनुष्य की आवश्यकताओं के लिए अनिवार्य है, अतएव एक ऐसी सम्पत्ति है जो 'मानवता' (Humanity) के अन्तर्गत आती है, तो यह अपरिहार्य हो जाता है कि हम रुचि को भी उस किसी वस्तु का आकलन करने वाली मनःशक्ति (Faculty) के प्रकाश में देखें जो हमें अपनी अनुभूति को भी हर अन्य व्यक्ति तक सम्प्रेषित करने और उस वस्तु को उन्नत या अनुप्राणित करने की सामर्थ्य प्रदान करती है जिस पर हर एक व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्ति स्थिर है।

जिस पर ध्यान दिया जाय ऐसे किसी भी व्यक्ति से रहित स्वयं अकेला ही किसी मरु-द्वीप पर छोड़ा हुआ मनुष्य स्वयं को व्यक्तिगत अलंकरणों से सम्भृत करने के अभिप्राय से न तो अपने को सजाएगा और न अपनी झोपड़ी को ही और न ही फूलों की खोज करने जायगा इससे भी कम वह उन्हें लगाएगा। केवल समाज में ही उसके साथ ऐसा होता है कि वह मात्र एक मनुष्य ही न हो बल्कि अपनी जाति के शिष्टाचार या तौर-तरीकों के अनुसार एक सुसंस्कृत मनुष्य हो (सभ्यता का प्रारम्भ)—क्योंकि यह उस व्यक्ति के सम्बन्ध में किया गया आकलन है जो अपने आनन्द को दूसरों तक सम्प्रेषित करने की प्रवृत्ति और स्वभाव से युक्त है और जो तब तक किसी वस्तु से सन्तुष्ट नहीं होता जब तक कि उसकी आनन्दानुभूति दूसरों की सहचारिता में गृहीतांश या उनके द्वारा अंशतः उपभुक्त नहीं होती। इससे आगे, सार्वभौम सम्प्रेषणीयता के प्रति एक आदरपूर्ण दृष्टि एक ऐसी वस्तु है जिसकी हर एक व्यक्ति हर अन्य व्यक्ति से प्रत्याशा और अपेक्षा करता है जैसे मानो यह स्वयं मानवता द्वारा अधिप्रेरित किसी मौलिक सम्विदा (Original Compact) का अंश हो। और निःसन्देह इस प्रकार सर्व-प्रथम केवल चमत्कार यथा चित्र अथवा फूल के लिये रंग, सागर कोष (Sea shells) रमणीय ढंग से रंगे हुए पंख, फिर कालान्तर में सुन्दर रूप भी (जैसे छोटी नावों और पहनने के लिए वस्त्रों आदि में) जो किसी भी तृप्ति अर्थात् उपभोग-जन्य आनन्द को वहन नहीं करते समाज में महत्वपूर्ण बन जाते और प्रचुर प्रयोजन (Interest) आकर्षित करते हैं। अन्ततः जब सभ्यता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है वह सम्प्रेषण के इस कार्य को प्रायः सुसंस्कृत प्रवृत्ति प्रधान—व्यापार बना देती है और संवेदनाओं का सम्पूर्ण मूल्य उस मात्रा में प्रतिष्ठित हो उठता है जिस मात्रा में वे सार्वभौम सम्प्रेषण की स्वीकृति देती हैं तो इस धरातल पर पहुँच-कर जहाँ वह आनन्द जिसे प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु में अनुभव करता है मात्र निरर्थक (Insignificant) होता है और स्वतः कोई भी संलक्ष्य प्रयोजन (Conspicuous interest) नहीं रखता, वहाँ भी उसकी सार्वभौम सम्प्रेषणीयता क विचार प्राय अनिश्चित रूप स उसके मूल्य की दलील देता है कुछ भी हो सभा

जोन्मुखी प्रवृत्ति द्वारा सुन्दरम् के साथ परोक्षतः सम्बद्ध और परिणामतः अनुभव-मूलक यह प्रयोजन यहाँ हमारे लिए किसी भी महत्व का नहीं है। क्योंकि वह वस्तु जिसका हमें एकमात्र ध्यान रखना है वह वस्तु है जो निरपेक्षतः चाहे वह परोक्ष रूप से ही हो, रुचि-निर्णय के साथ अपना सम्बन्ध रख सकती हो। क्योंकि यदि इस रूप में भी कोई सम्बद्ध प्रयोजन (Associated interest) स्वयं को प्रकट करे तो रुचि हमारी आलोचक शक्ति (Critical Faculty) की ओर से इन्द्रियोपभोग (Enjoyment of Sense) से नैतिक भावना (Moral feeling) की ओर संक्रमण व्यक्त करेगी। इसका अर्थ मात्र इतना ही नहीं होगा कि रुचि के लक्ष्यपूर्ण नियोजन (Final Employment) के लिए हमें एक अत्यधिक प्रभाव-शाली निर्देशक प्रदान किया जाना चाहिये, बल्कि इसके आगे रुचि उन मानव मनःशक्तियों (Human Faculties) की शृंखला में प्रागनुभविक एक कड़ी के रूप में प्रस्तुत होगी जिनके ऊपर से सारे विधान (Legislation) अवश्य आश्रित होना चाहिये। रुचि के विषयगत और स्वयं उस रुचिगत अनुभवमूलक प्रयोजन के सम्बन्ध में इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है जो रुचि रूप में प्रवृत्ति के प्रति आदर प्रकट करती है चाहे वे कितनी ही परिष्कृत क्यों न हों किन्तु इस प्रकार का प्रयोजन उन सभी प्रवृत्तियों और आवेगों (Passions) के साथ फिर भी एकीभूत होगा, जो समाज में अपनी अधिक से अधिक विविधता और पराकाष्ठा प्राप्त करते हैं और यदि सुन्दरगत प्रयोजन को इसकी आधारभूमि बना दिया जाय तो वह सुन्दरम् से शिवम् की ओर केवल एक अत्यन्त सन्दिग्ध संक्रमण प्रदान कर सकता है। कुछ भी हो यह पता लगाने के लिए हमारे पास युक्ति है कि क्या यह संक्रमण किसी प्रकार अपनी विशुद्धता में गृहीत रुचि द्वारा फिर भी उन्नत नहीं किया जा सकता।

सुन्दरम् के प्रति बौद्धिक अभिरुचि

यह प्रशस्ततम उद्देश्यों को लेकर होता आया है कि जो लोग मानवता के चरम लक्ष्य अर्थात् नैतिकतः श्रेयस्, जो कि उस समस्त कार्य-व्यापार का साध्य है जिसके प्रति मनुष्य अपनी आन्तरिक उन्मुखता द्वारा प्रवृत्त होते हैं, के सम्बन्ध में खोज-बीन करना पसन्द करते हैं, उन्होंने सामान्य रूप से सुन्दरम् के प्रति अभिरुचि या अनुराग रखने को उत्कृष्ट नैतिक चरित्र का एक लक्षण माना है। किन्तु ऐ उन दूसरे लोगों द्वारा अकारण ही प्रत्युक्त या खण्डित नहीं किए गये हैं जो अनु-भव-तत्त्व (Fact of experience) के प्रति यह अनुरोध करते हैं कि रुचि सम्बन्धी विषयों में कला (Virtuosi) प्राय अकेली न होकर कोई व्यक्ति या कह सकता है एक व्यर्थ चंचल या सनकपूर्ण (Capr cious

और घातक मनोवेगों (Passions) की आदी होने के कारण दूसरों की अपेक्षा कदाचित बहुत कम नैतिक नियमों के प्रति किसी प्रधान आसक्ति का दावा कर सकती है। और अतएव केवल यही नहीं प्रतीत होगा कि सौन्दर्य-विषयक अनुभूति नैतिक अनुभूति से (जो कि वास्तव में वस्तुस्थिति है) विशिष्ट रूप से भिन्न होती है बल्कि यह भी प्रतीत होगा कि वह प्रयोजन जिसे हम इसके साथ संयुक्त कर सकते है, नैतिक प्रयोजन के साथ मुश्किल से संगत होगा और आन्तरिक आसक्ति के आधारों पर तो निश्चय ही नहीं होगा।

अब मैं स्वेच्छापूर्वक यह स्वीकार करता हूँ कि कला विषयक सुन्दरगत अभिरुचि (इस शीर्षक के अन्तर्गत व्यक्तिगत अलंकरण हेतु और अतएव मिथ्या अहमतावश प्राकृतिक सुषमाओं के कृत्रिम उपयोग को भी अन्तर्भूत करते हुये) नैतिकतः श्रेयस् से सम्बद्ध अथवा यहाँ तक कि उस दिशा में प्रवृत्त भी मन के किसी अभ्यास का नितान्त कोई भी प्रमाण नहीं प्रस्तुत करती। किन्तु दूसरी ओर मैं यह अवश्य मानता हूँ कि 'प्रकृति' (उसका आकलन करने की रुचि से सम्पन्न होना मात्र ही नहीं) के सौन्दर्य में एक अव्यवहित अभिरुचि या अनुराग रखना सदैव एक अच्छे अन्तःकरण का लक्षण है; और यह कि जहाँ यह अभिरुचि या अनुरक्ति स्वभावगत होती है वहाँ वह कम से कम एक ऐसी मनःप्रवृति (Temper of mind) की सूचक है जो नैतिक अनुभूति के लिए अनुकूल है, कि इसे तत्काल अपने को 'प्रकृतिभावन' (Contemplation of nature) के साथ सम्बद्ध कर लेना चाहिए। कुछ भी हो इस बात को अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि मेरा अभिप्राय वास्तव में प्रकृति के सुन्दर 'रूपों' (Forms) का उल्लेख करना और उन चमत्कारों को एक तरफ करना है, जिन्हें वह इतनी प्रचुरतापूर्वक अपने साथ संयोजित करने का अभ्यस्त है क्योंकि यद्यपि इनके प्रति अभिरुचि, इसमें सन्देह नहीं कि अव्यवहित होती है, तथापि वह अनुभवपरक होती है।

जो व्यक्ति किसी वन्यपुष्प, पक्षी, अथवा किसी कीटपतंग आदि के सुन्दर रूप को मात्र उनकी प्रशंसा और उनके प्रति स्नेह के कारण ही, (और अपने निरीक्षणों को दूसरों तक सम्प्रेषित करने के किसी भी उद्देश्य के बिना) सुन्दर समझता है और यहाँ तक कि स्वयं को किसी ऐसे दुर्दैव के जोखिम में डालकर भी जो अपने लिए लाभ या सौविध्य की किसी भी सम्भावना से अत्यन्त परे है, उनके द्वारा अपने को प्रकृति में बचकर निकल जाने देने में विमुख होता है, ऐसा व्यक्ति प्रकृति के सौन्दर्य में एक अव्यवहित (Immediate) और वस्तुतः बौद्धिक अभिरुचि या अनुराग का अनुभव करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह प्रकृति के रूप के सन्दर्भ में उसकी कृति (Product.) मात्र से ही आह्लादित नहीं होता बल्कि उसके अस्तित्व पर भी आह्लादित होता है और इस प्रकार वस्तु में भाग लेने

ाले किसी इन्द्रिय चमत्कार अथवा उसके साथ किसी भी प्रकार के किसी उद्देश्य को सम्बद्ध किए बिना ही आह्लादित होता है ।

कुछ भी हो इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि हम अपने सौन्दर्य-प्रेमी को छलना या प्रतारित करना चाहें और जमीन पर कृत्रिम फूल लगा दे (जो ऐसे बनाए जा सकते हैं कि बिलकुल प्राकृतिक जैसे लगें) और पौधों की शाखाओं पर कपटपूर्ण ढंग से तराशी हुई चिड़ियाँ टिका दें और उसे यह यह पता लगाये कि उसे कैसे प्रवंचित किया गया था तो वह अनुरागजनक अव्यवहित कौतूहल (Immediate interest) जो ये चीज़ें पहले उसके लिए रखती थीं तुरन्त अन्तर्हित हो जायगा यद्यपि शायद उसके स्थान पर एक भिन्न प्रकार का कौतूहल अर्थात् दूसरो को दिखाने के लिए उनके द्वारा अपने कमरे को अलंकृत करने में होने वाला मिथ्या अहमिता का कौतूहल (Interest of vanity) हस्तक्षेप करेगा। तथ्य यह है कि हमारी स्वानुभूति और चिन्तन । (Intuitions and reflection) को अपने सहवर्ती के रूप में इस विचार को अपने साथ अवश्य रखना चाहिए कि विवादास्पद सौन्दर्य प्रकृति की हस्तकृति (Handiwork) है, और यही उस कौतूहल या अभिरुचि का मूलाधार है, जो उसके प्रति अनुभव की जाती है। इसमें असफल होने पर हमारे पास या तो सर्व अभिरुचि-शून्य कोरा रुचि निर्णय ही शेष रह जाता है या फिर एक ऐसा अन्य निर्णय, जो उस अभिरुचि से युक्त होता है जो व्यवहित होती है अर्थात् जो उस समाज का सन्दर्भ प्रस्तुत करती है जो बाद में नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट विचाराभ्यासों का कोई भी विश्वसनीय लक्षण नहीं प्रदान करती ।

प्राकृतिक सौन्दर्य, कलागत सौन्दर्य के ऊपर, जहाँ वह परवर्ती (कला) द्वारा रूप की दृष्टि से आगे भी निकल गया है जो उत्कृष्टता रखता है, वह मात्र अकेली ही एक अव्यवहित अभिरुचि जाग्रत करने में समर्थ होने के कारण, उन सभी व्यक्तियों के परिष्कृत एवं सुप्रतिष्ठित विचाराभ्यासों के साथ सामञ्जस्य रखता है जिन्होंने अपनी नैतिक भावना (Moral feeling) को आवर्द्धित या उन्नत कर लिया है। यदि ललित कलाकृतियों का अधिक से अधिक यथातथ्यता और परिष्कृति के साथ आलोचना करने वाला कोई यथेष्ट सहृदय व्यक्ति तत्काल उस कमरे को त्याग देता है जिसमें वह उन सुन्दर रूपों को पाता है जो मिथ्या अहमिता (Vanity) अथवा सामाजिक खुशियों के सहायक होते हैं और स्वयं जाकर प्रकृतिगत सौन्दर्य का आश्रय लेता है जिससे कि वह वहाँ एक ऐसी विचार-शृंखला में अपनी आत्मा के लिए तुष्टि पा सके जिसे वह कभी भी पूर्णतया विकसित नहीं कर सकता-तो हम उसके इस चुनाव (Choice) को आदर की भी दृष्टि से देखेंगे और उसे एक ऐसा सुहृदय (Beaut ful soul) व्यक्ति होने का श्रेय प्रदान करेंगे जिसके प्रति कोई

भी कलापारखी अथवा कला संग्राहक उस कौतूहल (Interest) के कारण अपना अधिकार नहीं जता सकता जो उसकी वस्तुएँ (Objects) उसके लिए रखती हैं। अब यहाँ दो प्रकार के विषय (Objects) हैं जो निरी रुचि के निर्णय में एक उत्कृष्टता (Superiority) के कारण मुश्किल से एक दूसरे से सन्तुष्ट हो सकते हैं तो फिर वह भेद (Distinction) क्या है जो हमें उनको ऐसी भिन्न प्रतिष्ठा में मानने के लिए बाध्य करता है।

हमारे पास एक मनःशक्ति (Faculty) है जो मात्र सौन्दर्यपरक (Aesthetic) है—बिना संकल्पनाओं की सहायता के रूपों (Forms) का निर्णय, और उनके निरे आकलन में एक ऐसा आनन्द प्राप्त करने वाली मनःशक्ति जिसे हम इस निर्णय के किसी प्रयोजन पर आधारित हुये अथवा किसी प्रयोजन को जन्म दिए बिना ही हर एक के लिए एक नियम बना देते हैं। दूसरी ओर हमारे पास व्यावहारिक सूत्रों (जहाँ तक कि वे सार्वभौम विधि-व्यवस्था के लिए स्वयमेव वैशिष्ट्य युक्त हैं) के कोरे रूपों के लिए बौद्धिक निर्णय की भी एक शक्ति है—उस प्रागनुभव आनन्द (Apriori delight) का निर्धारण करने वाली शक्ति जिसे हम बिना अपने निर्णय के किसी प्रयोजन पर आधारित हुये ही, "यद्यपि यहाँ वह एक को जन्म देता है", प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक नियम में परिवर्तित कर देते हैं। पूर्ववर्ती निर्णयगत आनन्द अथवा विषाद रुचिगत आनन्द अथवा विषाद कहलाता है, परवर्ती निर्णयगत आनन्द अथवा विषाद नैतिक भावनागत आनन्द अथवा विषाद कहलाता है।

किन्तु अब तर्कबुद्धि (Reason) इससे आगे उन प्रत्ययों में अनुरक्त है (जिसके लिए वह हमारी नैतिक भावना में एक अव्यवहित प्रयोजन घटित करती है) जिनके पास वस्तुपरक सत्य भी होता है। कहने का अभिप्राय यह कि तर्कबुद्धि के लिए यह हित की चीज़ है कि प्रकृति को कम से कम इस बात के लिए मार्ग-दर्शन करना या संकेत देना चाहिए कि वह हमारे पूर्णतया निष्प्रयोजन आनन्द (एक ऐसा आनन्द जिसे प्रमाणों पर आधारित करने में समर्थ हुये बिना हम 'अनुभव निरपेक्ष' रूप से प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक नियम रूप में ग्रहण करते हैं) के साथ अपनी कृतियों (Products) की समरूप अनुकूलता को कल्पित करने के लिए कोई न कोई आधार रखती है। इसके ऐसा होने के कारण, तर्कबुद्धि को किसी ऐसी अनुकूलता वाली प्रकृति की ओर से होने वाली प्रत्येक अभिव्यक्ति में अवश्य रुचि लेना चाहिए। अतएव मन तब तक प्रकृति के सौन्दर्य पर विमर्श नहीं कर सकता जब तक कि वह उसके (प्रकृति के) प्रयोजन को ठीक उसी समय संलग्न (Engaged) नहीं पाता। किन्तु यह प्रयोजन नैतिक प्रयोजन का सजातीय है। तो वह व्यक्ति जो प्रकृतिगत सौन्दर्य में ऐसी अभिरुचि लेता है ऐसा केवल उसी सामा

तक कर सकता है जिस सीमा तक कि उसने पहले से ही अपनी अभिरुचि को नैतिक दृष्टि से श्रेयस् (Morally good) के आधारों में गहराई से जमा रखा है। इन आधारों पर एक ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में कम से कम उत्कृष्ट नैतिक वृत्ति के अंकुर की समुपस्थिति को परिकल्पित करने के लिए हमारे पास युक्ति है जिसके लिए प्रकृति का सौन्दर्य अव्यवहित अभिरुचि का विषय है।

यह कहा जायगा कि हमारी नैतिक भावना के साथ सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर सौन्दर्य-निर्णय की इस व्याख्या (Interpretation) ने उस गूढ़ लेख की वास्तविक संरचना के रूप में स्वीकृत होने वाले एक आभास (Appearance) का दूर तक भी अध्ययन कर लिया है जिसमें प्रकृति अपने सुन्दर रूपों (Beautiful forms) में हमसे लाक्षणिक ढंग से बोलती हैं। किन्तु सर्वप्रथम प्रकृति सौन्दर्यगत यह अव्यवहित अभिरुचि वास्तव में सामान्य (Common) नहीं है। उन लोगों के लिए यह एक विशिष्ट चीज़ है जिनके विचाराभ्यास (Habits of thought) पहले से ही श्रेयस् या शिव के प्रति प्रशिक्षित हो चुके हैं अथवा ऐसे प्रशिक्षण के लिए सर्वोपरि रूप से सक्षम हैं और इन परिस्थितियों के अन्तर्गत वह साधर्म्य (Analogy) जिसमें वह विशुद्ध रुचि निर्णय जो बिना किसी प्रयोजन पर निर्भर किए हमें एक आनन्दानुभूति प्रदान करता है और साथ ही उसे अनुभव निरपेक्ष रूप से सामान्यतः मानवोचित रूप में प्रतिरूपित करता है, उस नैतिक-निर्णय पर जमा रहता है जो संकल्पनाओं से ठीक ऐसा ही करता है, एक ऐसा साधर्म्य है जो बिना किसी स्पष्ट सूक्ष्म और ऐच्छिक विमर्श के परवर्ती निर्णय की वस्तुओं की पूर्ववर्ती निर्णय की वस्तुओं में ली जाने वाली अभिरुचि जैसी ही एक अव्यवहित अभिरुचि को जन्म देता है, अन्तर एक यह होता है कि प्रथम स्थिति वाली अभि-रुचि स्वतन्त्र होती है जबकि परवर्ती स्थिति वाली अभिरुचि एक ऐसी अभिरुचि होती है जो वस्तुनिष्ठ नियमों (Objective laws) पर आधारित होती है। इसके साथ ही हम उस प्रकृति की प्रशंसा करते हैं जो अपनी सुन्दर कृतियों में अपने को कला रूप में प्रदर्शित करती है संयोग घटित वस्तु रूप में नहीं, बल्कि जैसे मानों वह किसी नियम निर्दिष्ट व्यवस्था के अनुसार रूपायित और किसी भी उद्देश्य से पृथक्भूत सोद्देश्यता (Finality) हो। चूँकि ऐसे उद्देश्य को हम स्वयं अपने से बाहर कभी नहीं पाते अतएव हम स्वभावतः इसे अपने भीतर और वस्तुतः उस वस्तु के अन्दर खोजते हैं जो हमारी सत्ता के चरम उद्देश्य (Ultimate end) का विधान करती है—अर्थात् हमारे अस्तित्व का नैतिक पक्ष। (कुछ भी हो इस प्रकार की सोद्देश्यता (Finality) की संभावना की आधारभूमि सम्बन्धी छानबीन हेतु विज्ञान (Teleology) की चर्चा के आयेगी)

इस तथ्य की, कि सुन्दर कलागत आनन्द, विशुद्ध रुचि-निर्णय में उस प्रकार कोई अव्यवहित अभिरुचि द्योतित नहीं करता जिस प्रकार कि वह सुन्दर प्रकृति में करता है, तत्काल व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि पूर्ववर्ती या तो परवर्ती की ऐसी अनुकृति होती है जो हमें प्रतारित करने के हद तक पहुँचती है, जिस स्थिति में कि यह प्राकृतिक सौन्दर्य की हैसियत से हमारे ऊपर प्रभाव डालता है जिसे हम मान लेते हैं; अथवा या फिर यह हमारे आनन्द की दिशा में स्पष्टतः निर्देशित एक सोद्देश्य कला (Intentional art) है। कुछ भी हो परवर्ती स्थिति में कृतिगत आनन्द (The delight in the product), यह सत्य है, रुचि द्वारा अव्यवहित रूप से घटित होगा किन्तु वहाँ तो अन्तर्निहित कारण में मात्र एक व्यवहित अभिरुचि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होगा—अर्थात् एक ऐसी कला के प्रति पायी जाने वाली अभिरुचि जो स्वयं अपने में कभी भी रुचिकर होने में समर्थ न होकर, अपने उद्देश्य द्वारा ही रुचिकर होने में समर्थ है। कदाचित् यह कहा जायगा कि यही स्थिति वहाँ भी होती है जहाँ प्रकृति की कोई वस्तु उस हद तक केवल अपने सौन्दर्य द्वारा ही अभिरुचि उत्पन्न करती है जिस हद तक कि किसी नैतिक विचार (Moral Idea) को उसकी सहभागिता में उद्भावित किया जाता है। किन्तु यह वह वस्तु (Object) नहीं है जो अव्यवहित अभिरुचि का विषय है बल्कि यह सौन्दर्य का वह अन्तर्जात वैशिष्ट्य (Inherent character) है जो इसे ऐसी सहभागिता (Partnership) के योग्य बनाता है—अतएव एक ऐसा वैशिष्ट्य है जो सौन्दर्य के एकदम सारतत्त्व से सम्बन्ध रखता है।

प्राकृतिक सौन्दर्यगत चमत्कार, जो रूप सौन्दर्य के साथ प्रायः सम्मिश्रित पाए जाते हैं या तो प्रकाश के किनारों या रूपान्तरों (रंजना में) से सम्बन्ध रखते है या फिर ध्वनि (सुरों में) के विकारों (Modifications) से। क्योंकि एकमात्र ये ही वह सम्वेदन (Sensations) हैं जो न केवल इन्द्रियों की किसी अनुभूति (Feeling) को ही स्वीकृति देते हैं बल्कि जो इन्द्रिय बोध के इन विकारों के रूप सम्बन्धी विमर्श को भी स्वीकृति प्रदान करते हैं और इस प्रकार एक ऐसी भाषा को साकार करते हैं जिसमें प्रकृति हम से बोलती है जो एक उच्चतर अर्थ की प्रतीकता (Semblance) रखती है। इस प्रकार लिली का श्वेतवर्ण मन की अनघता या भोलेपन (Innocence) के विचारों की ओर प्रवृत्त करता हुआ जान पड़ता है और अन्य सात वर्ण, उनकी श्रृंखला के अनुसार लाल से लेकर वायलट तक उसी प्रकार क्रमशः (१) औदात्य (Sublimity) (२) साहस (Courage) (३) सरलता (Condour) (४) सौजन्य (Amiability) (५) शालीनता (Modesty) (६) स्थिरता (Constancy) (७) कोमलता (Tend[illegible]) के विचारों की ओर पक्षी का गीत उसकी [illegible] और अपने अस्तित्व के प्रति

उसके सन्तोष को व्यक्त करता है। कम से कम इस प्रकार हम प्रकृति का अर्थ लगाते हैं—चाहे उसका अभिप्राय ऐसा हो या न हो। किन्तु सौन्दर्य में जो अभिरुचि हम यहाँ लेते हैं उसकी यह अपरिहार्य शर्त है कि सौन्दर्य प्रकृति का सौन्दर्य होना चाहिए और ज्यों ही हम प्रवंचित किये जाने पर और इस बात के प्रति सचेत हो उठते हैं कि यह केवल कलाकृति है त्यों ही वह पूर्णरूप से अन्तर्हित हो जाती है—इतने पूर्णरूप से कि फिर रुचि भी न उसे किसी सुन्दर वस्तु में पा सकती है और न दृष्टि किसी आकर्षक वस्तु में। चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना से घनीभूत होती हुई किसी एकान्त निस्तब्ध ग्रीष्म-सन्ध्या में नाइटिङ्गेल के सम्मोहन एवं सुन्दर स्वर की अपेक्षा वह और कौन सी चीज़ है जिसे कविजन अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। और फिर भी हमारे पास इस बात के उदाहरण हैं कि, किस प्रकार जहाँ इस तरह का गायक पक्षी उपलब्ध नहीं था, एक आमोदकारी आतिथेयी ने उन अतिथियों के साथ जो ग्राम्य प्रदेश की वायु का आनन्द लेने के लिए निरीक्षण पर उसके साथ थे, एक ऐसे धूर्त युवक को किसी झाड़ी में छिपाकर चाल चली और ऐसा उनकी विपुल तुष्टि के साथ किया, जो (अपने मुँह में कोई वेणु या नरकुल लिये हुये) इस बात को जानता था कि इस स्वर को किस प्रकार उत्पन्न किया जाय जिससे कि यह पूर्णता तक प्रकृति की हूबहू नकल कर सके। किन्तु जिस क्षण व्यक्ति यह समझ जाता है कि यह सब कुछ मात्र एक छल है उस समय कोई भी इस गान को, जो पहले अत्यन्त आकर्षक समझा जाता था, अधिक देर तक सुनना सहन न कर सकेगा। और किसी अन्य पक्षी के गान के सम्बन्ध में भी यह बात ज्यों की त्यों चरितार्थ होती है। यह अनिवार्यतः प्रकृति अथवा हमारे द्वारा प्रकृति की भ्रान्ति होनी चाहिए जो हमें तथाकथित (प्रकृतिगत) सुन्दरम् में अव्यवहित 'अभिरुचि' लेने में समर्थ बनाए और यदि हम इसी प्रकार की अभिरुचि लेने के लिये दूसरों का भी आह्वान करें तब तो इसे और भी अधिक ऐसा होना चाहिए। और चूँकि हम उन लोगों के विचाराभ्यासों (Habits of thought) को अपरिष्कृत और निम्नस्तरीण समझते हैं जिनके भीतर सुन्दर प्रकृति की कोई भी रागात्मक भावना (क्योंकि यही वह शब्द है जिसे हम सुन्दर प्रकृति की भावनगत अभिरुचि की क्षमता के लिए प्रयुक्त करते हैं) नहीं है और जो खाने-पीने में प्राप्य कोरे इन्द्रियोपभोगों में अपने को आसक्त रखते हैं अस्तु हम ऐसी माँग वस्तुतः अवश्यमेव करते हैं।

कला-सामान्य रूप में

(१) कला को प्रकृति से उसी प्रकार पृथक् किया जाता है जिस प्रकार विधान (Facere) को क्रिया (Acting) अथवा सक्रिया से औ

पूर्ववर्ती की कृति को परवर्ती की कृति से उस प्रकार पृथक् किया जाता है जिस प्रकार 'कार्य' (Opus) को व्यापारण (Effectus) से।

न्यायतः यह केवल स्वातंत्र्य अर्थात् उस इच्छाशक्ति की किसी क्रिया द्वारा होने वाली सृष्टि है जो तर्कबुद्धि को अपनी क्रिया के मूल में स्थान देती है, जिसे कला के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। क्योंकि यद्यपि उस वस्तु को जिसे मक्खियाँ (उनके नियमित ढंग से संरचित कोष) निर्मित करती हैं, एक कलाकृति कह कर हम तुष्ट होते हैं, फिर भी हम ऐसा केवल कला के साथ उनके साधर्म्य के बल पर करते हैं; कहने का अभिप्राय यह कि ज्यों ही हम इस बात को स्मरण करते हैं कि उनके श्रम का आधार कोई तर्कबुद्धिपरक संविमर्श (Rational deliberation) नहीं है हम तुरन्त यह कहते हैं कि यह उनकी प्रकृति (मूलप्रवृत्ति) की कृति (Product) है और हम इसे केवल उनके 'स्रष्टा' के ऊपर ही कला रूप में आरोपित करते हैं। यदि, जैसा कि कभी-कभी घटित होता है, कर्दम के बीच से होकर खोज करते हुये हमें किसी कर्तित लकड़ी का एक टुकड़ा मिल जाता है तो हम उसे प्रकृति की कृति न कह कर एक कलाकृति कहते हैं। इसको उत्पन्न करने वाला कारण एक ऐसा लक्ष्य रखता है जिसके प्रति वस्तु (Object) अपने रूप के लिए आभारी होती है। इन स्थितियों के अलावा हम उस प्रत्येक वस्तु में कला स्वीकार करते हैं जो इस प्रकार रूपायित (Formed) हो कि उसकी वास्तविकता (Actuality) को अपने कारण (जैसा कि मक्खियों की स्थिति में भी होता है) में अवस्थित वस्तु (Thing in its cause) के प्रतिरूपण द्वारा पिछाड़ दिया गया हो, हालाँकि प्रभाव को कारण (Cause) द्वारा न कल्पित (Thought) किया जा सका हो। किन्तु जहाँ कोई वस्तु पूर्णतया एक कलाकृति कहलाती है, वहाँ उसे प्राकृतिक कृति से पृथक् सदैव कोई मानवीय कृति (Work of man) समझा जाता है।

(२) मानव कुशलता रूप कला को सैद्धान्तिक शक्ति (Theoretical faculty) से उद्भूत होने वाली व्यावहारिक क्षमता, सिद्धान्तजन्य प्रविधि (ज्यामिति द्वारा सर्वेक्षण करने की कला रूप) रूप विज्ञान (ज्ञान से होनेवाली योग्यता) से भी पृथक् किया जाता है। इसलिये जिस क्षण कोई व्यक्ति केवल यह जानता मात्र है कि क्या करना चाहिए उस क्षण वह जो कुछ कर सकता है अतएव वांछित परिणाम के पर्याप्त यान के अतिरिक्त और किसी चीज़ से शून्य रहकर जो कुछ कर सकता है, उसे कला नहीं कहते। जो वस्तु मात्र कला से ही सम्बन्ध रखती है उसका अत्यन्त सम्यक् ज्ञान रखना इस बात को द्योतित नहीं करता कि व्यक्ति के अन्दर उसे तत्काल सम्पन्न कर देने की कुशलता है। कैम्पर बड़े ही सटीक ढंग से इस बात का वर्णन करता है कि उत्कृष्टतम जूते कैसे बनाए जाने

चाहिए किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह स्वयं[१] एक भी जूता बनाने में समर्थ नहीं था।

(३) इससे आगे कला को हस्त कुशलता (Handicraft) से पृथक् किया जाता है पहली को स्वतन्त्र (Free) कहा जाता है, दूसरी को व्यावसायिक कला (Industrial art) कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती को हम कोई ऐसी वस्तु समझते हैं जो मात्र क्रिया (Play) रूप में ही आप्त-लक्ष्य (सफल) सिद्ध हो सकती है अर्थात् एक ऐसा व्यापार जो स्वतः रुचिकर है; किन्तु दूसरी को हम एक ऐसा श्रम अर्थात् व्यवसाय (Business) समझते हैं जो स्वतः अरुचिकर (निरश्रम दासता) है और जो केवल अपनी निष्पत्ति (उदाहरणार्थ वेतन) द्वारा ही आकर्षक है और परिणामतः जो एक अनिवार्य भार (Compulsory imposition) होने मे समर्थ है। क्या हम कलाओं और कौशलों (Crafts) की सूची में घड़ी बनाने वालों को कलाकारों और इसके विपरीत स्वर्णकारों को कारीगरों (Crafts-men) की कोटि में प्रतिष्ठित कर सकते हैं, यह हमने जो दृष्टिकोण यहाँ अपनाया है, उससे एक भिन्न दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है—अर्थात् एक ऐसे दृष्टिकोण की जो उन मानसिक प्रवणताओं (Talents) के अनुपात (Proportion) पर विचार करता है जिन्हें दोनों में से प्रत्येक स्थिति में अपनाया गया उद्योग अनिवार्यतः द्योतित करता है। क्या ऐसा है कि तथाकथित सात स्वच्छन्द कलाओं में कुछ ऐसी कलाएँ न भी सम्मिलित की गयी हों जिनकी गणना विज्ञानों के रूप मे होनी चाहिए, यह एक ऐसा विषय है जिसकी विवेचना मैं यहाँ नही करूँगा। फिर भी पाठक को इस बात का स्मरण दिला देना असंगत न होगा : कि सभी स्वतन्त्र कलाओं में अनिवार्य वैशिष्ट्य वाली कोई चीज़ फिर भी अपेक्षित होती है अथवा चूँकि यह कला-विन्यास कहलाती है, जिसके बिना अन्तरात्मा, जिसे कला में अवश्य स्वतन्त्र होना चाहिए और एकमात्र जो ही कलाकृति को जीवन प्रदान करती है, अशरीरी और क्षणिक, हो जायगी (उदाहरणार्थ काव्य कला में शुद्धता (Correctness) और भाषा का वैभव होना चाहिए और उसी प्रकार छन्द और वृत्त होने चाहिए)।

---

[१]देश के जिस हिस्से में मैं रहता हूँ यदि आप उसमें से किसी साधारण मनुष्य के सामने 'कोलम्बस और उसका अंडा' जैसी कोई समस्या रखें तो वह कहता है इसमें कोई कला नहीं यह केवल विज्ञान (Science) है, अर्थात् यदि आप यह जानते हैं कि इसे 'कैसे हल किया जाता है तो आप इसे हल कर सकते हैं और ठीक यही वह ऐन्द्र-जालिकों की सभी सम्भाव्य कलाओं के लिए कहता है। दूसरी ओर तने हुये रस्से पर नृत्य करने वाले के कार्य को कला की संज्ञा देने में जरा सी भी द्विविधा अनुभव नहीं करता।

क्योंकि एक नव्यतर सम्प्रदाय के कुछ नेता इस बात में विश्वास नहीं रखते कि किसी स्वतन्त्र कला को प्रोन्नत करने का सबसे अच्छा तरीका सारे नियन्त्रण या नियमन को दूर करके उसे श्रम से एक कोरी क्रिया में परिवर्तित कर देना है।

ललित कला

केवल एक मीमांसा या आलोचना (Critique) के अलावा सुन्दरम् का कोई विज्ञान नहीं है। फिर न तो मात्र एक ललित (Shone) कला के अतिरिक्त कोई ललित (Shone) विज्ञान ही है। क्योंकि (उस दशा में) सुन्दरम् के किसी विज्ञान को वैज्ञानिक ढंग से निर्धारित करना पड़ता अर्थात् कोई वस्तु विशेष सुन्दर समझी जाने योग्य थी अथवा नहीं यह प्रमाणों द्वारा निर्धारित करना पड़ता और परिणामतः सौन्दर्य-विषयक निर्णय, यदि वह विज्ञान से सम्बन्ध रखता रुचि-निर्णय होने में असफल रहता। जहाँ तक कि किसी सुन्दर विज्ञान (Beautiful science) की बात है यदि तथाकथित कोई सुन्दर विज्ञान है तो वह एक असत्ता (Nonentity) है। क्योंकि यदि उसे विज्ञान (Science) मानने पर हमसे उसके लिए कारण और प्रमाण की माँग की जाय तो हम ललित उक्तियों (Bons mots) तक ही अटके रह जायँगे। जिस तथ्य ने 'ललित विज्ञान' (Elegant sciences) की प्रचलित शब्दावली को जन्म दिया है वह निःसन्देह इसके अलावा और कुछ भी नहीं है कि सामान्य निरीक्षण ने बिलकुल सटीक ढग से इस तथ्य को अवधृत किया है कि कला के लिए उसकी पूर्णता की समग्रता में, विज्ञान का एक विपुल-भण्डार अपेक्षित है उदाहरणार्थ जैसे प्राचीन भाषाओं का ज्ञान, क्लैसिकल लेखकों, इतिहास, पुरातात्त्विक विद्याओं का परिचय आदि। अतएव इन ऐतिहासिक विज्ञानों ने इस कारण कि ये ललित कला के लिए अभीष्ट तैयारी और मूलाधार का काम करते हैं और अंशतः इस कारण भी कि ये ललित कला-कृतियों (छन्द शास्त्र और काव्य) के ज्ञान को भी अन्तर्भूत करने वाले माने जाते है शब्दों की अन्तर्भ्रान्ति द्वारा वास्तव में ललित विज्ञानों की संज्ञा पा ली है।

जहाँ कला उस संज्ञान (Cognition) के लिए जिसके लिए कि वह (वस्तु) उपयुक्त है, किसी सम्भाव्य वस्तु (Object) को मात्र वास्तवीकृत करने का प्रयत्न करती हुई उन सभी क्रियाओं को करती है जो तदर्थ अपेक्षित हैं, वहाँ वह यान्त्रिक (Mechanical) होती है। किन्तु यदि आनन्दानुभूति (Feeling of pleasure) ठीक वही हो जिसे वह अव्यवहित रूप से अपने दृष्टिपथ में रखती है तो वह सौन्दर्यबोधी कला (Aesthetic art) के नाम से अभिहित की जाती है। इस रूप में वह या तो अनुकूलवेदनीय (Agreeable) होगी या ललित। 'अनुकूल-वेदनीय कला' (Agreeable art) का यह वर्णन वहाँ लागू होता है जहाँ कला का

लक्ष्य यह होता है कि आनन्द को उन प्रतिरूपों (Representations) का अनुषंगी होना चाहिए जो निरे सम्वेदन (Sensations) समझे जाते हैं, जहाँ 'ललितकला' यह वर्णन उनका अनुगमन करता है वहाँ वह सज्ञान विधि (Modes of cognition) समझा जाता है।

अनुकूलवेदनीय कलाएँ वे हैं जिनका लक्ष्य मात्र उपभोग (Enjoyment) होता है। वे सारे चमत्कार ऐसे ही हैं जो किसी प्रीतिभोज-गोष्ठी को परितृप्त करते है : मनोरंजक वृत्त, सम्पूर्ण गोष्ठी को अबाध एवं उल्लास-स्फूर्त संलाप में निमग्न कर देने वाली अथवा स्वांग और हास्य-विनोद द्वारा चुहल अथवा आह्लाद-दीप्ति के वातावरण की सृष्टि करने वाली कला आदि। जैसा कि कहावत प्रचलित है जो कुछ कोई कहता है उसके लिये बिना उसे उत्तरदायी ठहराए ही, काँचों (काँच के पात्रों) के ऊपर बहुत सी असम्बद्ध बातें हो सकती हैं क्योंकि यह केवल तात्कालिक मनोरंजन के लिए निर्दिष्ट है न कि किसी ऐसी चिरस्थायी चीज़ के लिए जिसे संविमर्श या आवृत्ति का विषय बनाया जाय। (आमोद-प्रमोद के लिये सहभोज की व्यवस्था करने की कला अथवा बड़े प्रीतिभोजों के अवसर पर आर्केस्ट्रा का संगीत भी इसी प्रकार का होता है—जिसमें एक ऐसे सुखावह उत्साह का पोषण करने वाला एक विदग्ध भाव एक निरे रुचिर कोलाहल के रूप में मन पर अपना प्रभाव डालने के लिए अभिप्रेत होता है जो किसी के उसकी रचना पर जरा भी ध्यान दिए बिना ही अतिथि-अतिथि के बीच होने वाले वार्तालाप के स्वच्छन्द प्रवाह को प्रोत्साहन प्रदान करता है।) इसके साथ वह हर एक प्रकार की क्रिया (Play) भी अन्तर्भूत की जानी चाहिए जो अनवहित ढंग से समय व्यतीत करने के अलावा आगे और कोई प्रयोजन नहीं रखती।

दूसरी ओर ललित कला प्रतिरूपण की एक ऐसी विधि है जो आन्तरिक रूप से सोद्देश्य (Intrinsically final) है और जो उद्देश्य-शून्य होते हुये भी सामाजिक सम्प्रेषण के हितों में मानसिक शक्तियों की संस्कृति के उत्कर्षण का सामर्थ्य रखती है।

किसी आनन्द (Pleasure) की सार्वभौम सम्प्रेषणीयता स्वयं अपनी सकल्पना (Concept) में ही इस तथ्य को अन्तर्विष्ट करती है कि आनन्द कोरे सम्वेदन से उद्भूत होने वाला कोई उपभोगानन्द न होकर अवश्य ही चिन्तन (Reflection) का आनन्द है। अतएव सौन्दर्यबोधी कला, ऐसी कला के रूप मे जो सुन्दर है, एक ऐसी कला है जिसका मानदण्ड चिन्तनात्मक निर्णय है और आंगिक सवेदन (Organ c sensation) नहीं

ललित कला उसी सीमा तक कला है जिस सीमा तक वह कला होने का आभास देती है।

ललित कला की कोई कृति कला मानी जानी चाहिए और प्रकृति नहीं। तथापि उसकी रूपगत चरमता (Finality) को निरंकुश नियमों के नियन्त्रण से अवश्यमेव स्वतन्त्र प्रतीत होना चाहिए जैसे मानो वह मात्र प्रकृति की ही कृति हो। हमारी संज्ञान शक्तियों (Cognitive faculties) की क्रिया (Play) के अन्तर्गत—जिसे क्रिया उसी समय सोद्देश्य रूप में धारण करती है, स्वातन्त्र्य की इस अनुभूति (Feeling of freedom) पर वह आनन्द निर्भर करता है, एकमात्र जो ही, बिना संकल्पनाओं पर आधारित हुये, सार्वभौमतः सम्प्रेषणीय है। प्रकृति उस समय सुन्दर सिद्ध हुई जिस समय उसने कला का आभास (Appearance) ग्रहण किया; और कला को मात्र वहीं सुन्दर की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है जहाँ उसके प्रकृति का आभास देने पर भी हम उसके कला होने के प्रति सचेत (Conscious) हैं।

क्योंकि चाहे हम प्रकृति-सौन्दर्य की चर्चा कर रहे हों या कला-सौन्दर्य की हम यह सार्वभौम वक्तव्य प्रस्तुत कर सकते हैं कि सुन्दर वह है जो अपने निरे आकलन में ही आनन्द प्रदान करता है (सम्वेदन में या संकल्पना द्वारा नहीं)। कला सदैव कुछ सृष्ट करने का एक निश्चित उद्देश्य रखती है। फिर भी यदि यह 'कुछ' (Something) आनन्दानुगत होने के लिए अभिप्रेत सम्वेदन मात्र (कोई निरी व्यक्तिनिष्ठ वस्तु) हो तो इस प्रकार की कृति (Product) हमारे तदाकलन में केवल इन्द्रियानुभूतियों के माध्यम से ही सुख प्रदान करेगी। दूसरी ओर यदि उद्देश्य ऐसा हो जो किसी निश्चित लक्ष्य के उत्पादनार्थ निर्देशित हो तो यह कल्पना करते हुये कि यह कला द्वारा उपलब्ध हो, वस्तु (Object) मात्र किसी संकल्पना (Concept) द्वारा ही आनन्द प्रदान करेगी। किन्तु दोनों ही स्थितियों में कला अपने निरे आकलन में अर्थात् ललित कला के रूप में आनन्द प्रदान न करके केवल यान्त्रिक कला के रूप में आनन्द प्रदान करती है।

अस्तु ललित-कला-कृतिगत चरमता (Finality) को चाहे वह सोद्देश्य ही क्यों न हो, सोद्देश्य होने का आभास नहीं देना चाहिए अर्थात् ललित कला को प्रकृति के 'स्वरूप से' वस्त्रावृत अवश्य होना चाहिए, यद्यपि हम उसे कला मानते हैं। किन्तु जिस रीति से कोई कलाकृति प्रकृति जैसी प्रतीत होती है, वह उन नियमों के सामञ्जस्य में एक परिपूर्ण 'यथावत्ता' की समुपस्थिति है जो इस बात का विधान करते हैं कि किस प्रकार एकमात्र कलाकृति ही वह वस्तु हो सकती है जो होने के

लिए वह उद्दिष्ट है किन्तु इसके साथ ही ऐसा श्रमघटित प्रयत्न की अनुपस्थिति से (शैक्षिक रूप से अपने को प्रदर्शित किये बिना) होता है अर्थात् इस बात का कोई संकेत दिये बिना कि कलाकारों ने नियम को सदैव अपने सामने रखा था और उसने उसकी मानसिक शक्तियों को निगडित कर लिया था।

ललित कला प्रतिभाजन्य कला है

प्रतिभा वह बुद्धि वैभव या प्रवणता (नैसर्गिक धर्मस्व) है जो कला को नियम प्रदान करती है। चूँकि प्रवणता (Talent) कलाकार का एक सहज सर्जनात्मक शक्ति (Productive Faculty) के रूप में, स्वयं प्रकृति से ही सम्बन्ध रखती है अस्तु हम उसे इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं : प्रतिभा वह अन्तर्जात मानसिक रुझान है 'जिसके द्वारा' प्रकृति कला का नियम प्रदान करती है।

इस परिभाषा के गुण चाहे जो भी हों, और चाहे यह मात्र निरंकुश अथवा चाहे यह उस संकल्पना के अनुकूल हो या न हो, जिसके साथ इसे प्रायः सम्बद्ध किया जाता है (एक ऐसा तथ्य जिसे निम्नस्थ परिच्छेदों को स्पष्ट करना है) आरम्भ में फिर भी यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि शब्द के इस स्वीकृत अर्थ के अनुसार ललित कलाओं को अनिवार्यतः 'प्रतिभा'-जन्य कला (Arts of genius) माना जाना चाहिए।

क्योंकि प्रत्येक कला ऐसे नियमों की पूर्व कल्पना करती है जो उस आधार के रूप में स्थापित किए जाते हैं जो पहले किसी कृति को सामर्थ्य प्रदान करता है, यदि उसे उस कला की कोई कृति कहा जाय, जो सम्भाव्य रूप में निरूपणीय है। कुछ भी हो, ललित कला की संकल्पना अपने कलाकृति सम्बन्धी निर्णय को किसी ऐसे नियम से व्युत्पादित होने की अनुमति नहीं देता जो अपनी निर्धारिणी आधारभूमि (determining ground) के निमित्त किसी संकल्पना को धारण करता है और जो परिणामतः किसी ऐसे ढंग की संकल्पना (Concept) पर निर्भर करता है जिस ढंग से कि कलाकृति सम्भव है। परिणामस्वरूप ललित कला स्वतः अपने से किसी ऐसे नियम की परिकल्पना नहीं कर सकती जिसके अनुसार वह अपनी कृति (Product) को सम्पन्न करे। किन्तु चूँकि तो भी कोई कृति तब तक कदापि कला नहीं कही जा सकती जब तक कि उसका एक पूर्वगत (Preceding) नियम न हो अस्तु जिसका अर्थ यह होता है कि व्यक्तिगत प्रकृति (Nature in the individual) को (उसकी मनःशक्तियों के सामञ्जस्य के के कारण) कला को अवश्य नियम प्रदान करना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह कि ललित-कला केवल प्रतिभा की कृति के रूप में ही सम्भव है।

इससे यह देखा जा सकता है कि प्रतिभा (१) उस वस्तु की सृष्टि करने वाली एक प्रवणता (Talent) है जिसके लिये कोई निश्चित नियम प्रदान नहीं किए जा सकते : और उस चीज के चातुर्य के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाले कोई रुझाव नहीं हैं जो किसी नियम के अनुसार सीखी जा सकती है और यह कि परिणामतः 'मौलिकता' (Originality) अवश्यमेव इसकी प्राथमिक सम्पत्ति है। (२) और चूँकि मौलिक बकवास (Original nonsense) भी हो सकती है अस्तु उसकी कृतियाँ उसी समय अनिवार्यतः आदर्शरूप (Models) अर्थात् निदर्शनात्मक होती हैं और परिणामतः हालाँकि वे स्वयं अनुकृति से व्युत्पादित नहीं हैं, फिर भी दूसरों के लिये वे इस उद्देश्य का सम्पादन करती हैं। अर्थात् आकलन के एक मानदण्ड अथवा नियम के रूप में। (३) वह वैज्ञानिक ढंग से इस तथ्य को निर्दिष्ट नहीं कर सकती कि वह किस प्रकार अपनी कृति (Product) को संघटित करती है बल्कि वह 'प्रकृति' रूप नियम प्रदान करती है। अतएव जहाँ कोई लेखक किसी कृति के लिए अपनी प्रतिभा का ऋणी होता है वहाँ वह स्वयं यह नहीं जानता कि तत्सम्बन्धी विचार किस प्रकार उसके मन में प्रविष्ट हुए और न तो स्वेच्छापूर्ण ढंग से या विधानुसार तद्वत् वस्तु का आविष्कार कर लेना और ठीक उसी प्रकार दूसरों तक ऐसे सूत्र वाक्यों में सम्प्रेषित करना ही उसके वश में होता है कि जो उसे वैसी ही कृतियों की सृष्टि करने की स्थिति में रखेंगे। (अस्तु, मान्य रूप से हमारा Grie जिन्न देव शब्द Genius सहवर्ती देवदूत (प्रतिभा) से व्युत्पादित है, एक ऐसी विलक्षण संरक्षिका और निर्देशक आत्मा जो जन्म के समय मनुष्य के साथ भेजा जाती है, जिसकी प्रेरणा से वे मौलिक विचार उपलब्ध किए गये थे। (४) प्रकृति प्रतिभा द्वारा विज्ञान (Science) के लिए नहीं बल्कि कला के लिए नियम का विधान करती है और वह भी मात्र वहीं तक जहाँ तक कि वह ललित कला है।

प्रतिभा की उपर्युक्त परिभाषा का स्पष्टीकरण एवं परिपुष्टि

प्रतिभा और 'अनुकरण की प्रवृत्ति' के बीच पाये जाने वाले पूर्ण विरोध के तथ्य पर हर एक व्यक्ति सहमत है। अब चूँकि शिक्षा (Learning) अनुकृति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है अस्तु शिक्षार्थी (योग्यता) रूप महत्तम क्षमता या अभिवृत्ति अपने यथावत् रूप में फिर भी प्रतिभा की समकक्ष नहीं है। चाहे कोई व्यक्ति, दूसरों ने जो कुछ सोचा है बजाय उसका ढोंग करने के, अपने ही विचारों और कल्पनाओं को बुनता रहे और चाहे वह इतनी दूर पहुँच जाय कि कला और विज्ञान के लिए अभिनव उपलब्धियाँ ला सके फिर भी यह उस व्यक्ति की भिन्नता में ऐसे मनुष्य को 'मेधावी' (Man of brains) और प्रायः महान

मेधावी प्रतिभाशाली कहने के लिए प्रामाणिक कारण नहीं प्रस्तुत करता, जो अल्पमति (shallow pate) के नाम से प्रथित है क्योंकि वह मात्र सीखने और किसी लकीर का फकीर होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि इस प्रकार जो कुछ निष्पन्न किया जाता है वह एक ऐसी वस्तु है जो सीखी जा सकती थी। अस्तु यह सारी चीज नियमानुसार गवेषणा और विचारणा के प्रकृत पथ में निहित है अतएव उस वस्तु से विशिष्ट रूप से विभेद्य नहीं है जो अनुकरण से अनुप्रेरित अध्यवसाय के परिणाम-स्वरूप उपलब्ध की जा सकती है। अतएव न्यूटन ने 'प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्त' (Principles of Natural Philosophy) पर अपनी अमर कृति में जो कुछ भी प्रस्तुत किया है वह सब का सब अच्छी तरह सीखा जा सकता है, चाहे उसे खोज निकालने में कितना ही बड़ा मस्तिष्क क्यों न लगा हो, किन्तु हम यथार्थ काव्यात्मक मनोवृत्ति में लिखना नहीं सीख सकते, चाहे काव्य-कला के सारे शैक्षिक सूत्रवाक्य कितने ही सम्यक् क्यों न हों, चाहे उसके आदर्श कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों। कारण यह है कि ज्यामिति के प्राथमिक तत्वों से लेकर अपनी महत्तम एवं अत्यन्त गहन गम्भीर खोजों तक न्यूटन को जो सारे कदम उठाने पड़े वे सब के सब ऐसे थे जिन्हें वह स्वानुभूत्यात्मक ढंग से स्पष्ट और सम्यक् बोधग्राह्य बना सकता था और मात्र अपने ही लिए नहीं बल्कि हर दूसरे व्यक्ति के लिए भी। दूसरी ओर कोई होमर या वीलैण्ड इस बात की व्याख्या नहीं कर सकता कि, किस प्रकार कल्पना और विचार तत्त्व में एक साथ ही इतने समृद्ध उसके विचारों ने उसके मन में प्रवेश करके अपने को समवेत कर लिया, वह इस कारण कि वह स्वयं नहीं जानता और इसीलिए वह दूसरों को नहीं सिखा सकता। अतएव विज्ञान के सम्बन्ध में महत्तम आविष्कर्ता, घोर अध्यवसायी अनुकर्ता (Imitator) और अपरैन्टिस से केवल मात्रा में भिन्नता रखता है जबकि वह, उस व्यक्ति से विशेष रूप से भिन्नता रखता है जो ललित-कला की प्रकृति से निसर्गतः सम्पन्न है। फिर भी वे लोग जो ललित कला सबन्धी अपनी प्रतिभा (Talent)के सौभाग्य के कारण प्रकृति के चुने हुए व्यक्ति हैं उनके साथ उन महापुरुषों की इस तुलना में उनकी जिनके प्रति (उन महापुरुषों को) यहाँ कोई अवमानना अन्तर्निहित नहीं है मानव जाति इतनी अधिक कृतज्ञ है। विज्ञानगत प्रतिभा ज्ञान में, उसकी सम्पूर्ण आश्रित सुविधाओं और उन्हें दूसरों तक पहुँचाने की भी सुविधाओं के साथ अधिकाधिक पूर्णता लाने के अविच्छिन्न सतत विकासों के लिये निर्मित होती है। अस्तु वैज्ञानिक उन लोगों के ऊपर अपनी विचारणीय उत्कृष्टता के एक कारण के लिए डींग मार सकते हैं जो प्रतिभाशाली कहलाने के गौरव की योग्यता रखते हैं क्योंकि प्रतिभा एक ऐसे बिन्दु तक पहुँचती है जिस पर कला को अवश्य एक जाना पड़ता है क्योंकि उसके

ऊपर एक ऐसी परिसीमा आरोपित हो जाती है जिसे वह अतिक्रान्त नहीं कर सकती। यह परिसीमा अपनी सम्पूर्ण सम्भाव्यता में बहुत पहले ही उपलब्ध कर ली गई है। इसके साथ ही इस प्रकार की कुशलता सम्प्रेषित नहीं की जा सकती बल्कि वह प्रकृति के हाथों अपरोक्ष रूप से हर एक व्यक्ति को प्रदान की जाने के लिए है और इस प्रकार उस दिन की प्रतीक्षा करते हुए उसके साथ ही उसका अवसान हो जाता है जिस दिन प्रकृति एक बार पुनः एक अन्य व्यक्ति को उसी प्रकार शक्तिसम्पन्न करती है, एक ऐसा व्यक्ति जो उस प्रतिभा को जिसके प्रति वह जागरूक है, उन्हीं सरणियों पर कार्य नियोजित करने के लिए एक उदाहरण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता।

यह देखते हुये कि ललित कला के नैसर्गिक सामर्थ्य को चाहिए कि वह नियम को अवश्य समाप्त कर दे तो फिर इसे किस प्रकार का नियम होना चाहिये ! यह एक ऐसा नियम नहीं हो सकता जो किसी सूत्र (Formula) में लिपिबद्ध कर दिया गया हो और एक उपदेशात्मक सूत्रवाक्य का काम करता हो—क्योंकि तब तो सुन्दर-सम्बन्धी निर्णय संकल्पनाओं के अनुसार निर्धार्य हो जायेगा। बजाय इसके नियम को अनिवार्यतः कला-निष्पादन (Performance) अर्थात् उस कलाकृति (Product) से संकलित होना चाहिये जिस पर दूसरे लोग अपनी प्रतिभा की परीक्षा कर सकें, जिससे उसे एक आदर्श (Model) का काम करने दिया जा सके, 'अनुकरण' के लिए नहीं बल्कि अनुसरण के लिए। इसकी सम्भावना की व्याख्या करना कठिन है। कलाकार के विचार उसके शिष्य की ओर से उभरने वाले विचारों की भाँति उभरते हैं, यह मानकर कि प्रवृत्ति ने उसे मानसिक शक्तियों के समान अनुपात के साथ देखा था। इस कारण, ललित कला के आदर्श (Models) ही इस कला को भावी सन्तति को प्रदान करने के एक मात्र साधन हैं। यह कुछ ऐसा कार्य है जो मात्र वर्णनों द्वारा नहीं किया जा सकता (विशेषतः भाषण की कलाओं की पद्धति से होकर नहीं) और पुनश्च इन कलाओं में केवल वे ही आदर्श (Models) क्लैसिकल बन सकते हैं जिनके माध्यम (Medium) वे प्राचीन मृत भाषाएँ हैं जिन्हें सीख करके सुरक्षित रखा गया है।

उस सुस्पष्ट भेद के बावजूद जो मात्र अध्यवसाय और अधिगम (Learning) पर आश्रित कला रूप यान्त्रिक कला को, प्रतिभाजन्य कला रूप ललित कला से पृथक् करता है और कोई भी ऐसी ललित कला नहीं है जिसमें नियमों की अनुवर्तिता में तत्काल अवबुद्ध और अनुगत होने योग्य कोई यान्त्रिक चीज़ और परिणामतः कोई शैक्षिक चीज़ कला की अनिवार्य शर्त का विधान न करती हो। क्योंकि लक्ष्य (end) रूप में किसी वस्तु का विचार अवश्य वर्तमान होना चाहिये अन्यथा उसकी कृति किसी कला पर एकदम आरोपित ही नहीं होगी बल्कि व

द्वारा अपनी कृति की साध लेने और संशोधित कर लेने के पश्चात् रुचि द्वारा उसका मूल्यांकन करता है और अपने को सन्तुष्ट करने के अनेक प्रायः श्रमसाध्य प्रयासों के बाद वह उस रूप (From) को पाता है जो सन्तुष्ट करता है। अतः यह रूप प्रेरणा की कोई वस्तु या मानसिक शक्तियों के स्वच्छन्द दोलन (Free swing) का परिणाम न होकर एक ऐसी मन्थरगति और यहाँ तक कि कष्टसाध्य सुधार प्रक्रिया (Process of improvement) का परिणाम है जिसके द्वारा अपनी शक्तियों के विलास (Play) की स्वच्छन्दता की क्षति के बिना, वह उसे अपने विचारानुरूप ढालता है।

किन्तु रुचि कोई उत्पादी (Productive) मनःशक्ति न होकर मात्र एक निर्णयकारिणी मनःशक्ति है और अतएव जो वस्तु इसके उपयुक्त है वह ललित कला की कोई कृति नहीं है। वह केवल उपयोगी और यान्त्रिक कला अथवा यहाँ तक कि विज्ञान (Science) से सम्बन्ध रखने वाली, ऐसे निश्चित नियमों के अनुसार सृष्ट एक कृति हो सकती है, जो सीखे जा सकते हैं और जिनका अवश्य ही यथावत् अनुसरण किया जाना चाहिए। किन्तु जो सुखावह रूप इसे प्रदान किया जाता है वह सम्प्रेषण का एक वाहन मात्र और इसे उस वस्तु के सम्बन्ध में प्रस्तुत करने की रीति है जिसके सम्बन्ध में हम किसी सीमा तक स्वतन्त्र रहते हैं हालाँकि वह एक निश्चित प्रयोजन से सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार हम यह कामना करते है कि एक सहभोजोत्सव, एक नीति-प्रबन्ध यहाँ तक कि एक धर्मोपदेश को भी बिना यह प्रतीत हुए कि वह (ललित कला का यह रूप) अन्वेष्य है, स्वयं अपने मे ललित कला के इस रूप से सम्पन्न होना चाहिए; किन्तु इसीलिए हम इन वस्तुओं को सुन्दर कला की कृतियाँ नहीं कहते, परवर्ती वर्ग के अन्तर्गत कविता, सगीत की एक टुकड़ी, एक चित्र-वीथिका आदि की संगणना की जाती है; और ललित कला की कृति होने के लिए स्थापित की जाने वाली इस प्रकार की कुछ कला कृतियों में हम रुचि-विहीन प्रतिभा का दर्शन करते हैं जबकि दूसरी कलाकृतियों मे प्रतिभा-विहीन रुचि का।

मन की वे शक्तियाँ जो प्रतिभा का संघटन करती हैं

कुछ ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में, जिनसे हम यह आशा करते हैं कि कम से कम उन्हें अंशों में ललित कला प्रतीत होना चाहिए, हम यह कहते हैं कि वे भावना-शून्य या निष्प्राण (Without spirit) हैं यद्यपि रुचि के कारण के आधार पर हम उन पर दोषारोपण करने की कोई भी चीज़ उनके अन्दर नहीं पाते। एक कविता बड़ी ही विशद और ललित हो सकती है किन्तु फिर भी वह निष्प्राण हो सकती है। एक इतिहास यथातथ्य और सुशृंखलित होने पर भी निष्प्राण (W'thout spirit)

एक निरी संयोगघटित कृति हो जायगी। किन्तु किसी लक्ष्य या उद्देश्य (end) का सम्पादन ऐसे निर्दिष्ट नियमों (Determinate rules) को अनिवार्य बना देता है जिन्हें मुक्त कर देने का जोखिम हम नहीं उठा सकते। अब यह देखते हुए कि बुद्धि वैभव की मौलिकता वह एक (हालाँकि मूलभूत नहीं) अनिवार्य तत्व है जो प्रतिभा के विशिष्ट स्वरूप (Character) का निर्माण करता है। अल्पबुद्धि लोग कल्पना करते हैं कि वे अपने पूर्ण विकसित प्रतिभाशाली होने का जो सबसे अच्छा प्रमाण दे सकते हैं वह अपने को समस्त सैद्धान्तिक नियमों के विग्रह से मुक्त करके दे सकते हैं। संक्षेप में यह कि कोई व्यक्ति एक प्रशिक्षित घोड़े के बजाय एक क्रोधी घोड़े की पीठ पर एक सुन्दरतर चित्र काट देता है। प्रतिभा ललित कला कृतियों के लिए प्रचुर सामग्री जुटाने से अधिक और कुछ नहीं कर सकती; उसके विस्तरण और 'रूप' शैक्षणिक दृष्टि से प्रशिक्षित बुद्धि-वैभव या प्रवणता (Talent) की अपेक्षा रखते हैं जिससे कि उसे इस प्रकार प्रयुक्त किया जा सके कि वह निर्णय की परीक्षा में खरा उतर सके। किन्तु किसी व्यक्ति के लिए ऐसी चीजों के सम्बन्ध में प्रतिभाशाली जैसे वक्तव्य की घोषणा करना जो अत्यन्त धैर्य पूर्ण तर्कबुद्धिपरक गवेषणा के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं, अत्यन्त हास्यास्पद है। व्यक्ति की समझ में यह नहीं आता कि वह उस पाखण्डी के ऊपर अधिक हँसे, जो अपने को इस प्रकार की घनघटा या कोरी कल्पना में विकसित करता है—(जिसमें कि हमें अपनी आलोचन शक्ति (Critical Faculty) के निखिल उपयोग के मूल्य पर अपनी कल्पना के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रशस्त क्षेत्र प्राप्त होता है) या उस सीधी-साधी जनता के ऊपर जो यह कल्पना करती है कि विदग्धता-जन्य इस अत्युत्कृष्ट कृति का अर्थ ग्रहण करने और समझने में उसकी अयोग्यता उसका उन नये सत्यों से आक्रान्त होना है जिनकी तुलना में सतर्कतापूर्वक नपी-तुली व्याख्या और मूलभूत सिद्धान्तों की शास्त्रीय (academic) परीक्षा के कारण सविस्तर वस्तु मात्र किसी नौसिखिए की कृति प्रतीत होती है।

रुचि के साथ प्रतिभा का सम्बन्ध

यथावत् रूप में सुन्दर वस्तुओं (Beautiful objects) के 'आकलन' के लिए जिस वस्तु की अपेक्षा होती है वह 'रुचि' (Taste) है, किन्तु ललित कला अर्थात् ऐसी वस्तुओं के सृजन के लिए व्यक्ति को 'प्रतिभा' की आवश्यकता होती है।

यदि हम प्रतिभा को ललित-कला की प्रवणता (Talent) मानें (जिसे कि शब्द का यथार्थ अभिप्राय ध्वनित करता है) और यदि हम इसे इस दृष्टि से उन मन शक्तियों (F) में विश्लेषित करें जिन्हें इस प्रकार की प्रवणता का

संघटन करने में अवश्य योग देना चाहिये तो उस प्रकृति-सौन्दर्य (Beauty of nature) जिसका आकलन करने के लिए केवल रुचि की अपेक्षा होती है और उस कला-सौन्दर्य (Beauty of art) के बीच के भेद का ठीक-ठीक निर्धारण कर लेना प्रारम्भ में ही अनिवार्य है जो अपनी सम्भावना के लिए प्रतिभा की अपेक्षा रखता है (एक ऐसी सम्भावना जिस पर भी, इस प्रकार की वस्तु का आकलन करने मे, अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए) ।

प्रकृति सौन्दर्य कोई एक सुन्दर वस्तु है, कला-सौन्दर्य किसी वस्तु का एक 'सुन्दर प्रतिरूपण' (Beautiful representation) **है ।**

प्रकृति के किसी सौन्दर्य का विशुद्ध रूप में आकलन करने में मुझे समर्थ बनाने के लिए मुझे इस चीज़ की आवश्यकता नहीं है कि मेरे पास पूर्वतः इस बात की कोई संकल्पना हो कि वह वस्तु किस प्रकार की चीज होने के लिए अभिप्रेत है अर्थात् मैं उसकी पार्थिव चरमता (उद्देश्यमयता) जानने के लिए बाध्य नहीं बजाय इसके मैं उसके उद्देश्य के ज्ञान से पृथक् रहकर उसका एक आकलन करने के लिए बाध्य हूँ । मात्र रूप स्वतः आनन्द प्रदान करता है । फिर भी यदि वस्तु एक कलाकृति के रूप में प्रस्तुत की जाय और इसी रूप में सुन्दर घोषित की जाय तो यह देखते हुए कि कला सदैव किसी कारणगत लक्ष्य (और उसकी कारणता) को पूर्वकल्पित करती है, वस्तु (Object) क्या होने के लिये अभिप्रेत है सर्व प्रथम इसकी संकल्पना को उसके मूल में स्थापित हो जाना चाहिये । और चूँकि किसी वस्तुगत बहुविध का, उसके लक्ष्य रूप में उससे (वस्तु से) सम्बन्ध रखने वाले एक आन्तरिक वैशिष्ट्य के साथ सहमति (Agreement) वस्तु की पूर्णता (Perfection) का विधान करती है अस्तु इसका तात्पर्य यह होता है कि कला-सौन्दर्य का आकलन करने में वस्तु की पूर्णता (The perfection of thing) पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये—एक ऐसी चीज जो सुन्दर के रूप में प्रकृति के किसी सौन्दर्य का आकलन करने में सर्वथा असंगत है । यह सत्य है कि कोई आकलन करने में और विशेषतः प्रकृति की चेतन वस्तुओं उदाहरणार्थ जैसे किसी मनुष्य अथवा अश्व का आकलन करने में, उनके सौन्दर्य सम्बन्धी निर्णय के अभिप्राय से वस्तुनिष्ठ चरमता (Objective finality) पर भी सामान्यतः (Commonly) विचार किया जाता है किन्तु इसके साथ-साथ निर्णय भी विशुद्धतः सौन्दर्य-निर्णय अर्थात् एक निरा रुचि-निर्णय (A mere judgment of taste) होने से विरत हो उठता है । प्रकृति अब और आगे, जैसा कि वह प्रतीत होती है, कला की भाँति आकलित नहीं की जाती बजाय इसके वह उस हद तक आकलित की जाती है जिस हद कि वह वस्तुत कला है यद्यपि अति मानवीय कला और

निर्णय, सौन्दर्य-निर्णय एक ऐसे के आधार और उपाधि (Condition) का काम करता है परवर्ती को जिसका अवश्य आदर करना चाहिये। ऐसी स्थिति में, उदाहरणार्थ, जहाँ कोई व्यक्ति यह कहता है कि "वह एक सुन्दर स्त्री है" वहाँ वह जो कुछ सोचता है वह मात्र यह है कि उसके रूप (Form) में प्रकृति ने नारी मूर्ति सुलभ उद्देश्यों को अत्यन्त उत्कृष्ट रीति से चित्रित किया है। क्योंकि न्यायतः उपाधियुक्त (Logically Conditioned) एक सौन्दर्य-निर्णय द्वारा इस प्रकार गृहीत (Thought) होने में वस्तु (Object) को समर्थ बनाने के लिए व्यक्ति को निरे रूप (Form) के बाहर किसी संकल्पना तक अपनी दृष्टि को विस्तारित करना पड़ता है।

जहाँ ललित-कला स्वतः प्रकाशित होती है वहाँ उसकी उत्कृष्टता उसके द्वारा दिये जाने वाले उन वस्तुओं के वर्णनों में होती है जो प्रकृति में कुरूप (Ugly) या अप्रिय (Displeasing) होतीं। उग्र आवेश, व्याधियाँ युद्ध के विध्वंश आदि (अशुभ वस्तुओं के रूप में) बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णित ही नहीं, यहाँ तक कि चित्रों में भी प्रतिरूपित किये जा सकते हैं। प्रकृति से मिलती-जुलती केवल एक प्रकार की कुरूपता ऐसी है जो सम्पूर्ण सौन्दर्यानन्द (Aesthetic delight) और परिणामतः कलात्मक सौन्दर्य को नष्ट किये बिना प्रतिरूपित होने में असमर्थ है अर्थात् वह, वह कुरूपता है जो 'अरुचि' या 'ऊब' (Disgust) को उद्दीपित करती है। क्योंकि, इस विलक्षण संवेदन में, जो विशुद्ध रूपकल्पना पर निर्भर करता है, वस्तु हमसे अपना (वस्तु का) उपभोग करने के लिये आग्रह करती हुई प्रतिरूपित की जाती है जबकि उस समय भी हम उससे पराङ्मुख बने बैठे होते हैं, अस्तु हमारे सम्वेदनान्तर्गत वस्तु का कृत्रिम प्रतिरूपण स्वयं वस्तु (Object) की प्रकृति से अब और आगे विभेद्य नहीं रह जाता है और इसीलिये सम्भवतः उसे सुन्दर नहीं माना जा सकता। शिल्प कला ने पुनः, चूँकि अपनी कलाकृतियों में कला प्रकृति के साथ लगभग अन्तर्भ्रान्त हो जाती है, उदाहरणार्थ, मात्र अन्योक्ति (Allegory) अथवा उन गुणों के द्वारा जो एक सुखद वेश धारण करते हैं और इस प्रकार मात्र परोक्ष ढंग से विशुद्ध सौन्दर्य-निर्णय के लिये नहीं बल्कि तर्कबुद्धि की ओर से विदित किसी व्याख्या के द्वारा मृत्यु (किसी सुन्दर प्रतिभा के अन्तर्गत) अथवा सामाजिक प्रवृत्ति के प्रतिचित्रण की स्वीकृति के अलावा अपने सृजन (Creations) में से कुरूप (Ugly) वस्तुओं के प्रतिचित्रण को बहिष्कृत कर दिया है।

इतना तो रहा किसी वस्तु के सुन्दर प्रतिचित्रण के लिए जो कि यथार्थ में किसी संकल्पना की उपस्थापना का रूप मात्र है जिसके द्वारा यह परवर्ती सार्वभौमतः सम्प्रेषित होता है। किन्तु सुन्दर कला की कृति को यह रूप देने के लिये मात्र रुचि की ही अपेक्षा होती है कलाकार कला और प्रकृति के विविध

द्वारा अपनी कृति की साध लेने और संशोधित कर लेने के पश्चात् रुचि द्वारा उसका मूल्यांकन करता है और अपने को सन्तुष्ट करने के अनेक प्रायः श्रमसाध्य प्रयासों के बाद वह उस रूप (From) को पाता है जो सन्तुष्ट करता है। अतः यह रूप प्रेरणा की कोई वस्तु या मानसिक शक्तियों के स्वच्छन्द दोलन (Free swing) का परिणाम न होकर एक ऐसी मन्थरगति और यहाँ तक कि कष्टसाध्य सुधार प्रक्रिया (Process of improvement) का परिणाम है जिसके द्वारा अपनी शक्तियों के विलास (Play) की स्वच्छन्दता की क्षति के बिना, वह उसे अपने विचारानुरूप ढालता है।

किन्तु रुचि कोई उत्पादी (Productive) मनःशक्ति न होकर मात्र एक निर्णयकारिणी मनःशक्ति है और अतएव जो वस्तु इसके उपयुक्त है वह ललित कला की कोई कृति नहीं है। वह केवल उपयोगी और यान्त्रिक कला अथवा यहाँ तक कि विज्ञान (Science) से सम्बन्ध रखने वाली, ऐसे निश्चित नियमों के अनुसार सृष्ट एक कृति हो सकती है, जो सीखे जा सकते हैं और जिनका अवश्य ही यथावत् अनुसरण किया जाना चाहिए। किन्तु जो सुखावह रूप इसे प्रदान किया जाता है वह सम्प्रेषण का एक वाहन मात्र और इसे उस वस्तु के सम्बन्ध में प्रस्तुत करने की रीति है जिसके सम्बन्ध में हम किसी सीमा तक स्वतन्त्र रहते हैं हालाँकि वह एक निश्चित प्रयोजन से सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार हम यह कामना करते हैं कि एक सहभोजोत्सव, एक नीति-प्रबन्ध यहाँ तक कि एक धर्मोपदेश को भी बिना यह प्रतीत हुए कि वह (ललित कला का यह रूप) अन्वेष्य है, स्वयं अपने में ललित कला के इस रूप से सम्पन्न होना चाहिए; किन्तु इसीलिए हम इन वस्तुओं को सुन्दर कला की कृतियाँ नहीं कहते, परवर्ती वर्ग के अन्तर्गत कविता, संगीत की एक टुकड़ी, एक चित्र-वीथिका आदि की संगणना की जाती है; और ललित कला की कृति होने के लिए स्थापित की जाने वाली इस प्रकार की कुछ कला कृतियों में हम रुचि-विहीन प्रतिभा का दर्शन करते हैं जबकि दूसरी कलाकृतियों में प्रतिभा-विहीन रुचि का।

मन की वे शक्तियाँ जो प्रतिभा का संघटन करती हैं

कुछ ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में, जिनसे हम यह आशा करते हैं कि कम से कम उन्हें अंशों में ललित कला प्रतीत होना चाहिए, हम यह कहते हैं कि वे भावना-शून्य या निष्प्राण (Without spirit) हैं यद्यपि रुचि के कारण के आधार पर हम उन पर दोषारोपण करने की कोई भी चीज़ उनके अन्दर नहीं पाते। एक कविता बड़ी ही विशद और ललित हो सकती है किन्तु फिर भी वह निष्प्राण हो सकती है। एक इतिहास और सुश्रृंखलित होने पर भी निष्प्राण (Without spirit)

हो सकता है। एक औत्सविक सम्भाषण ठोस और साथ ही विस्तीर्ण किन्तु फिर भी निष्प्राण हो सकता है। वार्तालाप प्रायः मनोविनोद से शून्य नहीं हुआ करता किन्तु वह निष्प्राण होता है, यहाँ तक कि किसी स्त्री के लिए हम यह कहते हैं कि वह कमनीय है, रुचिकर वार्तालाप करने वाली और नम्र है किन्तु निष्प्राण है। तो फिर प्राण से हमारा क्या तात्पर्य होता है ?

सौन्दर्यपरक अर्थ में प्राण (Spirit) मन के सजीवता-धर्म (Animaty principles) को प्रदान की जाने वाली संज्ञा है। किन्तु वह वस्तु जिसके द्वारा यह धर्म अन्तरात्मा को अनुप्राणित करता है और वह उपादान (Material) जिसे वह इस प्रयोजन के लिए व्यवहृत करता है वह, वस्तु है जो मानसिक शक्तियों को सोद्देश्य आन्दोलन की स्थिति में अर्थात् एक ऐसे व्यापार में विन्यस्त करती है जो स्वयं अपना पोषण करता और मानसिक शक्तियों को उनके व्यवहार में बलवान बनाता है।

अब मैं यह मानता हूँ कि यह धर्म (Principle) सौन्दर्यपरक प्रत्ययों (Aesthetic ideas) को उपस्थापित करने वाली मनःशक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और एक सौन्दर्यपरक प्रत्यय का अर्थ मैं कल्पना का वह प्रतिरूपण समझता हूँ जो बिना किसी निश्चित विचार के अर्थात् बिना किसी ऐसी संकल्पना के, जो उसके उपयुक्त होने में सक्षम हो, अत्यधिक विचार उत्पन्न करता है; परिणामतः इसे भाषा द्वारा पूर्णतया परिवेष्ठित और बुद्धिगम्य नहीं बनाया जा सकता। हम आसानी से देखते हैं कि यह तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय की प्रतिमूर्ति (तुल्य) है जो विपर्यित रूप से एक ऐसी संकल्पना है जिसके लिए कोई भी स्वानुभूति (अथवा कल्पना का प्रतिरूपण) उपयुक्त नहीं हो सकती।

कल्पना (संज्ञान की एक उत्पादी मनःशक्ति के रूप में) उस उपादान (Material) में से जो वास्तविक प्रकृति उसे प्रदान करती है, एक अन्य प्रकृति की सृष्टि करने में अत्यन्त सशक्त है। जब अनुभव अत्यन्त साधारण हो जाता है तो इससे हम अपना मनोरंजन करते हैं और इसके द्वारा हम वस्तुतः सदैव सादृश्यमूलक नियमों के अनुसार किन्तु फिर भी उन नियमों के अनुसार भी अनुभव को पुनर्गठित करते हैं, जो तर्कबुद्धि के अन्तर्गत एक उच्चतर स्थान अधिकृत करते हैं (उन नियमों के अनुसार भी जो हमारे लिए इतने नैसर्गिक हैं जितने कि वे नियम जिनके द्वारा बुद्धि अनुभवमूलक नियोजन से सम्बन्ध रखती है) से अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं जिससे कि इस नियम के अनुसार प्रकृति द्वारा हमें प्रदत्त उपादान (Material) किसी ऐसी भिन्न वस्तु में निष्पादित किया जा सकता है जो प्रकृति का अतिक्रम करती है

कल्पना के ऐसे प्रतिरूपों (Representations) को हम प्रत्यय (Ideas) कहते है, अंशतः इसलिए क्योंकि वे कम से कम किसी ऐसी वस्तु को पाने के लिए जो, अनुभव की सीमाओं के परे है, और इस प्रकार तर्कबुद्धि की संकल्पनाओं (बौद्धिक प्रत्ययों) की किसी उपस्थापना के सन्निकट पहुँचने के लिए संघर्षपूर्ण प्रयास करते हैं, इस प्रकार परवर्ती को एक वस्तुनिष्ठ सत्ता का आभास (Appearance) प्रदान करते हैं; किन्तु विशेषतः इसलिए क्योंकि आन्तर स्वानुभूति का रूप उसके साथ पूर्णतया उपयुक्त नहीं हो सकता। कवि अदृश्य सत्ताओं, आनन्दमय स्वर्गीय साम्राज्य तर्क, शाश्वत सत्य सृष्टि आदि के तर्कबुद्धिपरक प्रत्ययों को इन्द्रियबोध से अनुभव करने का साहस बाँधता है अथवा चाहे वह उन वस्तुओं का निरूपण करता है, जिसके उदाहरण अनुभवान्तर्गत उपलब्ध हैं—उदाहरण के लिए जैसे मृत्यु, ईर्ष्या और समस्त दुर्गुण प्रेम ख्याति जैसी चीजें भी—वह उस कल्पना के द्वारा जो अनुभव की सीमाओं के पार जाने और उन्हें एक ऐसी परिपूर्णता के साथ इन्द्रियबोध के प्रति प्रस्तुत करने में, सूत्रान्वेषण में लगी हुई तर्कबुद्धि के व्यापार के साथ प्रतिस्पर्धा करती है, जिसका कोई भी उदाहरण प्रकृति में नहीं है। सच पूछिये तो यह कवि की कला है जिसमें सौन्दर्य प्रत्ययों (Aesthetic ideas) की मनःशक्ति अपने को अपनी सम्पूर्ण शक्ति में अभिव्यक्त कर सकती है। किन्तु स्वयं अपने में विवेचित की जाने पर वस्तुतः यह मात्र एक प्रवणता है (कल्पना की)।

अब यदि हम किसी संकल्पना (Concept) के साथ, अपनी उपस्थापना (Presentation) से सम्बन्ध रखने वाली कल्पना के प्रतिरूपण (Representation) को संयुक्त करें, किन्तु स्वतः अपने ही बल पर एक ऐसे विचार-वैभव को उद्रेचित करने वाली कल्पना का जो किसी निश्चित संकल्पना में अवबोध को कभी नहीं स्वीकार करेगी और परिणामस्वरूप जो स्वयं संकल्पना को ही सौन्दर्यपरक दृष्टि से एक निर्बन्ध असीम विस्तार प्रदान करती है, तो कल्पना यहाँ एक सर्जनात्मक कार्य करती है और यह बौद्धिक प्रत्ययों की मनःशक्ति (तर्कबुद्धि) को गतिशील बनाती है—एक ऐसी गति जो प्रतिरूपण के अनुरोध पर उस विचार तत्त्व के विस्तार की ओर प्रवृत्त होती है जो वस्तु की संकल्पना से सम्पृक्त होने पर निस्सन्देह उस वस्तु का अतिक्रम कर जाता है जो उस प्रतिरूपण (Representation) में हस्तगत की जा सकती है अथवा जो स्पष्टतः अभिव्यक्त की जा सकती है।

वे रूप (Forms) जो स्वयं किसी निर्दिष्ट संकल्पना (Concept) की उपस्थापना का विधान नहीं करते बल्कि जो कल्पना के गौण प्रतिरूपों (Representations) के रूप में उससे सम्बद्ध व्युत्पादितों (Derivations) और अन्य संकल्पनाओं के साथ उसकी बन्धुता को व्यक्त करते हैं, वे किसी ऐसी वस्तु के (सौन्दर्यपरक) 'गुण' (Attributes) कहलाते हैं प्रत्यय रूप जिसकी समुचित रूप से प्रस्तुत नहीं का

जा सकती। इस प्रकार दीप्तिमय चंगुल वाला बृहस्पति का सुपर्ण द्युलोक के शक्तिमान् सम्राट् का और मयूर उसकी गरिमामयी साम्राज्ञी का गुण (Attribute) है। वे तार्किक गुणों या विशेषणों (Logical attributes) की भाँति उस वस्तु को प्रतिरूपित नहीं करते जो हमारी सृजन की उदात्तता और भव्यता की संकल्पना (Concept) में निहित होती है बल्कि वे किसी अन्य वस्तु को प्रतिरूपित करते हैं—किसी ऐसी वस्तु को जो कल्पना को उन सजातीय प्रतिरूपणों के पूरे समूह के ऊपर अपनी उड़ान को प्रसारित करने के लिए एक अनुप्रेरणा प्रदान करती है जो शब्दों द्वारा निर्धारित किसी संकल्पना में जितना विचार अभिव्यक्त पाते हैं उनसे अधिक विचार उद्दीप्त करते हैं। वे एक ऐसा 'सौन्दर्यपरक प्रत्यय' (Aesthetic idea) प्रस्तुत करते हैं जो उक्त तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय (Rational idea) का तर्कगत उपस्थापन के स्थान पर कार्य-सम्पादन करता है किन्तु जैसे भी हो मन के लिए उसकी दृष्टि के बाहर फैले हुए सजातीय प्रतिरूपणों के क्षेत्र में एक आयति (Prospect) का उद्घाटन करके उसे सजीव बनाने की समुचित क्रिया के साथ। किन्तु वह मात्र चित्रकला या वस्तुकला ही नहीं है जहाँ कि गुण (Attribute) की संज्ञा रूढ़ ढग से प्रयुक्त होती है, वह ललित कला इस प्रकार कार्य करती है; काव्य और अलंकार शास्त्र भी उस अन्तरात्मा को जो उनकी कृतियों को जीवन-स्पन्दित बनाती है, पूर्णतया वस्तुओं के सौन्दर्यपरक गुणों से व्युत्पादित करते हैं—गुण जो कि अन्वीक्षामूलक गुणों के साथ मेल खाते हैं और कल्पना को, हालाँकि एक अर्द्ध-विकसित ढग से, जितना कि वह किसी संकल्पना के परिवेष्ठन में समाविष्ट किए जाने अथवा अतएव जितना कि वह भाषा में निश्चित रूप से सूत्रीकृत किए जाने की स्वीकृति देती है, उससे अधिक विचार को कार्यान्वित करने की प्रेरणा शक्ति प्रदान करते हैं। संक्षिप्तता के लिए मुझे अपने को केवल कुछ ही दृष्टान्तों तक सीमित रखना चाहिए। जब महान् सम्राट् अपनी एक कविता में यह कहकर अपने को व्यक्त करता है :

Oui, finissons sons Trouble, et mourons sons regrets, En Laissant I'univers Comble de nos bienfaits. Ainsi I' Astre du jour au bout de sa Carriere Repand sur I' horizon Une douce lumiere Et les derniers rayons quil darde dans les airs Sont les derniers Soupirs qu'il donne a I' Univers.

उस समय वह उस गुण की सहायता से जीवन के अवसान काल में भी इस तरह एक विश्वहितैषी भावना के अपने तर्कबुद्धिपरक विचार (Rational idea) को उद्दीप्त करता है जिसे कल्पना (उस रमणीय ग्रीष्म काल के सारे सुखों को स्मरण करने में जो समाप्त और व्यतीत हो चुके हैं—जिन सुखों की एक स्मृति एक प्रशान्त सम्भीर सन्ध्या द्वारा व्यंजित की गई है) उस प्रतिरूपण से सम्बद्ध करती है

और जो उन संवेदनाओं और प्रतिरूपों को एक भीड़ उत्तेजित कर देती है जिन के लिए कोई शब्दावली नहीं मिल सकती। दूसरी ओर इसके विपरीत एक बौद्धिक सकल्पना (Concept) भी इन्द्रिय-प्रतिरूपण के लिए गुण (Attribute) रूप मे काम कर सकती और इस प्रकार परवर्ती को अतीन्द्रिय के विचार (idea) से सजीव बना सकती है; किन्तु केवल तदर्थ व्यवहृत अतीन्द्रिय सत्ता की चेतनता के साथ सौन्दर्यपरक तत्त्व को व्यक्तिपरक रीति से संसक्त करके ही। अस्तु, उदाहरणार्थ एक कवि विशेष किसी सुन्दर प्रभात के अपने वर्णन में कहता है "सूर्य इस प्रकार उदित हुआ जैसे सद्गुण से शान्ति उदित होती है।" सद्गुण (Virtue) की चेतनता यहाँ तक कि जहाँ हम स्वयं अपने को सद्गुणी मनुष्य की अवस्था के विचार में रखते हैं वहाँ भी मन में उदात्त और प्रशान्तिजनक भावनाओं के बाहुल्य को विकीर्ण करती और एक आनन्दमय भविष्य की दिशा मे एक निर्बन्ध-असीम दृष्टिकोण प्रदान करती है, ऐसा (दृष्टिकोण) जिसे कि किसी सुनिश्चित संकल्पना के क्षेत्र में पड़ने वाली कोई भी शब्दावली पूर्णतया उपलब्ध[1] नहीं कर पाती।

एक शब्द में, सौन्दर्य-प्रत्यय (Aesthetic idea) एक ऐसी निर्दिष्ट सकल्पना का प्रतिरूपण है जिसके साथ, कल्पना के स्वच्छन्द व्यापार में, आंशिक प्रस्तुतियों का एक ऐसा वैविध्य (Multiplicity) बँधा होता है कि जिसके लिए किसी सुनिश्चित संकल्पना को निर्दिष्ट करने वाली कोई भी शब्दावली नहीं पाई जा सकता—एक ऐसा (वैविध्य) जो उस कारण बहुत कुछ उस वस्तु द्वारा विचार में किसी संकल्पना को अनुपूरित होने की स्वीकृति देता है जो शब्दों मे अपरिभाष्य है और जिसकी अनुभूति संज्ञान-शक्तियों (Cognitive faculties) को स्फुरित करती और कोरी शब्द-निर्मित वस्तु रूप भाषा के साथ अन्तरात्मा को भी सम्बद्ध करती है।

वे मानसिक शक्तियाँ, एक विशेष सम्बन्ध में जिनका एकान्वय 'प्रतिभा' का

१—कदाचित् आइसिस् (प्रकृति-माता) के मन्दिर पर खुदे हुए इस प्रसिद्ध शिला-लेख से अधिक उदात्त उद्गार अथवा अधिक उदात्ततापूर्वक व्यक्त विचार संसार में नहीं रहा है "मैं वह सब हूँ जो कुछ है जो कुछ था और जो कुछ होगा और किसी भी मरणधर्मा ने मेरे आनन पर पड़े हुए अवगुण्ठन को नहीं उठाया।" सेग्नर ने अपने शिष्य को उस मन्दिर की अवग्रहणी पर जिसमें कि वह उसको ले जाने वाला था, एक ऐसे पवित्र आतंक से अनुप्राणित करने के लिए अपने 'प्राकृतिक प्रदर्शन' के आवरण-पृष्ठ पर एक व्यंजनापूर्ण शब्द चित्र में अलंकृत ढंग से इस विचार का उपयोग किया जो उसके मन को स्तब्ध-गम्भीर की स्थिति में प्रवृत्त कर दे

संघटन करता है, कल्पना (Imagination) और बुद्धि (Understanding) हैं। अब चूँकि कल्पना, संज्ञान की ओर से अपनी नियुक्ति में बुद्धि के निग्रह और तत्सम्बन्धी संकल्पना के अनुरूप होने के नियन्त्रण का पात्र बनाई जाती है जबकि सौन्दर्यपरक दृष्टि से यह संकल्पना के साथ उस सन्धि के साथ ही, अपनी इच्छा से उस बुद्धि के लिए अविकसित सामग्री वैभव जुटाने के लिए स्वतन्त्र है जिसके प्रति परवर्ती ने अपनी संकल्पना में कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु जिसका वह वस्तुनिष्ठ दृष्टि से संज्ञान के लिए उतना उपयोग नहीं करती जितना कि व्यक्तिनिष्ठतथा संज्ञान-शक्तियो को स्फूर्त करने के लिए और अतएव परोक्ष रूप से संज्ञानों (Cognitions) के लिए भी कर सकती है, अस्तु यह देखा जा सकता है कि प्रतिभा यथार्थतः उस परितुष्ट सम्बन्ध में होती है जिसे न तो विज्ञान सिखा सकता है और न व्यक्ति को किसी निर्दिष्ट संकल्पना के लिए प्रत्ययों (Ideas) को ढूँढ निकालने और इसके अलावा उनके लिए शब्दावली सुझा देने में समर्थ बनाने वाला अध्यवसाय अधिगत कर सकता है---शब्दावली जिसके द्वारा संकल्पना के संगामी प्रत्ययों द्वारा अभिप्रेरित व्यक्तिनिष्ठ मानसिक अवस्था दूसरों तक सम्प्रेषित की जा सकती है। यह परवर्ती बुद्धि-वैभव (Talent) यथार्थ में वह वस्तु है जिसे आत्मा (Soul) नाम से अभिहित किया जाता है। क्योंकि मानसिक दशा के अन्तर्गत एक विशेष प्रतिरूपण की अनुषंगी जो वस्तु अवर्णनीय है उसके लिए कोई अभिव्यक्ति पा लेना और उसे सार्वभौमतः सम्प्रेषणीय बनाना---चाहे वह अभिव्यक्ति भाषा में हो या चित्रण में हो या मूर्तन में हो---एक ऐसी चीज है जो कल्पना के द्रुतगामी और क्षणस्थायी व्यापार को पकड़ने और उसे एक ऐसी संकल्पना (जो उसी कारण मौलिक है और जो एक ऐसे नियम को उद्‌घाटित करता है जो किसी भी पूर्वगत नियम या उदाहरण से अनुमित न किया जा सका होता) में एकान्वित करने के लिए एक मनःशक्ति (Faculty) की अपेक्षा रखती है, जो किन्हीं भी नियमों के नियंत्रण के बिना ही सम्प्रेषण को स्वीकार करती है।

यदि इस विश्लेषण के पश्चात् हम एक बार पुनः उस वस्तु की परिभाषा पर दृष्टिपात करें जिसे प्रतिभा कहते हैं तो हम पाते हैं : प्रथमतः यह उस विज्ञान की प्रवणता या बुद्धि वैभव (Talent) न होकर कला की प्रवणता है, जिसमें अनिवार्य रूप से स्पष्टतः ज्ञात नियमों को दिशा-निर्देश करना और प्रक्रिया को निर्धारित करना चाहिए। द्वितीयतः, कला-सम्बन्धी प्रवणता (Talent) होने के कारण यह उसके लक्ष्य रूप में कलाकृति की एक निश्चित संकल्पना की पूर्वकल्पना करती है। अस्तु यह बुद्धि को पूर्वकल्पित करती है किन्तु उसके साथ ही एक प्रतिचित्रण की भी चाहे वह उस उपादान (Material) अर्थात् स्वानुभूति में अनिर्दिष्ट (Indefinite ही क्यों न हो जो के और अतएव बुद्धि के

साथ कल्पना के एक सम्बन्ध के लिए अपेक्षित होती है। तृतीयतः, यह किसी निश्चित संकल्पना के उपस्थापन में प्रक्षिप्त या नियोजित लक्ष्य (Projected end) की निष्पादन-पद्धति में अपने को उतना अधिक प्रदर्शित नहीं करती जितना कि चित्रण (Portrayal) अथवा उस उद्देश्य (Intention) को प्रभावित करने वाले उपादान-वैभव को अन्तर्धारण करने वाले 'सौन्दर्य-प्रत्ययों' (Aesthetic Ideas) की अभिव्यक्ति में प्रदर्शित करती है। परिणामतः कल्पना इसके द्वारा नियमों के सम्पूर्ण निर्देशन से विनिर्मुक्त अपनी स्वच्छन्दता में प्रतिरूपित की जाती है किन्तु फिर भी निर्दिष्ट संकल्पना (The given concept) के उपस्थापन के लिए चरम (Final) रूप में। चतुर्थतः और अन्ततः, बुद्धि की नियमानुसारिता के साथ कल्पना के स्वच्छन्द सामञ्जस्यीकरण में अनन्वेषित (Unsought) और अनभिकल्पित (Undesigned) व्यक्तिनिष्ठ चरमता (Subjective finality) इन मनःशक्तियों के बीच एक ऐसे अनुपात और सामञ्जस्य की पूर्व-कल्पना करती है जो नियमों के किसी व्यवहार-विधान (Observance) द्वारा चाहे वे विज्ञान के हों या यान्त्रिक अनुकृति के, घटित नहीं किया जा सकता बल्कि वह केवल व्यक्ति द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है।

इन पूर्वकल्पनाओं के अनुसार प्रतिभा किसी व्यक्ति की संज्ञान-शक्तियों (Cognitive faculties) के स्वच्छन्द नियोजन में उसके नैसर्गिक धर्मस्वों (Natural endowments) की आदर्शभूत मौलिकता है। इस प्रतिपादन के आधार पर प्रतिभा-जन्य कलाकृति (इस कलाकृति के सम्बन्ध में उतना अधिक जितना कि प्रतिभा पर आरोप्य है वह नहीं जो सम्भाव्य अधिगम या सैद्धान्तिक शिक्षण पर आरोप्य है) एक उदाहरण है। अनुकृति के लिए नहीं (क्योंकि उसका अर्थ प्रतिभा तत्त्व और मानो कलाकृति की मूल अन्तरात्मा की हानि होगा) बल्कि एक अन्य प्रतिभा द्वारा अनुसरण किए जाने के लिए—एक ऐसी प्रतिभा जिसे यह नियमों के नियन्त्रण से मुक्त स्वच्छन्दता को अपनी कला में इस तरह विन्यस्त करने में उसकी अपनी मौलिकता के एक बोध के प्रति प्रबुद्ध करती है कि स्वयं कला के ही लिए एक नया नियम उपलब्ध हो जाता है—यह वही (नियम) होता है जो किसी प्रवणता (Talent) को निदर्शनात्मक सिद्ध करता है। तथापि चूँकि प्रतिभा प्रकृति की चुनी हुई वस्तुओं में से एक है—एक ऐसा प्रारूप या आदर्श जिसे केवल एक अपूर्व-प्रपंच (Rare phenomenon) ही मानना चाहिए—अधिक विचक्षण-मति वाले दूसरे व्यक्तियों के लिए उसका आदर्श (Example) एक सम्प्रदाय (School) को अर्थात् उस सीमा तक संगृहीत नियमों के अनुसार यथाविधि शिक्षण को जन्म देता है जिस सीमा तक कि प्रतिभा-जन्य ऐसी कलाकृतियों और उनकी

म स उन्हें स्वीकार करते हैं और उस सीमा तक ललित-

कला ऐसे व्यक्तियों के लिए उस अनुकृति की चीज़ है जिसके लिए प्रकृति ने प्रतिभा के माध्यम से नियम प्रदान किया।

किन्तु जिस समय शिष्य उन विरूपताओं तक हर एक वस्तु का अनुकरण करता है जिनसे प्रतिभा केवल विवशतावश ग्रस्त रही क्योंकि वे मूल विचार या भाव पर दिये गये जोर की हानि के बिना मुश्किल से ही दूर किए जा सकते थे, उस समय यह अनुकृति बहुरूपियापन या अनुकरण (Aping) हो जाती है। यह साहस केवल प्रतिभा की स्थिति में योग्यता या विशिष्टता रखता है। अभिव्यक्ति की कुछ थोड़ी सी 'प्रगल्भता' (Boldness) और सामान्यतः सर्वसामान्य नियम से बहुत सारा व्यत्यय उसके लिए उचित बन जाता है किन्तु किसी भी अर्थ में यह वस्तु अनुकरण-योग्य नहीं है। इसके विपरीत यह आन्तरिक रूप से आद्यान्त एक ऐसी विकृति (Blemish) बनी रह जाती है जिसे दूर करने का प्रयास करने के लिए व्यक्ति बाध्य होता है किन्तु प्रतिभा जिसके स्वत्व का इस आधार पर पक्ष समर्थन करने के लिये अनुज्ञात होती है कि एक अति सतर्क या विवेकपूर्ण सावधानता उसकी अन्तरात्मा की तीव्र आवेगपूर्ण उत्कटता में जो वस्तु अननुकार्य (Inimitable) है उसे विनष्ट कर देगी। रीतिवाद (Mannerism) एक दूसरे प्रकार की अनुकृति (Aping) है—यथासम्भव अपने को अनुकर्ताओं से दूर करने के लिए विशिष्टताओं (मौलिकता) की अनुकृति, जबकि व्यक्ति को आदर्शभूत (Examplary) होने में समर्थ बनाने के लिये अपेक्षित प्रवणता (Talent) अनुपस्थित होती है। वास्तव में अपने विचारों को अभिव्यक्तीकरण के लिये सुव्यवस्थित करने की सामन्यतः दो विधियाँ (Modi) हैं। एक रीति (Modus aestheticus) कहलाती है दूसरी पद्धति (Modus logicus)। दोनों के बीच अन्तर यह है पूर्ववर्ती के पास उपस्थापनान्तर्गत ऐक्य (Unity) की 'अनुभूति' (Feeling) के अतिरिक्त और कोई मानदण्ड नहीं होता जबकि परवर्ती यहाँ निश्चित नियमों (Principles) का अनुसरण करती है। परिणामतः मात्र पूर्ववर्ती ही ललित-कला के लिए ग्राह्य है। कुछ भी हो यह केवल वहीं होता है जहाँ मूल-भाव या विचार (Idea) को इस विचार के उपयुक्त बनाने के बजाय कि रीतिवाद (Mannerism) का आरोपण यथार्थ में ऐसी ही कलाकृति पर होने के लिए है, उसे एक कलाकृति के रूप में निष्पादित करने की निर्वहण की रीति ही एकमात्र 'लक्ष्यीकृत' होती है। सामान्य जन-समुदाय में से किसी व्यक्ति को विशिष्ट निर्देश करने के लिए अभिप्रेत, दाम्भिक प्रयत्न-साध्य-क्लिष्ट एवं आडम्बरपूर्ण शैलियाँ, जैसा कि हम कहते हैं, एक ऐसे मनुष्य के व्यवहार से मिलती-जुलती हैं जो स्वयं अपने को बात करते हुए सुनता है अथवा जो ठठकर इतस्तत चलता-फिरता है

अतएव ललित-कला के लिए अपेक्षित वस्तुएँ कल्पना, बुद्धि, अन्तरात्मा और रुचि[१] हैं।

(५१)

ललित-कलाओं का विभाजन

सौन्दर्य (चाहे वह प्रकृति का हो या कला का) सामान्यतः सौन्दर्य-प्रत्ययों (Aesthetic ideas) की 'अभिव्यक्ति' (Expression) के नाम से अभिहित किया जा सकता है। किन्तु यह बन्धान (Proviso) अवश्य जोड़ा जाना चाहिए कि कलागत सौन्दर्य के सम्बन्ध में इस प्रत्यय (Idea) को वस्तु की किसी संकल्पना के माध्यम से प्रोद्दीप्त होना चाहिए जबकि प्रकृतिगत सौन्दर्य के सम्बन्ध में वस्तु (Object) जो कुछ होने के लिए अभिप्रेत है उससे पृथक् किसी निर्दिष्ट स्वानुभूति पर विहित एक रिक्त विमर्शणा (Bare reflection) ही उस प्रत्यय (Idea) को उद्बुद्ध और सम्प्रेषित करने के लिये पर्याप्त है जिसका कि वस्तु (Object) 'अभिव्यक्ति' मानी जाती है।

तदनुसार, यदि हम ललित-कलाओं का विभाजन करना चाहें तो हम तदर्थ अस्थायी या परीक्षणात्मक रूप से (Tentatively) कम से कम उस साधर्म्य से कला जिसकी ओर अपनी अभिव्यक्ति पद्धति में प्रवृत्त होती है, अधिक सौविन्य जनक कोई नियम (Principle) नहीं चुन सकते जिसे लोग एक दूसरे के प्रति अपने को यथा सम्भव पूर्णतया सम्प्रेषित करने के अभिप्राय से अर्थात् मात्र अपनी सकल्पनाओं के ही सम्बन्ध में नहीं बल्कि अपनी संवेदनाओं के भी[२] सम्बन्ध में काम में लाते हैं।—ऐसी अभिव्यक्ति 'शब्द' (Word) संकेत (Gesture) और सुर (Tone) (शब्दोच्चार इंगित अंगहार और स्वर सामञ्जस्य) में निहित होता है। यह इन

---

[१] प्रथम तीन मनःशक्तियाँ (Faculties) चतुर्थ के द्वारा सर्व प्रथम 'एकता की स्थिति में लाई जाती हैं। ह्यूम अपने इतिहास में, अंग्रेजों को यह सूचना देता है कि यद्यपि "वे पृथक् रूप से" विवेचित इन प्रथम तीन गुणों के सम्बन्ध में जो साक्ष्य (Evidences) वे प्रस्तुत करते हैं तत्सम्बन्धी कार्यों के सम्बन्ध में वे संसार में किसी भी जाति से घटकर नहीं है फिर भी जो वस्तु उन्हें एकीभूत करती है उसके सम्बन्ध में उन्हें अपने प्रतिवासी, फ्रेंच जाति का लोहा अवश्य मानना चाहिए।

[२] पाठक को इस योजना को एक सुचिन्तित सिद्धान्त के रूप में ललित-कलाओं का सम्भाव्य विभाजन नहीं समझना चाहिए यह उन विविध प्रयासों में से एक प्रयास है जो किये जा सकते और किए जाने चाहिए

तीन अभिव्यक्ति-पद्धतियों (Modes of expression) का संयोजन ही है एकमात्र जो ही वक्ता (Speaker) के सम्यक् सम्प्रेषण का संघटन करता है। क्योंकि इस प्रकार विचार, स्वानुभूति और सम्वेदन युगपत् एवं पारस्परिक संसर्ग में दूसरों तक प्रेषित हो जाते हैं।

अस्तु ललित-कला के केवल तीन ही भेद हैं। वाक्कला (The art of Speech) रूपात्मक कला तथा (वाह्य-इन्द्रिय प्रभाव रूप) संवेदन-व्यापार-कला (The art of the play of Sensations)। यह विभाजन युग्मशालिता के रूप में भी व्यवस्थित किया जा सकता था जिससे कि ललित-कला विचारों की अभिव्यक्ति की कला अथवा स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति की कला में विभाजित होती, परवर्ती रूप और वस्तु (सम्वेदन) के भेद के अनुसार अन्तर्विभाजित होती। तथापि उस स्थिति में यह अत्यन्त अमूर्त प्रतीत होती और लोक प्रचलित धारणाओं की पद्धति पर कम प्रतीत होती।

(१) वाग्मिता (Rhetoric) और काव्य वाक्-कला हैं। वाग्मिता (Rhetoric) बुद्धि के एक गम्भीर व्यापार के सम्पादन को कला है जैसे मानों वह कल्पना का एक स्वच्छन्द व्यापार (Free play) हो; 'काव्य' कल्पना के एक स्वच्छन्द व्यापार के संचालन की कला है जैसे मानो वह बुद्धि का एक गम्भीर व्यापार हो।

इस प्रकार प्रवक्ता (Orator) एक गम्भीर व्यापार का अभिज्ञापन करता है और अपने श्रोताओं के मनोरंजनार्थ उसे इस प्रकार संचालित करता है जैसे मानों वह विचारों के साथ एक मनोरंजन मात्र का संचालन करने का वादा करता है फिर भी बुद्धि के लिए उसमें इतना अधिक आरोपित रखता है जैसे मानों उसके (बुद्धि के) व्यापार का उत्कर्षण उसका एक उद्देश्य रहा हो। संज्ञान की दोनों मनःशक्तियों संवेदनशक्ति (Sensibility) एवं बुद्धि (Understanding) के, जो यद्यपि निस्सन्देह एक दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं तथापि जो बिना अनिवार्यता और पारस्परिक अपचय के, तत्काल एकीभूत होने की अनुमति नहीं देतीं, संयोजन और सामञ्जस्य को अपरिकल्पित (Undesigned) और स्वतः प्रेरित (Spontaneous) होने का अवश्य आभास देना चाहिए—अन्यथा वह 'ललित-कला' नहीं है। इस कारण यहाँ उस वस्तु का परिहार किया जाना चाहिए जिसका अध्ययन किया जाता है और जो श्रमोपार्जित या श्रमसाध्य है क्योंकि ललित कला दोहरे अर्थ में अवश्य स्वच्छन्द कला है अर्थात् केवल ठेकेदारी के परिमाण य विस्तार के उस कार्य के विपरीत अर्थ में ही नहीं जिसे कृता और माँगा जा स अथवा जिसके लिए एक निश्चित मानदण्ड के अनुसार मूल्य चुकाया जा स बल्कि वह इस अर्थ में भी है कि इसमें काइ संदेह नहीं कि मन जि

समय स्वयं अपने को आविष्ट किए रहता है उस समय भी यह ऐसा किसी अन्य उद्देश्य की दूरवर्ती या परोक्ष दृष्टि के बिना ही करती है और तिस पर भी संतुष्टि और प्रोत्साहन (पारिश्रमिक निरपेक्ष) की अनुभूति के साथ।

अस्तु प्रवक्ता (Orator) एक ऐसी वस्तु प्रदान करता है जिसके लिए वह वादा नहीं करता अर्थात् कल्पना का एक मनोरंजनकारी व्यापार। दूसरी ओर उसमें कोई एक ऐसी वस्तु होती है जिसमें वह अपने वादे के समकक्ष पहुँचने में असफल रह जाता है और एक ऐसी वस्तु भी जो उसका प्रकाश्य या स्वीकृत कार्य है अर्थात् किसी उद्देश्य के प्रति बुद्धि की संलग्नता (Engagement)। इसके विपरीत कवि का वादा (Promise) एक साधारण (Modest) वादा है और विचारों के साथ मनोरंजन ही वह सब कुछ है जिसे वह हम लोगों तक प्रसारित करता है किन्तु वह एक ऐसी वस्तु का निष्पादन करता है जो एक गम्भीर कार्य ठहराया जाने योग्य है अर्थात् बुद्धि को खाद्य प्रदान करने के लिए केलि या क्रिया (Play) का प्रयोग और कल्पना द्वारा संकल्पनाओं को जीवन प्रदान करना। अस्तु प्रवक्ता (Orator) वस्तुतः जितना वादा करता है उससे कम पूर्ण करता है और कवि उससे अधिक।

(२) रूपात्मक कलाएँ (Formative arts) अथवा 'ऐन्द्रिक स्वानुभूति (कोरी कल्पना के उन प्रतिरूपों के द्वारा नहीं जो शब्दों द्वारा उद्दीप्त हो जाते हैं) में विचारों को अभिव्यक्ति देने वाली कलाएँ या तो 'ऐन्द्रिय सत्य' (Sensuous Truth) की कलाएँ हैं या 'ऐन्द्रिक आभास' या सादृश (Sensuous Semblance) की। पहली को 'अभिघटन' कला (Plastic art) कहते हैं और दूसरी को चित्रकला (Painting)। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए दोनों ही देशगत आकृतियों (figures in space) का प्रयोग करती हैं पहली दृष्टि और स्पर्श (यद्यपि वहीं तक जहाँ तक कि परवर्ती इन्द्रिय बिना सौन्दर्य की दृष्टि के, सम्बद्ध होती है) दो इन्द्रियों के लिए गोचर आकृतियों का निर्माण करती है दूसरी उन्हें इस प्रकार निर्मित करती है कि वे मात्र पहली इन्द्रिय को ही गोचर होती हैं। मूल सौन्दर्यपरक विचार (मूलादर्श या मौलिक) कल्पना में दोनों ही का मूलभूत आधार है; किन्तु वह आकृति जो इसकी अभिव्यक्ति का संघटन करती है (प्रतिकृति, प्रतिलिपि) या तो शारीरिक अभिव्यक्ति में निर्दिष्ट (Given) होती है (वह रीति जिससे वस्तु स्वयं अपना अस्तित्व रखती है) या फिर अपने ही उस चित्र (Picture) के अनुसार जिसे वह दृष्टि में चित्रित करती है (किसी समतल पर आयोजित किये जाने पर अपनी प्रतीति के अनुसार) अथवा मूलादर्श (Archtype) चाहे कुछ भी हो, चाहे किसी वास्तविक उद्देश्य का सन्दर्भ हो या किसी उद्देश्य का

(Semblance) मात्र, चिन्तन (Reflection) पर उसकी उपाधि (Condition) रूप में आरोपित किया जा सकता है ।

मूर्तिकला और शिल्पकला, पहले प्रकार की रूपात्मक ललित-कला रूप अभिघटन कला के अन्तर्गत आती हैं । पहली वह है जो वस्तुओं की संकल्पनाओं (Concepts of Things) को पार्थिव रूप से प्रस्तुत करता है क्योंकि वे प्रकृति में ही अपना अस्तित्व रख सकती हैं । यद्यपि ललित-कला के रूप में यह अपना ध्यान सौन्दर्यपरक चरमता (Aesthetic finality) की ओर प्रवृत्त रखती है । 'दूसरी' उन वस्तुओं की संकल्पनाओं को प्रस्तुत करने की कला है जो केवल कला के ही द्वारा सम्भव है और जिसके रूप (Form) की निर्धारिणी आधारभूमि प्रकृति न होकर एक स्वच्छन्द उद्देश्य (Arbitrary end) है—और उन दोनों को ही इस अभिप्राय से और फिर भी साथ ही साथ सौन्दर्यपरक चरमता (Aesthetic finality) के साथ प्रस्तुत करने की कला है। शिल्प-कला में प्रमुख तथ्य उस कलात्मक वस्तु (Artistic object) का एक विशेष उपयोग है जिस तक, उपाधि रूप में मूल सौन्दर्यपरक विचार सीमित होते हैं। मूर्तिकला में सौन्दर्यपरक विचारो (Aesthetic ideas) की निरी अभिव्यक्ति ही प्रधान उद्देश्य होती है। इस प्रकार मनुष्यों, देवों और पशुओं आदि की मूर्तियाँ मूर्ति-कला से सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु मन्दिर, लोक-समागम के लिए अभिप्रेत भव्य राजसी इमारतें अथवा यहाँ तक कि निवास-गृह, स्मारक रूप में निर्मित विजयोल्लास-सूचक तोरण, स्तम्भ, चैत्य आदि शिल्पकला के अन्तर्गत आते हैं और वस्तुतः इस आधार पर सारे घरेलू फरनीचर (करीकरों की सारी कृतियाँ और इस प्रकार व्यवहाराभिप्रेत सारी चीज़ें) इस सूची मे जोड़े जा सकते हैं, कि 'शिल्पकला की कृतियों में' कृति (Product) का किसी विशेष उपयोग के लिए ग्रहण एक अनिवार्य तत्त्व है। दूसरी ओर मात्र दर्शनार्थ, और एक पार्थिव प्रस्तुति के रूप में स्वतः आनन्द प्रदान करने के लिए अभिप्रेत एक निरी शिल्पकला-कृति प्रकृति की एक अनुकृति मात्र है यद्यपि एक ऐसी अनुकृति जिसमें ध्यान सौन्दर्यपरक विचारों पर दिया जाता है और अतएव जिसमें 'ऐन्द्रिक सत्य' (Sensuous truth) को कला और वरोच्छाशक्ति की कलाकृति होने के प्रतीयमान स्वरूप (Appearance) को नष्ट करने की सीमा तक नहीं जाना चाहिए।

दूसरे प्रकार की रूपात्मक कला चित्रकला को, जो कि ऐन्द्रिक आभास को विचारों के कलामय संयोजन में प्रस्तुत करती है, मैं प्रकृति के सुन्दर चित्रण (Portrayal of nature) और उसकी कलाकृतियों के सुन्दर विन्यास" (Arrangements of its products) में विभाजित करूँगा। पहली 'समीचीन चित्रकला' (Painting proper है और दूसरी भूदृश्य (Landscape gar

dening)। क्योंकि पहली केवल शारीरिक विस्तार का आभास प्रदान करती है जब कि दूसरी अपने सत्य के अनुसार इसे प्रदान करती हुई निस्सन्देह मात्र उपयोगिता और अपने रूपों[1] (Forms) के भावन में कल्पना के व्यापार से भिन्न उद्देश्यों के लिये आत्म-नियोजन का आभास देती है। दूसरी पृथ्वी को उसी बहु-गुण-वैविध्य (तृणों, पुष्पों गुल्मों और वृक्षों तथा यहाँ तक कि जल, पहाड़ियों और घाटियों) से सजाने के अतिरिक्त और किसी वस्तु में निहित नहीं है जिसे प्रकृति केवल भिन्नतः व्यवस्थित रूप में और किन्हीं विशेष विचारों के आदेशानुवर्तन में हमारी दृष्टि के सामने प्रस्तुत करती है। पार्थिव वस्तुओं का सुन्दर विन्यास भी केवल नेत्रों की ही वस्तु है, जैसे चित्रकला—स्पर्शेन्द्रिय ऐसे रूप के किसी भी स्वानुभूति-ग्राह्य प्रतिचित्र (Representation) की संरचना नहीं कर सकती। इसके साथ ही चित्रकला शीर्षक के अन्तर्गत, व्यापक अर्थ में, मैं उन परिच्छेदों, आलंकारिक उपसाधनों और सारे सुन्दर फर्नीचरों के द्वारा (कमरों के प्रसाधन को) जिनका मुख्य कार्य 'दृष्टिगत होना' है और उसी प्रकार वेश-विन्यास (Dressing) को (मुद्रिकाओं, नासदानी आदि को) रखूँगा। क्योंकि विविध प्रकार

---

[1]यह अद्भुत प्रतीत होता है कि भूदृश्य-उद्यानसेवन (Landscape gardening) को इस तथ्य के बावजूद कि वह अपने रूपों को पार्थिव ढंग से प्रस्तुत करता है, एक प्रकार की चित्रकला (Painting) माना जा सके। किन्तु चूँकि वह आकारिक दृष्टि से अपना रूप प्रकृति से ग्रहण करता है (वृक्ष गुल्म वनस्पतियाँ और पुष्प मूलतः कम से कम जंगल और खेतों से ही लिए जाते हैं) अस्तु वह उसी हद तक अभिघटन कला (Plastic art) जैसी कला नहीं है। इसके आगे, जो विन्यास (Arrangement) यह करता है वह वस्तु की किसी संकल्पना (Concept of the object) या उसके लक्ष्य (End) से उपाधिबद्ध न होकर (जैसा कि मूर्तिकला की स्थिति में होता है) भावन-व्यापार-रत कल्पना की निरी स्वच्छन्द क्रिया (Free play) द्वारा उपाधिबद्ध होता है। अस्तु यह उस सहज सौन्दर्यपरक चित्रकला के साथ कुछेक मात्रा में ही सादृश्य रखता है जिसका कोई निश्चित विषय (Theme) नहीं होता (किन्तु जो प्रकाश और छाया के द्वारा परिवेश, स्थल और जल की एक आनन्ददायिनी संरचना प्रस्तुत करती है) आदि से लेकर अन्त तक पाठक को उपर्युक्त को, एक नियम विशेष के, अन्तर्गत ललित कलाओं को सम्बद्ध करने वाले एक ऐसे प्रयास मात्र के रूप में तौलना चाहिए जो प्रस्तुत दृष्टान्त में सौन्दर्यपरक विचारों (Aesthetic ideas) की अभिव्यक्ति होने के लिए अभिप्रेत है (किसी भाषा के साधर्म्यानुसार) और उनके अन्तर्सम्बन्ध का कोई भावात्मक (Positive) एवं सुचिन्तित व्युत्पादन होने के लिए नहीं।

के पुष्पों से मण्डित एक पुष्पवाटिका वैविध्यपूर्ण अलंकारों से सुसज्जित एक कक्ष (स्त्रियों के परिधान को अन्तर्भूत करते हुए) किसी औत्सविक समागम (Festal gathering) के अवसर पर एक ऐसा चित्र (Picture) प्रस्तुत करते हैं, जो शब्द के वास्तविक अर्थ में होने वाले चित्रों (वे जो इतिहास या भौतिक विज्ञान सिखाने के लिए अभिप्रेत नहीं हैं) की भाँति, विचारों के साथ कल्पना के स्वच्छन्द व्यापार में उसका प्रसाधन करने और किसी भी निश्चित उद्देश्य से निरपेक्ष रूप में सौन्दर्य-निर्णय (Aesthetic judgement) को सक्रिय रूप से अभियोजित (Engage) करने के लिए दृष्टि को आकर्षित और प्रभावित करने के अतिरिक्त और किसी भी कार्य से शून्य होता है। भले ही इस सारे अलंकरण में सन्निहित हस्त कौशल (Craft) अपने यान्त्रिक पक्ष में, कितना ही विषमांग (Heterogeneous) क्यों न हो और भले ही कलाकारों का कैसा ही वैविध्य (Variety) तदर्थ क्यों न अपेक्षित हो फिर भी, रुचि-निर्णय (The judgement of taste) जहाँ कि वह एक ऐसा रुचि-निर्णय है जो उस वस्तु पर विहित है जो इस कला में सुन्दर है, मात्र एक ही रूप में निर्धारित किया जाता है, अर्थात् उन रूपों (Forms) पर विहित निर्णय के रूप में (बिना किसी उद्देश्य पर ध्यान दिये) जो अकेले या कल्पना पर पड़ने वाले अपने प्रभावों के अनुसार संयुक्त रूप में (In combination) अपने को नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। कुछ भी हो, रूपात्मक कला को (सादृश्य के द्वारा) वाग्गत-भङ्गिमा (Gesture in speech) के साथ एक सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत लाने को न्याय-संगतता (justification) इस तथ्य में निहित है कि इन आकृतियों के माध्यम से कलाकार की अन्तरात्मा प्रस्तुत (Substance) और उसके विचार-वैशिष्ट्य के लिए एक सशरीर अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती और मानो स्वयं वस्तु को अनुकरणशील भाषा में बोलने के लिए अनुप्राणित कर देती है— (अनुकरणशील भाषा में बोलने के लिये प्रेरित करना)—हमारी स्वप्रभास कल्पना (Fancy) का एक ऐसा सामान्य व्यापार जो निर्जीव जड़ वस्तुओं पर एक उपयुक्त और ऐसी आत्मा का आरोपण करता है जो उन्हें अपने मुखांग या मुँहनाल (Mouthpiece) के रूप में व्यवहृत करता है।

(३) सम्वेदनों (संवेदन जो कि बाह्य उद्दीपन से उत्पन्न होते हैं) के रमणीय व्यापार की कला, (The art of the beautiful play of sensations) जो संवेदनों (Sensations) का एक ऐसा व्यापार है जिसे फिर भी सार्वभौम सम्प्रेषण की अनुमति देनी पड़ती है, को केवल उस इन्द्रिय में होने वाले तनाव (Tension) की विभिन्न मात्राओं के अनुपात से ही सम्बद्ध किया जा सकता है, संवेदन जिससे सम्बन्ध रखता है अर्थात् उसके सुर या स्वर (Tone) से शब्द के

इस व्यापक अर्थ में यह श्रुति और दृष्टि (Hearing and sight) के सम्वेदनों के कृत्रिम व्यापार में परिणामतः संगीत (Music) और वर्ण-कला (Art of colour) में विभाजित की जा सकती है—यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये दो इन्द्रियाँ, संस्कारों की ऐसी ग्रहण क्षमता के बावजूद भी जैसी ग्रहणक्षमता कि संस्कारों के द्वारा बाह्य वस्तुओं की संकल्पनाओं को प्राप्त करने के लिए अपेक्षित होती है, एक ऐसे विशिष्ट सम्बद्ध संवेदन (Peculiar associated sensation) जिसके सम्बन्ध में हम इस बात का सम्यक् निर्धारण नहीं कर सकते कि वह इन्द्रिय (Sense) पर आधारित है या चिन्तन (Reflection) पर और यह कि इस सम्वेदनशक्ति (Sensibility) का यथासमय अभाव भी हो सकता है, हालाँकि इन्द्रिय, दूसरे सम्बन्ध में और उस सम्बन्ध में जो वस्तुओं के संज्ञानार्थ इसके नियोजन (Employment) से सम्बन्ध रखता है, किसी भी प्रकार दोषपूर्ण या न्यून (Deficient) न होकर विशिष्टतया प्रखर (Keen) है। दूसरे शब्दों में हम विश्वस्त रूप से इस बात का प्रतिपादन नहीं कर सकते कि एक वर्ण (Colour) अथवा एक स्वर (Sound) मात्र एक अनुकूलवेदनीय संवेदन (Agreeable sensation) है अथवा वे स्वयं अपने में संवेदनों के एक रमणीय व्यापार हैं और सौन्दर्यपरक रीति से (Aesthetically) प्राक्कलित होने पर अपने रूपगत आनन्द (Delight in their forms) को यथावत् प्रेषित करते हैं। यदि हम प्रकाश-स्पन्दनों की अथवा दूसरी स्थिति में उस वायु के स्पन्दनों की गति (Velocity) पर विचार करें, जो हमारी ओर से उनके बीच के काल-व्यवधान (Time interval) के प्रत्यक्षानुभव में किसी अव्यवहित आकलन की रचना करने की हर एक क्षमता को उसकी सम्पूर्ण सम्भावना में, अतिक्रान्त कर जाती है, तो हम इस बात में विश्वास करने की दिशा में प्रेरित होंगे कि यह हमारे शरीर के लचीले अंगों (Elastic parts) के ऊपर उन स्पन्दित-गतिविधियों (Vibrating movements) का 'प्रभाव' (Effect) मात्र है जो इन्द्रिय-बोध (Sense) के लिए परिस्फुट हो सकती हैं किन्तु उनके बीच का काल-व्यवधान हमारे आकलन में न तो अवगत होता है और न अन्तर्विष्ट और यह कि परिणामतः जो कुछ भी वर्णों (Colours) और स्वरों (Tones) के साथ संयोजित होता है वह उनकी संरचना (Composition) की अनुकूलवेदनीयता है-न कि सौन्दर्य। किन्तु दूसरी ओर, आइए हम प्रथमतः संगीत में उन स्पन्दनों के अनुपात और उस पर विहित निर्णय दोनों के गणितीय वैशिष्ट्य (Mathematic character) पर विचार करें और जैसा कि युक्तिसंगत है, परवर्ती के सादृश्य के आधार पर वर्ण-वैषम्यों (Colour contrasts) का एक आकलन निश्चित करें। द्वितीयतः, आइए हम उन व्यक्तियों के उन उदाहरणों से जो यद्यपि अत्यल्प हैं, परामर्श लें जो म दृष्टि रखते हुए भी वर्णों का और तीक्ष्णतम श्रुति सम्पन्न होते हुए भी

स्वरों का विभेद करने में असफल रह गये हैं जबकि उन व्यक्तियों के लिये जो इस क्षमता (Ability) से सम्पन्न हैं, वर्णों अथवा स्वरों के क्रम में विभिन्न सघनताओं (Intensities) की स्थिति में एक परिवर्तित गुण का (केवल सम्वेदन की मात्रा का ही नहीं) प्रत्यक्ष बोध (Perception) अनिश्चित होता है, जैसा कि उनकी संख्या का भी होता है जो बुद्धिग्राह्य रूप से विभेदित हो सकते हैं। इन सब को दिमाग में रखते हुए हम दोनों के द्वारा प्रदत्त सम्वेदनों (Sensations) को निरे इन्द्रिय-संस्कारों (Mere sense-Impressions) के रूप में नहीं बल्कि अनेकानेक सम्वेदन-व्यापारगत रूप (Form) के आकलन के प्रभाव के रूप में देखने के लिए बाध्य हैं। संगीत के आधार के आकलन में जो अन्तर एक या दूसरा मत (Opinion) उत्पन्न करता है वह इसकी परिभाषा में मात्र इतने परिवर्तन को जन्म देगा कि या तो जैसा कि हमने किया है, सम्वेदनों के 'सुन्दर' व्यापार के रूप मे इसकी व्याख्या होनी चाहिए (श्रुति के माध्यम से) या फिर अनुकूलवेदनीय सम्वेदनों में से एक सम्वेदन के रूप में। पूर्ववर्ती व्याख्या (Interpretation) के अनुसार एकमात्र संगीत ही 'ललित-कला' के रूप में प्रतिरूपित होगा जबकि परवर्ती के अनुसार यह (कम से कम अंशतः) एक अनुकूलवेदनीय कला (Agreeable art) के रूप में प्रतिरूपित होगा।

एक ही कृति में ललित-कलाओं का संयोजन

किसी नाटक में वाग्मिता या वागलंकार को उसके व्यक्तियो और उसी प्रकार तत्सम्बन्धी वस्तुओं की चित्रमयी प्रस्तुति के साथ संयोजित किया जा सकता है; जिस प्रकार काव्य को 'गान' गत संगीत के साथ और उसे पुनः गीतिनाट्यगत चित्रमयी (रगमंचीय) प्रस्तुति के साथ संयोजित किया जा सकता है और उसी प्रकार किसी संगीतकृतिगत संवेदनों के व्यापार को किसी 'नृत्यगत आकृतियों के व्यापार के साथ सयोजित किया जा सकता है आदि। यहाँ तक कि उदात्त के उपस्थापन को भी जहाँ तक कि वह ललित-कला से सम्बन्ध रखता है, पद्यमयी त्रासदी, उपदेशात्मक कविता अथवा किसी तालबद्ध संकीर्तन के सौन्दर्य की संगति में लाया जा सकता है और इस संयोजन में ललित-कला और भी अधिक कलात्मक होती है। क्या यह और अधिक सुन्दर भी होती है (उस विभिन्न प्रकार के आनन्द की विविधता को ध्यान में रखते हुए जो एक दूसरे को सम्पादित करते हैं) इनमें से कुछ उदाहरणों या दृष्टान्तों में इस तथ्य पर सन्देह किया जा सकता है। फिर भी सारी ललित-कला अनिवार्य तत्त्व (Essential elements) उस रूप (Form) में निहित होती है जो निरीक्षण (Observation) और आकलन के लिये चरम या सोद्देश्य(Final) होता है। यहाँ आनन्द साथ ही साथ संस्कृति (Culture) है और ——— (Soul) को

उन विचारों (Ideas) की ओर प्रवृत्त करता है जो उसे ऐसे आनन्द और मनोरंजन को और भी अधिक प्रचुरता में ग्रहण करने में सक्षम बनाते हैं। सम्वेदन-वस्तु (चमत्कार और भावसंवेग) अनिवार्य नहीं है। यहाँ लक्ष्य मात्र उपभोग (Enjoyment) है जो अपने पीछे विचारतत्त्व (Idea) में कोई वस्तु छोड़ नहीं जाता और अन्तरात्मा को मूढ़ या उदास (Dull), वस्तु (Object) को कालान्तर मे अरुचिकर और मन को स्वयं अपने से असन्तुष्ट और चिड़चिड़ा बना देता है, ऐसा एक चेतना विशेष के कारण होता है कि तर्कबुद्धि के निर्णय में उसकी अवस्था विपरीत हो जाती है।

जहाँ ललित-कलाएँ या तो निकटस्थ या विप्रकृष्ट रूप से उन नैतिक प्रत्ययों के साथ संयुक्त नहीं की जातीं, एकमात्र जो ही आत्म-निर्भर आनन्द से अनुगत होते हैं वहाँ वह नियति (Fate) अन्ततः जो उनकी प्रतीक्षा करती है, उपर्युक्त ही होती है। तब वे केवल उस वस्तु के परिहार का ही काम करती हैं जिसकी व्यक्ति उस अनुपात मे सतत आवश्यकता अनुभव करता है जिस अनुपात में कि उसने इससे अपने मन के असन्तोष को दूर करने के साधन के रूप में लाभ उठाया है। प्रथमाभिहित उद्देश्य के अभिप्राय से प्रकृति के सौन्दर्य सामान्यतः अत्यन्त लाभप्रद हैं बशर्ते कोई व्यक्ति अल्पवयस् में ही उनका निरीक्षण आकलन और सराहना करने का अभ्यस्त हो जाय।

ललित कलाओं के सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य का तुलनात्मक आकलन

'काव्य' (जो अपने उद्भव के लिए प्रायः पूर्ण रूप से प्रतिभा का ऋणी है और जो सूत्रवाक्यों या उदाहरणों द्वारा सबसे कम प्रेरित होना चाहता है) समस्त कलाओं में प्रथम स्थान रखता है। कल्पना को स्वच्छन्दता प्रदान करके और किसी ऐसी निर्दिष्ट संकल्पना, जिसकी सीमाओं तक यह सीमित होता है, के साथ संगत सम्भव रूपों (Possible forms) के असीम नानात्व में से उस रूप को प्रदान करके जो संकल्पना की प्रस्तुति के साथ एक ऐसे विचार वैभव को संयुक्त करता है जिसके लिए कोई भी शाब्दिक अभिव्यक्ति पूर्णतया उपयुक्त नहीं है और इस प्रकार सौन्दर्य-परक रीति से प्रत्ययों के प्रति उद्बोधित करके यह मन का विस्तार करता है। यह मन की, प्रकृति को उन पक्षों के प्रकाश में जिन्हें प्रकृति इन्द्रिय या बुद्धि के लिए अनुभवान्तर्गत नहीं प्रदान करती, प्रपंच (Phenomenon) मानने और तद्वत् आकलित करने वाली मनःशक्ति (Faculty) का—जो स्वच्छन्द स्वतः प्रेरित और प्रकृति-निर्धारण-निरपेक्ष है—अनुभव करने और तदनुसार उसे अतीन्द्रिय की ओर से और तदर्थ इस प्रकार की आयोजना के रूप में प्रयुक्त करने की छूट देकर अनुप्राणित करता है यह उस सादृश्य (Semblance) के साथ विलास करता है जिसे यह

प्रवचना के साधन के रूप में नहीं बल्कि स्वेच्छया उत्पादित कर लेता है क्योंकि इसका स्वीकृत व्यापार मात्र विलास करने का है जिससे कुछ भी हो, बुद्धि लाभ उठा सकती और जिसका वह अपने प्रयोजन के लिए व्यवहार कर सकती है। वाग्मिता जहाँ तक कि वह प्रतीतीकरण (Persuation) की कला के अर्थ में गृहीत होती अर्थात् मात्र भाषण की उत्कृष्टता (वाग्विदग्धता और शैली) के अर्थ में गृहीत न होकर रमणीय सादृश्य द्वारा भ्रान्त या प्रतारित करने के अर्थ में गृहीत होती है, द्वन्द्वतर्क (Dialectic) है जो काव्य से उतना ही उधार लेती है जितना कि वक्ता के पक्ष में व्यक्तियों द्वारा विषय के तौले जाने के पहले उनके मन पर विजय प्राप्त करने और उनके न्याय को उसकी स्वतन्त्रता से तत्काल छीन लेने के लिए आवश्यक है। अस्तु इसे न तो न्यायालय के लिए स्वीकृत किया जा सकता है और न व्यासपीठ (Pulpit) के लिए क्योंकि जहाँ नागरिक कानून व्यक्तियों का अधिकार अथवा किसी सही ज्ञान की दिशा में व्यक्तियों का स्थायी शिक्षण और उनके मन के निर्धारण तथा उनके अपने कर्तव्य का शुद्धमति-पालन संकटापन्न या खतरे में होता है वहाँ विदग्धता (Wit) और कल्पना (Imagination) की और इससे भी अधिक अपने आसपास के लोगों के साथ उन्हें किसी एक के पक्ष में फोड़ने के लिये वार्तालाप की कला की उर्वरता का एक लक्षण भी प्रकट करना उस क्षण के कार्यभार-ग्रहण की प्रतिष्ठा के विरुद्ध होता है। क्योंकि यद्यपि इस प्रकार की कला कभी-कभी ऐसे उद्देश्यों के प्रति निदेशित होने में समर्थ होती है जो स्वभावतः वैध एवं श्लाघ्य होते हैं फिर भी वह इस प्रकार आचार-नियमों (Maxims) और मनोभावों (Sentiments) को, यहाँ तक कि वहाँ भी जहाँ वस्तुपरक दृष्टि से कार्य वैध हो सकता हो, पहुँचाए जाने वाले व्यक्तिपरक आघात के कारण निन्द्य बन जाती है। क्योंकि जो कुछ न्यायोचित (Right) है उसे करना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि हमें प्रमुखतः उसका उसके न्यायोचित (Right) होने के आधार पर आचरण करना चाहिए। अतः परं अपने सजीव उदाहरणों से समर्थित इस प्रकार के मानव-सम्बन्धों की सरल विशद संकल्पना (Concept) वाणी के स्वरमाधुर्य अथवा तर्कबुद्धि प्रत्ययों की अभिव्यक्ति में औचित्य के विरुद्ध किसी भी अपराध की अनुपस्थिति में (वह सारी वस्तु जो एकीभूत होकर वाणी की उत्कृष्टता का निर्माण करती है) प्रतीतीकरण (Persuation) की उस मशीनरी का आश्रय लेने की आवश्यकता को निवृत्त करने के लिए स्वतः मानव मन पर काफी प्रभाव डालती है जो दोष और भ्रान्ति को किसी ललित वाच्यान्तर या चोंचे से ढकने के लिए समान रूप से सुलभ होने के कारण व्यक्ति को उस अन्तर्निगूढ़ संशय से पूर्णतया मुक्त करने में असफल रहता है जिससे व्यक्ति छलपूर्ण ढंग से व्यामोहित या प्रवंचित हो रहा होता है काव्य में हर एक चीज़ ऋजु एवं स्पष्ट

निश्छल होती है। वह अपना हाथ दिखाता है। वह कल्पना के साथ एक निरे मनोरंजनकारी विलास और एक ऐसे विलास को, जो रूप के सम्बन्ध में बुद्धि के नियमों के साथ संगत होता है बनाए रखना चाहता है। वह ऐन्द्रिक उपस्थापन[१] से बुद्धि को ग्रस्त और पाशबद्ध करने का प्रयत्न नहीं करता।

काव्य के बाद 'यदि हम चमत्कार और मानसिक उद्दीपन (Charm and mental stimulation) पर विचार करें तो मैं दूसरा स्थान उस कला को दूँगा जो किसी भी अन्य वाक्कला की अपेक्षा इसके अधिक निकट आती है और इसके साथ नितान्त नैसर्गिक एकता को स्थान प्रदान करती है वह है 'स्वर' कला (The art of 'Tone')। क्योंकि यद्यपि यह निरे सम्वेदनों द्वारा अपने को व्यक्त करती है और अतएव काव्य की भाँति अपने पीछे संविमर्श या विचारणा के लिए कोई खाद्य नहीं छोड़ जाती फिर भी यह मन को अपेक्षाकृत अत्यधिक नानात्मक रूप से आन्दोलित करती है और यद्यपि वह ऐसा क्षणिक अचिरस्थायी किन्तु फिर भी अत्यधिक घनीभूत प्रभाव के साथ करती है। कुछ भी हो इसके द्वारा आकस्मिक

१—मुझे उस विशुद्ध आनन्द को अवश्य स्वीकार करना चाहिए जो मुझे एक सुन्दर कविता द्वारा सदा प्रदान किया गया है; जबकि एक आधुनिक संसदीय वादी (Parliomentary debator) अथवा प्रवक्ता (Freacher) रोमन फारेंजिक के उत्कृष्टतम भाषण का अध्ययन एक ऐसी मायावी कला (Insidions art) की तिरस्कार भावना के साथ अभेद्य रूप से सम्पृक्त हो गया है जो यह जानती है कि किस प्रकार महत्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में मनुष्यों को एक ऐसे निर्णय के प्रति प्रेरित किया जाय, जो ठंडे दिल से विचार करने पर उनके लिए अपना सारा गुरुत्व खो बैठता है। भाषण की शक्ति और लालित्य (जो एकीभूत होकर वाग्मिता का संघटन करते हैं) ललित कला से सम्बन्ध रखते हैं; किन्तु वक्तृत्व कला (Oratory) अपने निजी प्रयोजन (भले ही यह प्रयोजन अपने उद्देश्य अथवा यथार्थता में सदैव अत्यन्त शुभ क्यों न हो) की सिद्धि के लिए मनुष्यों की दुर्बलताओं से लाभ उठाने की कला होने के कारण किसी भी प्रकार के सम्मान के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त एथेन्स और रोम दोनों में यह केवल उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची जिस समय राज्य पतन की ओर द्रुतगति से बढ़ रहा था और सच्ची देशभक्ति का भाव भूतकाल की चीज बन चुका था। जो समस्या को स्पष्टतया समझता है और जो भाषा पर उसके वैभव और विशुद्धता में अधिकार रखता है और जो एक ऐसी कल्पना से सम्पन्न है जो उसके विचारों के उपस्थापन में उर्वर और प्रभावशालिनी है और तिस पर भी जिसका हृदय उस वस्तु के प्रति जीवित स्वानुभूति से उमड़ उठता है जो वस्तुतः शिव या श्रेयस् (Good) है वह (Vir Bonus dicendi peritus) कला विहीन किन्तु महान् वाला प्रवक्ता होता है सिसरो उसे प्राप्त कर लेता यद्यपि वह स्वयं सदैव इस आदर्श के प्रति निष्ठावान् न रहा होता

रूप से उद्दीप्त विचार-व्यापार के न्यूनाधिक निरे यान्त्रिक साहचर्य का परिणाम होने के कारण यह निश्चय ही संस्कृति से अधिक उपभोग (Enjoyment) की वस्तु है और तर्कबुद्धि की दृष्टि से यह ललित-कलाओं में से हर एक से कम मूल्य रखती है। अस्तु सारे उपभोग की भाँति यह नित्य-परिवर्तन (Constant change) की माँग करती है और बिना परिक्लान्ति उत्पन्न किए बार-बार की आवृत्ति को नहीं सहन कर सकती। इसका चमत्कार (Charm) जो ऐसे सार्वभौम सम्प्रेषण को स्थान देता है, निम्नलिखित तथ्यों पर आश्रित प्रतीत होता है। भाषागत प्रत्येक अभिव्यक्ति अपने आशय के अनुरूप एक सम्बद्ध-स्वर से युक्त होती है। यह स्वर न्यूनाधिक एक ऐसी रीति को निर्दिष्ट करता है जिस रीति से कि वक्ता (Speaker) प्रभावित होता है और बदले में उस श्रोता के अन्दर भी इसे उद्बुद्ध करता है जिसके भीतर यह सांवादिक रूप से तब भी उस विचार को उद्दीप्त करता है जो भाषा में ऐसे स्वर के साथ अभिव्यक्त है। इसके आगे जिस प्रकार मूर्च्छना या स्वर-सामञ्जस्य प्रत्येक जन-बुद्धिग्राह्य सम्वेदनों की एक सार्वभौम भाषा है उसी प्रकार स्वर-कला (The art of tone) पूर्णतया स्वतः मनोविकारों की भाषा रूपी इस भाषा की पूर्ण शक्ति को आत्मसात् करती है और इस प्रकार साहचर्य के नियमानुसार उन सौन्दर्यपरक विचारों (Aesthetic ideas) को सार्वभौमतः सम्प्रेषित करती है जो निसर्गतः उसके साथ संयुक्त होते हैं। किन्तु इसके आगे जहाँ तक कि वे सौन्दर्य प्रत्यय (Aesthetic ideas) संकल्पना (Concepts) या सुनिर्दिष्ट विचार नहीं हैं वहाँ तक इन सम्वेदनाओं के विन्यास का रूप (तालमेल और स्वरानुक्रम) एक भाषा के स्वरूप का स्थान ग्रहण करते हुए मात्र उस अनिर्वचनीय विचार-वैभव के अखण्ड सम्पूर्ण के सौन्दर्यपरक विचार (Aesthetic idea) को अभिव्यक्ति देने का प्रयोजन सिद्ध करता है जो संगीत कृति (Piece) में प्रधान मनोविकार (Affection) का निर्माण करने वाली एक विशेष वस्तु (Theme) के प्रतिमान (Measure) को परिपूर्ण करता है। यह प्रयोजन संवेदनों के सामञ्जस्य में एक अनुपात (Proportion) द्वारा सम्पन्न होता है (एक ऐसा सामञ्जस्य जो गणितीय रूप से किन्हीं विशेष नियमों के अन्तर्गत लाया जा सकता है क्योंकि स्वरों की स्थिति में यह उस हद तक उसी समय में आकाश के स्पन्दनों के सांख्यिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है जिस हद तक कि उसके साथ ही साथ अथवा अनुक्रम में स्वरों का एक संयोजन होता है)। यद्यपि यह गणितीय रूप निश्चित संकल्पनाओं के द्वारा प्रतिरूपित नहीं किया जाता किन्तु वह• आनन्द (Delight) एकमात्र इसी से सम्बन्ध रखता है जिसे अनेक संक्रामी (Concomitant) अथवा आनुपूर्व अविरत संवेदनों पर विहित निरा संविमर्श अपने सौन्दर्य के सार्वभौमतः मान्य उपाधि के रूप में उनके व्यापार के साथ सम्युग्मित कर देता है और यह एकमात्र इसी के सन्दर्भ में होता है कि रुचि

प्रत्येक व्यक्ति के निर्णय की पूर्वाशा या प्रत्याशा करने के एक अधिकार का दावा कर सकती है।

किन्तु गणित, निश्चय ही, संगीत (Music) द्वारा उत्पादित मन के चमत्कार और गतिविधि में ज़रा भी काम नहीं करता। अपेक्षाकृत वह प्रभावों को संयोजित और उसी प्रकार परिवर्तित करने के उस अनुपात की अनिवार्य उपाधि (Conditio Sine Quanon) मात्र है जो उन सब को एक में ग्रहण करने और उन्हें एक दूसरे को नष्ट करने से रोकने में अपेक्षाकृत उन्हें उन मनोविकारों के द्वारा मन की सतत गतिविधि और स्फुरण की सृष्टि की दिशा में जो उसके सामञ्जस्य में है और इस प्रकार एक प्रशान्त-गम्भीर आत्म-उपभोग (Self Enjoyment) की दिशा में योजना बनाने (Conspire) देने के कार्य को सम्भव बनाता है।

दूसरी ओर यदि हम ललित-कलाओं के मूल्य को उस संस्कृति द्वारा आकलित करें जिसे वे मन को प्रदान करती हैं और अपने मानदण्ड के लिए उन मनःशक्तियों के प्रसार को ग्रहण करें, निर्णय में जिनका संगम संज्ञानार्थ अत्यावश्यक है तो संगीतकला, चूँकि वह मात्र संवेदनों के साथ खेलती है, ललित-कलाओं में निम्नतम स्थान रखती है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह उन (कलाओं) में सर्वोच्च स्थान रखती है जिनका महत्व साथ ही, उनकी अनुकूलवेदनीयता (Agreeableness) के कारण समझा जाता है। इस प्रकाश में देखे जाने पर वह रूपात्मक कलाओं से कहीं अधिक उत्कृष्ट ठहरती है। क्योंकि कल्पना को एक ऐसे व्यापार में नियोजित करने में जो साथ ही स्वच्छन्द और बुद्धि के अनुकूल है, वे बराबर एक गम्भीर कार्य का पालन कर रही होती हैं क्योंकि वे एक ऐसी कृति का निष्पादन करती हैं जो एक ऐसी संवेदनशक्ति (Sensibility) के साथ उनकी (बुद्धि की संकल्पनाओं की) एकता को निष्पन्न या कार्यान्वित करने और इस प्रकार संज्ञान की उच्चतर शक्तियों की शिष्टता (Urbanity) को अभिवर्द्धित (Promote) करने के कारण, बुद्धि की संकल्पनाओं के एक ऐसे वाहन का काम करती है जो शाश्वत और स्वतः अपने कारण मन को प्रलुब्ध या आकर्षित करने वाला है। दोनों प्रकार की कलाएँ पूर्णतया भिन्न प्रक्रियाओं (Courses) का अनुसरण करती हैं। संगीत-कला संवेदनों (Sensations) से अनिश्चित अनिर्दिष्ट विचारों की ओर बढ़ती है, रूपात्मक कलाएँ निश्चित विचारों (Definite ideas) से संवेदनों की ओर। परवर्ती चिरस्थायी प्रभाव उत्पादन करती है, पूर्ववर्ती एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती है जो मात्र 'क्षणिक' होता है। पूर्ववर्ती संवेदनों का कल्पना प्रत्याह्वान कर सकती और उनसे अनुकूलवेदनीय रूप से अपना रंजन कर सकती है जबकि परवर्ती या तो पूर्णतया अन्तर्हित हो जाते हैं या फिर यदि वे कल्पना द्वारा अनैच्छिक रूप से दुहराये जायँ तो व हमारे लिए (Agreeable) से

अधिक (Annoying) संतापक होते हैं। इस सब के अतिरिक्त संगीत अपने चतुर्दिक् शिष्टता (Urbanity) के एक विशेष अभाव से ग्रस्त होता है। क्योंकि अपने वाद्यों के विशिष्ट स्वरूप (Character) के कारण वह अपना प्रभाव बाहर एक अननुगत दूरी तक (प्रतिवेशित्व के माध्यम से) बिखेरता है और इस प्रकार बलात् ध्यानाकर्षणशील बन जाता और संगीत क्षेत्र के (Music circle) के बाहर के दूसरे व्यक्तियों को उनके स्वातन्त्र्य से वंचित कर देता है। यह एक ऐसा कार्य है जिसे वे कलाएँ नहीं करतीं जो अपने को नेत्रों के सामने प्रस्तावित या प्रस्तुत करती हैं क्योंकि यदि कोई उनके प्रभावों को प्रवेशानुमति देने के लिए उद्यत नहीं है तो उसे केवल दूसरी ओर देखना या दूसरा रास्ता पकड़ना होता है। यह स्थिति प्रायः ऐसे सुगन्ध से अपने को आमोदित करने के अभ्यास के समान है जो दूर-दूर तक अपना सौरभ छोड़ता है। वह व्यक्ति जो अपनी जेब से अपनी सुगन्धित रूमाल बाहर निकालता है वह अपने चतुर्दिक् के लोगों को एक तुष्टिकर वस्तु या भोज (Treat) प्रदान करता है चाहे वे उसे पसन्द करते हों या न और यदि वे उसे सूँघना ही चाहते हैं, तो वह उन्हें इस उपभोग (Enjoyment) में सम्मिलित होने के लिए बाध्य करता है और इस प्रकार यह अभ्यास फैशन[१] से निकल चुका है।

रूपात्मक-कलाओं (Formative arts) में मैं चित्रकला (Painting) को सर्वश्रेष्ठता प्रदान करूँगा, अंशतः इसलिए क्योंकि यह अभिकल्प-कला (Art of design) है और इस रूप में, यह अन्य समस्त रूपात्मक कलाओं का आधार-कर्म है ; अंशतः इसलिए क्योंकि यह विचारों के क्षेत्र में अपेक्षाकृत बहुत दूर तक पैठ सकती और उनके अनुसार स्वानुभूति-क्षेत्र को, दूसरों के लिए जितना सुलभ है अपेक्षा-'कृत उससे अधिक विस्तार प्रदान कर सकती है।

अभ्युक्ति (Remark)

जैसा कि हमने प्रायः प्रदर्शित किया है जो वस्तु मात्र अपने विहित आकलन में ही आह्लादित करती है उसके और जो वस्तु तृप्त करती (संवेदन में आह्लादित करती है) उसके बीच एक अनिवार्य भेद है। परवर्ती कुछ ऐसी वस्तु है जिसकी हम पूर्ववर्ती से विपरीत रूप में, प्रत्येक व्यक्ति से माँग कर सकते हैं। तृप्ति (भले ही उसके कारण का मूल विचारों में ही क्यों न निहित

---

१ जिन लोगों ने कुटुम्ब प्रार्थनाओं के समय देव स्तुतियों को गाने की स्वीकृति दे दी है उन्होंने सन्ताप की उस मात्रा को भुला दिया है जो वे ऐसी कोलाहलपूर्ण (और सिद्धान्ततः तन्निमित्त पारसी) आराधना द्वारा सामान्य जनता को देते हैं क्योंकि वे अपने प्रतिवासियों को या तो गान में सम्मिलित होने के लिए बाध्य करते हैं या फिर अपने ध्यान का परित्याग कर देने के लिए

हो) सदैव मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के उत्कर्षण की ओर अतएव उसके शारीरिक मंगल अर्थात् स्वास्थ्य की भावना में निहित प्रतीत होती है। और इसीलिए एपीकुरस उस समय तथ्य से परे नहीं था जिस समय उसने कहा था कि मूल में सारी तृप्ति शारीरिक संवेदन (Bodily sensation) है और केवल बौद्धिक और यहाँ तक कि व्यावहारिक आनन्द को भी तृप्ति के शीर्षक के अन्तर्गत रखने में हो उसने अपने को गलत समझा। परवर्ती भेद को ध्यान में रखते हुए यह तत्काल व्याख्येय है कि किस प्रकार वह तृप्ति भी जिसे कोई व्यक्ति अनुभव करता है, उसे विरक्त करने में समर्थ है (जैसे किसी निःस्व निर्धन किन्तु सुस्वभाव व्यक्ति के किसी स्नेही किन्तु दरिद्र पिता का उत्तराधिकारी बनाए जाने पर उसका उल्लास) अथवा किस प्रकार गहरी पीड़ा भोक्ता को फिर भी आनन्द दे सकती है (जिस प्रकार अपने योग्य पति की मृत्यु पर किसी विधवा का शोक) अथवा किस प्रकार तृप्ति के अतिरिक्त भी आनन्द हो सकता है (जैसे वैज्ञानिक अन्वेषण में) अथवा किस प्रकार कोई पीड़ा (उदाहरणार्थ जैसे घृणा ईर्ष्या और प्रतिशोधेच्छा) साथ ही साथ सुख का भी कारण हो सकती है। यहाँ आनन्द अथवा विरक्ति तर्कबुद्धि पर निर्भर करती है और वह अनुमोदन (Approbation) अथवा तिरस्कार के समान है। दूसरी ओर तृप्ति और पीड़ा केवल वेदना (Feeling) या सम्भाव्य मंगल की सम्भावना अथवा उसके विपरीत पर (मूल कारण निरपेक्ष) ही निर्भर कर सकती हैं।

संवेदनों का (जो किसी पूर्वकल्पित योजना का अनुसरण नहीं करते) परिवर्तनशील स्वच्छन्द व्यापार सदैव तृप्ति का मूल कारण होता है क्योंकि वह स्वास्थ्य वेदना (Feeling of health) को अभिवर्द्धित करता है और यह बात नगण्य है कि तर्कबुद्धि के प्रकाश में प्राक्कलित होने पर हम इस व्यापार की वस्तु (Object) अथवा यहाँ तक कि स्वयं तृप्ति में आनन्द अनुभव करते हैं या नहीं। यह तृप्ति एक मनोविकार (Affection) के बराबर भी हो सकती है हालाँकि हम स्वयं वस्तु में कोई भी अभिरुचि नहीं लेते अथवा कम से कम कोई ऐसी अभिरुचि नहीं लेते जो मनोविकार की मात्रा के समान हो। उपर्युक्त व्यापार को हम आकस्मिक घटना (Gluckspiel) सामञ्जस्य (Tonspiel) और विदग्धता (Gedankenspiel) में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम को कामना या प्रयोजन (Interest) की आवश्यकता होती है चाहे वह मिथ्याहंकार का हो या स्वार्थपरता का किन्तु एक ऐसा प्रयोजन जो उपलब्धि या उपार्जन की गृहीत-पद्धति में केन्द्रीभूत प्रयोजन से घटकर होता है। वह सब कुछ जिसकी द्वितीय को आवश्यकता होती है उन संवेदनों का परिवर्तन है जिनमें से वह प्रत्येक मनोविकार पर अपना प्रभाव रखता है यद्यपि बिना किसी मनोविकार की कोटि तक पहुँचे हुए और सौन्दर्यपरक विचारों को उत्तेजित करता है। तृतीय उस निर्णय में होने वाले प्रति-

रूपों (Representations) के परिवर्तन से उत्पन्न होती है जो किसी कामना या प्रयोजन को वहन करने वाले किसी भी विचार का अनुत्पादी रहते हुए भी मन को अनुप्राणित किए रहता है।

हमारे द्वारा प्रयोजन की किसी विचारणा का आश्रय लिए बिना ही विलास (Play) द्वारा तृप्ति की कौन सी राशि प्रदान की जानी चाहिए यह एक ऐसा तथ्य है जिसके प्रति हमारी सारी सान्ध्य-गोष्ठियाँ साक्षी हैं क्योंकि बिना विलास या मनोरंजन के वे प्रभावहीन होने से शायद ही बच सकती हैं। किन्तु यहाँ विलास में आशा, भय, उल्लास, क्रोध और उपहास के मनोविकार विनियुक्त होते हैं क्योंकि वे प्रतिक्षण अपने अवयवों को बदलते रहते हैं और इतने प्राणवान् होते हैं कि जैसे मानो एक आन्तरिक चेष्टा से शरीर का सम्पूर्ण जीवन-व्यापार उस प्रक्रिया में प्रवर्द्धित हो उठा प्रतीत होता है—जैसा कि मन की एक ऐसी उत्फुल्लता से सिद्ध होता है जो किसी वस्तु से उत्पन्न होती है, हालाँकि कोई भी वस्तु लाभ या शिक्षण की प्रक्रिया में नहीं आती। किन्तु चूँकि संयोग-विलास (The play of chance) एक ऐसा विलास नहीं है जो सुन्दर हो अस्तु हम उसे टाल देंगे। इसके विपरीत संगीत और वह वस्तु जो हास्य को जन्म देती है सौन्दर्यपरक प्रत्ययों (Aesthetic ideas) अथवा यहाँ तक कि बुद्धि के प्रतिरूपणों के ऐसे दो प्रकार के विलास हैं जिनके द्वारा कही और की जाने वाली कोई भी चीज़ सोची नहीं जाती। मात्र परिवर्तन की शक्ति द्वारा वे भी स्फूर्तिमयी तृप्ति प्रदान करने में समर्थ हैं। यह इस बात का नितान्त स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि इसके मानस-विचारों द्वारा उद्दीप्त होने के बावजूद भी दोनों का स्फूर्तिकर प्रभाव शारीरिक होता है और उस विलास (Play) के सम्वादी अन्त्रों की गतिविधि से उत्पन्न होने वाली स्वास्थ्य-वेदना (Feeling of health) अन्तरात्मा और जीवन-स्फूर्त वस्तु के उस जमाव से उस सारी तृप्ति की पूर्ति करती है जिसका हमारे पास आकर है। स्वरगत सामञ्जस्य का कोई आकलन या उस विदग्धता के कोई स्फुरण नहीं, जो अपने सौन्दर्य के साथ आवश्यक वाहन का कार्य करता है, बल्कि अपेक्षाकृत शरीर की उद्दीप्त जीवनमयी क्रियाएँ आतों और मध्यच्छदा को उत्तेजित करने वाला मनोविकार और एक शब्द में स्वास्थ्य-वेदना (जिसके सम्बन्ध में हम केवल इस प्रकार के किसी प्रणोदन (Provocation) पर ही संवेदनशील हो पाते हैं) ही वे तत्त्व हैं जो उस तृप्ति का सघटन करते हैं जिसे हम अन्तरात्मा के द्वारा शरीर तक पहुँचने में समर्थ होने पर अनुभव करते हैं और पूर्ववर्ती को परवर्ती के चिकित्सक के रूप में व्यवहृत करते हैं।

संगीत में इस विलास (Play) की प्रक्रिया शारीरिक संवेदन से सौन्दर्य-परक प्रत्ययों (aesthetic ideas) के प्रति होती है (जो कि मनोविकारों की

लक्ष्यवस्तु हैं) और उसके बाद इनसे पुनः पीछे की ओर, किन्तु संगठित शक्ति के साथ शरीर की ओर। स्वांग में (जो उतना ही ललितकला के बजाय अनुकूल-वेदनीय कला की कोटि में विन्यस्त किए जाने का पात्र है जितना कि पूर्ववर्ती) विलास-व्यापार (Play) उन विचारों से आरम्भ होता है जो संकलित रूप से, जहाँ तक कि वे ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति को पाने का प्रयास करते हैं, शरीर-व्यापार (activity of the body) को कार्य-विनियुक्त करते हैं। इस उपस्थापन में, प्रत्याशित वस्तु को खोकर, बुद्धि एकाएक अपनी पकड़ ढीली कर देती है जिसका परिणाम यह होता है कि इस श्लथन का प्रभाव अवयवों के आन्दोलन से शरीर में अनुभूत होता है। यह परवर्ती के सन्तुलन के पुनः स्थापन का पोषण करता है और स्वास्थ्य पर उपकारक प्रभाव डालता है।

वह वस्तु जो हार्दिक लोटपोट कर देने वाली हँसी पैदा करने वाली है, चाहे कुछ भी हो, उसमें कोई न कोई बेतुकी असंगत चीज अथवा कोई ऐसी चीज अवश्य है जिसमें बुद्धि स्वतः कोई भी आनन्द नहीं प्राप्त कर सकती) । हास्य किसी तनाव-पूर्ण प्रत्याशा (Strained expectation) के एकाएक किसी नगण्य तुच्छ बात में परिणत हो उठने से उत्पन्न होने वाला एक मनोविकार (affection) है। यह अपचय (reduction) जिसके साथ बुद्धि निश्चय ही आनन्द नहीं ले सकती, फिर भी परोक्ष रूप से क्षण भर के लिए अत्यन्त सजीव उपभोग (Enjoyment) का स्रोत है। परिणामतः इसका कारण अवश्यमेव शरीर पर होने वाले प्रतिरूपण के प्रभाव और उसका मन पर होने वाले प्रतिप्रभाव (reciprocal effect) में निहित होता है। यह बहुधा, वस्तुनिष्ठ रूप से ज्ञान का विषय होने के कारण प्रतिरूपण (representation) पर आश्रित नहीं हो सकता (क्योंकि हम किसी निराशा से किस प्रकार तृप्ति लाभ कर सकते हैं) बल्कि इसे प्रधानतः इस तथ्य पर आश्रित होना चाहिए कि अपचय प्रतिरूपणों का एक निरा विलास-व्यापार (Play) मात्र है और इस रूप में वह शरीर की जीवन-शक्तियों का सन्तुलन उत्पन्न करता है।

कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति निम्नलिखित कहानी कहता है : सूरत में एक भारतीय ने एक अंग्रेज के खाने की मेज पर बियर की एक खुली बोतल देखी जिसकी सारी बीयर या बियर झाग में बदल गई थी और उफन कर बह रही थी। भारतीय के पुनः पुनः दुहराए गये विस्मयोद्गार ने उसके महान विस्मय को प्रकट किया। अंग्रेज ने पूछा "अच्छा यह बताइए कि इसमें ऐसा आश्चर्यजनक बात क्या है ?" भारतीय ने कहा ठीक ! मैं इसके बाहर निकलने पर आश्चर्यचकित नहीं हूँ बल्कि इस बात पर आश्चर्यचकित हूँ कि आप ने इस सब को वस्तुतः किस प्रकार उसके अन्दर प्रविष्ट किया। इस बात पर हम हँसते हैं और यह हमें हार्दिक आनन्द प्रदान करती है इसलिए नहीं कि [illegible] सकते [illegible] भारतीय

से अधिक व्युत्पन्नमति (quick witted) समझते हैं अथवा इसलिए नहीं कि यहाँ हमारी बुद्धि हमारे ध्यान में आनन्द की कोई और आधारभूमि लाती है। ऐसा अपेक्षाकृत इसलिए है कि हमारी प्रत्याशा का उबाल या काल्पनिक योजना अपनी अन्तिम सीमा तक फैली हुई थी और वह एकाएक एक नगण्य वस्तु में परिणत हो गई। या फिर एक धनाढ्य सम्बन्धी के एक ऐसे उत्तराधिकारी की स्थिति को लीजिए जो एक अत्यन्त प्रभावशाली पैमाने पर उसकी अन्त्येष्टिक्रिया के लिये तैयारियाँ करने के लिए कृतनिश्चय है किन्तु जो साथ ही यह शिकायत करता है कि यह उसके लिए उचित नहीं होगा क्योंकि (जैसा कि उसने कहा) 'जितना ही अधिक धन मैं अपने भाड़े के मातमियों को शोकार्त प्रतीत होने के लिए देता हूँ वे उतना ही अधिक प्रसन्न प्रतीत होते हैं। इस बात पर हम भरपूर हँसते हैं और इसका कारण इस तथ्य में निहित है कि हम एक ऐसी प्रत्याशा किये हुए थे जो एकाएक एक नगण्य बात में परिणत हो गई। इस बात का निरूपण करने में हमें सावधान रहना चाहिए कि यह परिणति किसी प्रत्याशित वस्तु की प्रत्यक्ष विपरीतता (Positive Contrary) की दिशा में नहीं होती—क्योंकि वह सदैव कुछ न कुछ होती है और हमें प्रायः दुःख दे सकती है—किन्तु यह परिणति ऐसी होनी चाहिए जो एक नगण्य वस्तु (Nothing) में हो। क्योंकि जहाँ कोई व्यक्ति कोई कहानी कहकर बहुत बड़ी प्रत्याशा जाग्रत करता है और उसकी समाप्ति पर उसका मिथ्यात्व हमारे लिए तत्काल स्पष्ट हो जाता है वहाँ हम उससे असन्तुष्ट या खिन्न हो उठते हैं। अस्तु उदाहरणार्थ यह उन लोगों की कहानी के सम्बन्ध में होता है जिनके केश को शोकातिरेक के कारण एक ही रात में श्वेत हो गया हुआ बताया जाता है। दूसरी ओर यदि कोई विदूषक या मसखरा उक्त कहानी को मात करने की इच्छा से अत्यन्त विवरणात्मकता के साथ एक ऐसे व्यापारी की शोककथा सुनाता है जो अपने वाणिज्यगत सम्पूर्ण वैभव के साथ भारतवर्ष से योरप की प्रतिवर्तन यात्रा में झंझावात के दबाव से अपना सारा धन जहाज से पानी में फेंक देने के लिये विवश हो गया और यहाँ तक शोकार्त हुआ कि उसी रात में उसका सारा उपकेश (कृत्रिम बालों का टोप) भूरा हो गया, हम हँसते हैं और कहानी का आनन्द लेते हैं। यह ऐसा इसलिए है क्योंकि हम कुछ समय तक एक ऐसी वस्तु के सम्बन्ध में अपने ही भ्रम (Mistake) का अनुचित लाभ उठाते रहते है जो अन्यथा हमारे प्रति तटस्थ या उदासीन है या अपेक्षाकृत हम उस विचार (idea) का अनुचित लाभ उठाते रहते हैं जिसका हम स्वयं अनुसरण कर रहे और जिससे इधर-उधर भटक रहे थे जैसे, मानो वह कोई कन्दुक हो जो हमारी पकड़ को छल रहा हो जबकि जो कुछ हमारे करने का इरादा है वह उसे मात्र हस्तगत करना और अपने हाथों में दृढ़ता के साथ पकड़ना है यहाँ हमारी तृप्ति किसी दुरात्मा या

धूर्त या किसी मूर्ख के झिड़की खाने से नहीं उद्दीप्त होती। क्योंकि गम्भीरता की भावभंगी के साथ कही गई परवर्ती कहानी स्वयं अपने बल पर ही स्वतः मेज पर उपस्थित एक पूरी मण्डली को हँसी की गड़गड़ाहट में प्रवृत्त कर देने के लिए पर्याप्त होगी; और दूसरी चीज़ साधारणतः क्षण भर के विचार के भी योग्य नहीं होगी।

यह प्रेक्षणीय है कि इस प्रकार की सभी स्थितियों में परिहास (joke) के अन्दर कोई ऐसी वस्तु अवश्य होती है जो क्षणिक रूप से हमें प्रवंचित कर सकती है। अस्तु जब सादृश्य (Semblance) अवस्तु (Nothing) में विलीन हो जाता है तो मन एक बार और उसकी परीक्षा करने के लिए पीछे मुड़ता है और इस प्रकार एक द्रुतगति से संक्रमण करने वाली तान्ति और विश्रान्ति (Tension and Relaxation) द्वारा यह इतस्ततः झकझोर उठती और अदोलन की स्थिति में विन्यस्त कर दी जाती है। चूँकि जो वस्तु शिञ्जिनी को ताने हुई थी उसका कड़कड़ाकर टूट जाना एकाएक (न कि क्रमिक श्लथन द्वारा) घटित होता है अतः अन्दोलन (Oscillation) अनिवार्यतः एक मानसिक (Mental movement) और शरीर की एक सहानुभूतिशील आन्तरिक चेष्टा उत्पन्न करता है यह अनिच्छुक रूप से जारी रहता और क्लान्ति उत्पन्न करता है किन्तु ऐसा करने में यह क्लान्तिनिर्नोदन (चेष्टा का परिणाम जो स्वास्थ्यकर है) उत्पन्न करता है।

क्योंकि यह कल्पना करते हुए कि हम यह मानते हैं कि शरीरावयवों में होने वाली कोई चेष्टा हमारे सारे विचारों के साथ सम्बद्ध होती है यह तत्काल बुद्धिगम्य हो जाता है कि किस प्रकार मन का अपनी वस्तु के भावन में समर्थ बनाने के लिए कभी एक दृष्टिकोण के प्रति और कभी दूसरे दृष्टिकोण के प्रति स्थानान्तरित करने का उपर्युल्लिखित कार्य, हमारी आँतों के लचीले अवयवों के एक ऐसे सम्वादी और अन्योन्य तनाव और श्लथन को अन्तर्विष्ट कर सकता है जो अपने को उस मध्यच्छदा तक सम्प्रेषित करता है (और उस वस्तु से मिलता-जुलता है जो गुदगुदीप्रवण व्यक्तियों के द्वारा अनुभव की जाती है।) जिसकी प्रक्रिया में फेफड़े द्रुतगति से संक्रमण करने वाली ऐसी अन्तर्बाधाओं के साथ वायु को बाहर निकालते हैं जो एक ऐसी चेष्टा (Movement) में परिणत होता है जो स्वास्थ्यकर है। एकमात्र यही, और यह वस्तु नहीं जो मन में बराबर चलती रहती है, उस विचार (Thought) में होने वाली तृप्ति का समीचीन कारण है जो मूल को किसी भी चीज़ को प्रतिरूपित नहीं करता। वाल्टायर ने कहा था कि जीवन की विपत्तियों को भरने के लिए प्रकृति ने हमें दो वस्तुएँ, दी हैं, 'आशा' और 'निद्रा'। वह इस सूची में 'हास्य' को भी जोड़े होता—यदि केवल बुद्धिमान मनुष्यों के अन्दर इसे उद्दीप्त करने के साधन उसी प्रकार उपलब्ध होते और निदग्धता (wit) या हास्य की मौलिकता जिसकी यह अपेक्षा रखता है, उतने दुर्लभ न होता जितना कि उस

वस्तु को आविष्कृत करने की प्रवणता (Talent) सुलभ है जो उसी प्रकार सर को विदीर्ण कर देती है जिस प्रकार रहस्यवादी चिन्तक (Mystic speculator) करते हैं अथवा जो आप को कुण्ठित कर देती है जैसा कि प्रतिभा करती है, या जो हृदय को मसल डालती है जैसा कि अविभावुक उपन्यासकार करते हैं (चिरकाल और उसी प्रकार के नैतिकतावादी)।

अतएव हम, जैसा कि मैं कल्पित करता हूँ, एपीकुरस को यह तथ्य उपहार रूप मे प्रदान कर सकते हैं कि सारी तृप्ति, यहाँ तक कि उस समय भी जब वह उन संकल्पनाओं द्वारा घटित हो जो सौन्दर्यमूलक विचारों (aesthetic ideas) को जाग्रत करती हैं, इन्द्रिय विषयक (Animal) अथवा शारीरिक सम्वेदन (Bodily Sensation) है। क्योंकि इस स्वीकृति से नैतिक विचारों के प्रति सम्मान की आध्यात्मिक अनुभूति जो तृप्ति (gratification) की कोई अनुभूति न होकर उस आत्म समादर (एक ऐसा समादर जो हमारे भीतर की मानवता का समादर है) की अनुभूति है जो हमें तृप्ति (Gratification) की आवश्यकता से ऊपर उठाता है, लेश मात्र भी क्षतिग्रस्त नहीं होती और न तो यहाँ तक कि उससे कम मूल्यवान रुचि की अनुभूति ही।

नइफेते में हम उपर्युक्त दोनों की एक संयुक्त कलाकृति पाते हैं। नइफेते (Naivete) उस सरलता (Ingenousness) का स्फोट या स्रोत है जो, वेष-परिवर्तन करने की उस कला के विपरीत, मौलिक रूप से मानवता के लिए स्वाभाविक है, जो एक उपप्रकृति (Second Nature) ही बन गई है। हम उस सरलता (Simplicity) पर हँसते हैं जो अब भी कपटाचरण से अपरिचित है किन्तु साथ ही प्रकृति की उस सरलता में आनन्द लेते हैं जो उस कला की अवहेलना करती है। हम कृत्रिम अभिव्यक्ति (Artificial Utterance) की उस प्रचलित पद्धति को पड़ा रहने दें जिसे विचारपूर्ण ढंग से किसी सुन्दर प्रदर्शन के प्रति सम्बोधित किया जाता है और यह लो ! प्रकृति हमारे सामने अकलुषित अनघता (Unsullied innocence) में खड़ी है—प्रकृति जिसका साक्षात्कार करने के लिए हम सर्वथा अप्रस्तुत थे और यह कि जिसने उसे नग्न (Bare) रूप में प्रस्तुत किया था उस व्यक्ति का भी उद्देश्य उसे उद्घाटित करना नहीं था। यह कि बाह्य-आभास (Outward appearane) जो कि रम्य किन्तु मिथ्या है जो हमारे निर्णय में ऐसा महत्व रखता है, यहाँ एक आघात में शून्यता मे परिणत हो जाता है यह कि हमारे अन्दर का प्रतारक (Rogue) नग्न रूप से उद्घाटित हो उठता है मन की चेष्टा (Movement) को दो क्रमिक और विपरीत दिशाओं में प्रकट करता है और साथ ही शरीर को पूरी गति के साथ क्षुब्ध कर देता है किन्तु किसी भी स्वीकृत आचार-संहिता से अनन्त गुना अधिक श्रेष्ठ यह

कुछ अर्थात् मन की शुद्धता, (या कम से कम ऐसी शुद्धता का कोई लेश लक्षण) मानव प्रकृति में सर्वथा बुझ नहीं गई है और वह निर्णय-व्यापार में गम्भीरता और सम्मान का सन्निवेश करती है। किन्तु चूँकि यह केवल वह अभिव्यक्ति (Manifestation) है जो क्षण भर के लिए स्वयं को खोलती या गले मढ़ती है और छलनामयी कला का घूँघट इसके ऊपर पुनः पड़ जाता है अतएव उपर्युक्त अनुभूतियों में करुण के एक संस्पर्श का प्रवेश होता है। यह एक कोमलता का भाव (Emotion of Tenderness) है जो अपने ढंग से विलासपरक (Playful) है, जो इस प्रकार, इस तरह के अनुकूल हास्य के संसर्ग को तत्काल स्वीकार कर लेता है। और वास्तव में यह भाव सिद्धान्ततः इसके साथ सम्बद्ध होता है और साथ ही साथ उस व्यक्ति का प्रत्युपकार करने का आदी होता है जो लोक-व्यवहार मे दक्ष न होने की अपनी उलझन के कारण हमारे आमोद-प्रमोद के लिए इस प्रकार का खाद्य प्रदान करता है। इस कारण, नइफ (Naif) होने की कला एक अन्तर्विरोध (contradiction) है। और किसी औपन्यासिक या काल्पनिक पात्र में नइफेते (Naivete) का प्रतिरूपण प्रदान कर देना नितान्त सम्भव है और चूँकि यह कला अत्यन्त दुर्लभ (Rare) है अस्तु यह एक ललित कला है। इस नइफेते' के साथ हमें इस घरेलू सरलता की अन्तर्भ्रान्ति नहीं करना चाहिए जो भाव कृत्रिमता द्वारा प्रकृति को नष्ट होने से बचाती है क्योंकि उसके पास उत्कृष्ट समाज के रीति-रस्मों की (conventions) की कोई धारणा नहीं होती।

परिहासमय व्यवहार को एक ऐसी वस्तु के रूप में भी क्रमबद्ध किया जा सकता है जो अपने जीवन-स्फूर्तिकारी प्रभाव में हास्य द्वारा जाग्रत तृप्ति (Gratification) के साथ स्पष्टतः सम्बद्ध होती है। यह बुद्धि की मौलिकता (Des geistes) से सम्बन्ध रखता है यद्यपि ललित-कला की नैसर्गिक प्रवणता से नहीं। एक उत्कृष्ट अर्थ में परिहास का अर्थ स्वेच्छानुसार अपने को किसी ऐसी मनःस्थिति (Frame of mimd) विशेष में विन्यस्त करने में समर्थ होने की नैसर्गिक प्रवणता (Talent) है जिसमें प्रत्येक वस्तु उन पद्धतियों पर आकलित की जाती है जो गतानुगतिक लीक से बिलकुल दूर पड़ती हैं (वस्तुओं का एक अपरोत्तर दृष्टिकोण) और फिर भी ऐसी पद्धतियों पर जो किन्हीं विशेष नियमों का अनुसरण करती हैं जो (नियम) ऐसी मानसिक-प्रकृति (Mental temperament) की स्थिति में तर्कबुद्धिपरक होते हैं। वह व्यक्ति जिसके ऐसे भेद (Variations) पसन्द का विषय नहीं होते उसे 'परिहास सम्पन्न' कहा जाता है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति उन्हें ऐच्छिक रूप से और निश्चित प्रयोजनानुसार (किसी परिहासजनक वैषम्य से गृहीत एक सजीव उपस्थापन की ओर से) ग्रहण कर सकता है तो और उसके बोलने के ढंग को परिहासमय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है कुछ भी हो यह व्यवहार

बजाय ललित कला के अन्तर्गत आने के अनुकूलवेदनीय कला के अन्तर्गत आता है क्योंकि परवर्ती विषय को हमेशा अपने में अनिवार्यतः एक स्वतः सिद्ध आन्तरिक मूल्य रखना चाहिए और इस प्रकार वह अपने उपस्थापन में एक विशेष गम्भीरता की अपेक्षा रखता है जैसा कि रुचि इसका आकलन करने में वर्तती है।

द्वितीय भाग

सौन्दर्य-निर्णय का द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectic of Aesthetic judgement)

किसी निर्णय शक्ति (Power of judgement) के द्वन्द्वात्मक-तर्कमय (Dialectical) होने के लिए उसे सर्वप्रथम तर्कबुद्धि-अनुकूली (Rationalizing) होना चाहिए अर्थात् उसके निर्णयों को अनिवार्यतः सार्वभौमता[1] का दावा करना चाहिए और ऐसा उन्हें प्रागानुभविक (Apriori) ढंग से करना चाहिए क्योंकि ऐसे निर्णयों के प्रतिपक्ष (Antithesis) में ही द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectic) निहित होता है। अस्तु इन्द्रियबोध के (अनुकूलवेदनीय और प्रतिकूलवेदनीय पर विहित) सौन्दर्य-निर्णय की असंधेयता (Irreconcilability) में कुछ भी द्वन्द्वात्मक तर्कमय नहीं है। और जहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति मात्र अपनी व्यक्तिगत रुचि के प्रति अनुरोध करता है, वहाँ तक रुचि निर्णयों का अन्तस्संघर्ष भी रुचि के किसी द्वन्द्वात्मक-तर्क (Dialectic) का निर्माण नहीं करता—क्योंकि कोई भी अपने व्यक्तिगत निर्णय को किसी सार्वभौम-नियम में परिणत करने का सुझाव नहीं देता अतः रुचि को प्रभावित करनेवाले द्वन्द्वात्मक-तर्क की जो एकमात्र संकल्पना हमारे पास शेष रह जाती है वह रुचि-मीमांसा के (स्वयं रुचि के नहीं), उसके नियमों के सम्बन्ध में, द्वन्द्वात्मक तर्क की संकल्पना है; क्योंकि सामान्य रूप में रुचि-निर्णयों की सम्भावना की आधारभूमि के प्रश्न पर परस्पर संघर्षरत संकल्पनाएँ (Concepts) स्वभावतः और अनिवार्यतः प्रकट होती हैं। अतएव अनुभवातीत रुचि-मीमांसा केवल एक ऐसे भाग को अन्तर्भूत करेगी जो सौन्दर्य-निर्णय के द्वन्द्वात्मक तर्क की

१—कोई भी निर्णय जो सार्वभौम होने के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है वह तर्कबुद्धि-अनुकूली निर्णय (Indicium ratiocinatum) के नाम से अभिहित किया जाता है; क्योंकि जहाँ तक वह सार्वभौम (Universal) होता है वहाँ तक वह एक हेत्वनुमान (Syllogism) के प्रधान आधार वाक्य (Major premiss) के रूप में कार्य कर सकता है। दूसरी ओर केवल एक ऐसा निर्णय ही जो किसी हेत्वनुमान का सारांश और अतएव प्रागनुभव आधारभूमि से युक्त समझा जाता है, तर्कबुद्धिपरक (Rat'onal) कहला सकता है

संज्ञा को धारण करने में समर्थ हो बशर्ते हम इस मनःशक्ति (Faculty) के जो कि इसकी नियमानुसारिता पर और अतएव इसकी आभ्यन्तर सम्भावना पर सन्देह करता है, नियमों का कोई विप्रतिषेध पाते हैं।

रुचि के विप्रतिषेध का निरूपण

रुचि का प्रथम सामान्य विषय (Commonplace) उस न्याय-वाक्य (Proposition) में अन्तर्विष्ट होता है जिसके छद्मआवरण के अन्दर छिपकर वह प्रत्येक व्यक्ति जो रुचि-शून्य है, अपनी रक्षा करना चाहता है : प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रुचि होती है। यह, यह कहने का एक दूसरा ढंग मात्र है कि इस निर्णय की निर्धारिणी आधारभूमि केवल व्यक्तिनिष्ठ (तृप्ति अथवा पीड़ा) है और यह कि निर्णय दूसरों की अनिवार्य सहमति का अधिकार नहीं रखता।

इसका द्वितीय सामान्य-विषय जिसका वे लोग भी आश्रय लेते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रामाणिकता के साथ घोषित करने के लिए रुचि-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करते हैं यह है, रुचि के सम्बन्ध में कोई विवाद (Disputing) नहीं है। यह तथ्य यह कहने के बराबर है कि चाहे किसी रुचि-निर्णय की निर्धारिणी आधारभूमि वस्तुनिष्ठ हो क्यों न हो किन्तु वह निश्चित संकल्पनाओं में अवकार्य (Reducible) नहीं है जिससे कि स्वयं निर्णय के सम्बन्ध में भी प्रमाणों द्वारा किसी भी 'निश्चय' (Decision) तक नहीं पहुँचा जा सकता हालाँकि इस विषय पर प्रतिद्वन्द्विता करने की हमें पूरी छूट है और साधिकार प्रतिद्वन्द्विता करने का। क्योंकि यद्यपि 'विवाद' (Dispute) और प्रतिद्वन्द्विता (Contention) का लक्ष्य सामान्य या एक है कि वे अपने अन्योन्य-विरोध से होकर और उसके द्वारा निर्णयों में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहती हैं; फिर भी वे परवर्ती में उसे निश्चित संकल्पनाओं द्वारा प्रभावित करने की आशा करती हुई प्रमाणाधारों के रूप में और परिणामतः 'वस्तुनिष्ठ संकल्पनाओं' को निर्णय की आधारभूमियों के रूप में ग्रहण करती हुई मतभेद प्रकट करती हैं। किन्तु जहाँ यह बात अव्यवहार्य समझी जाता है वहाँ विवाद समान रूप से अप्रासंगिक माना जाता है।

इन दो सामान्य विषयों (Common places) के बीच एक मध्यवर्ती न्याय-वाक्य तत्काल, खो जाता हुआ, देखा जाता है। यह एक ऐसा न्यायवाक्य है जो निश्चय ही लोकोक्तीय या लोक-प्रसिद्ध नहीं बन गया है किन्तु फिर भी यह हर एक व्यक्ति के मन को सहायता देता रहता है। वह यह है कि रुचि के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता हो सकती है (यद्यपि कोई विवाद नहीं)। क्योंकि जिस वस्तु के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता होती है उसके विषय में सहमत हो जाने की एक आशा अवश्यमेव रहती है अस्तु व्यक्ति को उस निर्णय की उन पर टिके

रहने में अवश्य समर्थ होना चाहिए जो व्यक्तिगत मान्यता से अधिक मान्यता रखती है और जो इस प्रकार मात्र व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) नहीं है। और फिर भी यह उपर्युक्त सिद्धान्त कि 'प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रुचि होती है' इसके प्रत्यक्षतः विरुद्ध है।

अतएव रुचि का नियम निम्नलिखित विप्रतिषेध प्रकट करता है :—

१—**पक्ष** : रुचि-निर्णय संकल्पनाओं पर आधारित नहीं होता, क्योंकि यदि वह होता तो वह प्रत्यक्ष ही विवाद-गम्य (प्रमाणों द्वारा निश्चय योग्य) होता।

२—**प्रतिपक्ष** : रुचि-निर्णय संकल्पनाओं पर आधारित होता है क्योंकि अन्यथा निर्णय की विभिन्नता के बावजूद भी, विषय के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता (इस निर्णय के साथ दूसरों की अनिवार्य सहमति के किसी दावे) के लिए भी कोई अवकाश नहीं हो सकता।

रुचि के विप्रतिषेध का समाधान

यह प्रदर्शित करने के अतिरिक्त उन उपयुक्त नियमों के अन्तर्द्वन्द्व के निवारण की कोई सम्भावना नहीं है जो प्रत्येक रुचि-निर्णय में अन्तर्निहित होते हैं (और जो पहले वैश्लेषिकी में प्रतिष्ठित रुचि-निर्णय की केवल दो विशिष्टताएँ हैं) कि इस प्रकार के किसी निर्णय में वस्तु (Object) जिस संकल्पना को अभ्युदिष्ट करने के लिए प्रेरित होती है वह सौन्दर्य-निर्णय के दोनों सूत्रों (Maxims) में एक ही अर्थ में ग्रहण नहीं की जाती है; कि हमारे आकलन में यह द्वैध अर्थ या दृष्टिकोण हमारे अनुभवातीत निर्णय (*Transcendental judgment*) की शक्ति के लिए अनिवार्य है और यह कि तिस पर भी एक दूसरे के साथ होने वाली अन्तर्भ्रान्ति से उत्पन्न होने वाली मिथ्या प्रतीति एक नैसर्गिक भ्रान्ति (Natural illusion) है और इसीलिए अनिवार्य (Unavoidable) है।

रुचि-निर्णय को किसी न किसी संकल्पना (Concept) से अवश्य अपना सन्दर्भ-निर्देश करना चाहिए क्योंकि अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य मान्यता का दावा करना इसके लिए पूर्णतया असम्भव होगा। फिर भी यह किसी संकल्पना से उस कारण सम्भाव्य (Probable) होने की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि कोई संकल्पना या तो निर्धार्य होती है या फिर तत्काल आन्तरिक रूप से खोखली और अनिर्धार्य। बुद्धि की कोई संकल्पना जो संवेद्य स्वानुभूति (Sensible intuition) से उधार लिए गए विधेयों द्वारा निर्धार्य और उसकी संवादिनी होने में समर्थ है, वह प्रथम प्रकार की संकल्पना है। किन्तु दूसरे प्रकार की संकल्पना अतीन्द्रिय (Supersensible) की अनुभवातीत तर्कबुद्धिपरक संकल्पना है जो उस

सारी संवेद्य स्वानुभूति (Sensible intuition) के आधार पर निर्भर करती है और अतएव जो सैद्धान्तिक रूप से और आगे भी निर्धारित होने में समर्थ है।

अब रुचि-निर्णय इन्द्रिय-विषयों या वस्तुओं पर लागू होता है किन्तु बुद्धि के लिए उनकी किसी संकल्पना का निर्धारण करने के हेतु नहीं, क्योंकि यह कोई संज्ञानात्मक निर्णय नहीं है। अस्तु यह आनन्दानुभूति से निर्देश्य स्वानुभूति का एक एकात्मक प्रतिरूपण (Singular representation) है और इस रूप में यह केवल एक व्यक्तिगत (Private) निर्णय है। और उस सीमा तक यह अपनी मान्यता में व्यक्ति-निर्णय-व्यापार तक ही सीमित होगा : वस्तु (Object) 'मेरे लिए' एक आनन्द की वस्तु है, दूसरों के लिए यह अन्यथा हो सकती है: प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि की ओर।

तो भी, रुचि-निर्णय संशयातीत रूप से उस वस्तु (Object) के प्रतिरूपण की ओर से (और साथ ही व्यक्ति की ओर से भी) एक परिवर्द्धित सन्दर्भ अन्तर्विष्ट करता है जो इस प्रकार के निर्णयों की प्रत्येक व्यक्ति के प्रति विस्तार की नींव डालती है। इसे अवश्यमेव किसी न किसी संकल्पना पर आधारित होना चाहिए, किन्तु यह संकल्पना ऐसी होनी चाहिए जो स्वानुभूति द्वारा निर्धारित होना स्वीकार न करती हो और जो किसी भी चीज़ का कोई भी ज्ञान न प्रदान करती हो। इसलिए भी यह एक ऐसी संकल्पना है जो रुचि-निर्णय का कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती। किन्तु इन्द्रिय-विषय रूप और इस प्रकार रूप वस्तु के (और उस वस्तु के निर्णेता व्यक्ति के) आधार पर अवस्थित अतीन्द्रिय तत्व (Supersensible) की मात्र विशुद्ध तर्कबुद्धिपरक संकल्पना एक ऐसी ही संकल्पना है क्योंकि जब तक कोई ऐसा दृष्टिकोण ग्रहण नहीं किया जाता तब तक सार्वभौम मान्यता के प्रति रुचि-निर्णय के दावे की रक्षा करने का कोई उपाय नहीं होगा। और यदि अपेक्षित आधार का निर्माण करने वाली संकल्पना बुद्धि की कोई संकल्पना हो, हालाँकि एक निरी अन्तर्भ्रान्त संकल्पना अर्थात् पूर्णता (Perfection) की संकल्पना, जिसकी संवादी रूप में सुन्दरम् की संवेद्य स्वानुभूति को उद्धृत किया जा सके तो रुचि-निर्णय को कम से कम यथार्थतः प्रमाणों पर आधारित करना सम्भव होगा, जो कि प्रस्तुत पक्ष (Thesis) का प्रतिवाद करता है।

कुछ भी हो यदि मैं यह कहूँ तो सारा प्रतिवाद अन्तर्हित हो जाता है कि : रुचि-निर्णय अवश्यमेव किसी संकल्पना (निर्णयशक्ति के लिए, प्रकृति की व्यक्ति-निष्ठ चरमता की सामान्य आधारभूमि की संकल्पना) पर आश्रित होती है किन्तु एक ऐसी संकल्पना पर जिससे वस्तु के सम्बन्ध में कुछ भी संज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता और कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यह स्वयं अपने में

अनिर्धार्य (Indeterminable) और ज्ञान के लिए अनुपयोगी है। तथापि इसी संकल्पना द्वारा यह उसी समय प्रत्येक व्यक्ति की मान्यता अर्जित करता है (किन्तु एक एकात्मक निर्णय होने के कारण निस्सन्देह प्रत्येक व्यक्ति के साथ अव्यवहित रूप से उसकी स्वानुभूति का अनुगमन करते हुए) क्योंकि इसकी निर्धारिणी आधारभूमि कदाचित् उस वस्तु की संकल्पना में निहित होती है जिसे मानवता का अतीन्द्रिय अधोस्तर (Supersensible subtrate) माना जा सकता है।

किसी विप्रतिषेध का समाधान प्रधानतः प्रतीयमान रूप से अन्तर्द्वन्द्वरत दो न्याय-वाक्यों (Propositions) के वस्तुतः अन्तर्विरोधी न होकर परस्पर संगत होने की क्षमता की सम्भावना पर निर्भर करता है यद्यपि उनकी संकल्पना की सम्भावना की व्याख्या हमारी संज्ञान शक्तियों (Faculties of cognition) का अतिक्रमण कर जाती है। कि यह भ्रान्ति नैसर्गिक भी है और मानवी-तर्कबुद्धि के लिए अनिवार्य भी, साथ ही यह ऐसा क्यों है और ऐसा क्यों बना रहता है, यह तथ्य हालाँकि उस प्रतीयमान अन्तर्विरोध के समाधान का द्वार उन्मुक्त करता है जिसकी दिशा में यह अब और आगे हमें भ्रान्त नहीं करता, ऊपर की विचारणाओं से बुद्धिगम्य बनाया जा सकता है।

चूँकि संकल्पना जिसे निर्णय की सार्वभौम मान्यता (Universal validity) को अपने आधार रूप में अवश्य ग्रहण करना चाहिए दोनों ही अन्तर्द्वन्द्वरत निर्णयों मे एक ही अर्थ में ग्रहण की जाती है फिर भी इसके लिए दो विरुद्ध विधेयों का आग्रह किया जाता है। अतएव पक्ष (The thesis) का निष्कर्ष यह होना चाहिए रुचि-निर्णय विहित या निर्दिष्ट संकल्पनाओं पर आधारित नहीं होता; किन्तु प्रतिपक्ष (The antithesis) का यह रुचि-निर्णय अवश्यमेव किसी संकल्पना पर आश्रित होता है यद्यपि एक (अर्थात् प्रपञ्चों के अतीन्द्रिय अधोस्तर की) अविहित संकल्पना पर और तब उनके बीच कोई भी अन्तर्द्वन्द्व नहीं होगा।

रुचि की अभ्यर्थना (Claim) और प्रत्यभ्यर्थना (Counter claim) के बीच के अन्तर्द्वन्द्व को दूर करने के अतिरिक्त हम और कुछ भी नहीं कर सकते। रुचि के एक ऐसे विहित वस्तुनिष्ठ नियम (Determinate objective principle) को प्रदान करना, जिसके अनुसार उसका निर्णय व्युत्पादित, परीक्षित और प्रमाणित किया जा सके, एक पूर्ण सम्भावना है। व्यक्तिनिष्ठ नियम अर्थात् हमारे अन्तःस्थ अतीन्द्रियतत्त्व का अविहित अनिर्दिष्ट प्रत्यय (Indeterminate idea) केवल इस मनःशक्ति (Faculty) की गूढ़ पहेली की विलक्षण कुञ्जी (Unique key) के रूप में ही निर्दिष्ट किया जा सकता है जो (इस मनःशक्ति का रहस्य) अपने स्रोतों

(Sources) में स्वयं हमसे छिपी रहती है, और इसे और अधिक बुद्धिगम्य बनाने का और कोई उपाय नहीं है।

यहाँ प्रदर्शित और समाहित विप्रतिषेध (Antinomy) निरे चिन्तनात्मक सौन्दर्य-निर्णय रूपी समीचीन रुचि-संकल्पना पर निर्भर करता है और प्रतीयमान रूप से अन्तर्द्वन्द्वरत दोनों नियम इस आधार पर समन्वित (Reconciled) हो जाते हैं कि वे दोनों ही सत्य हो सकते हैं और इतना ही पर्याप्त है। यदि दूसरी ओर इस तथ्य के कारण कि रुचि-निर्णय के आधार पर अवस्थित प्रतिरूपण (Representation) एकनिष्ठ (Singular) है, रुचि की निर्धारिणी आधारभूमि को जैसा कि कुछ लोगों द्वारा इसे माना जाता है, अनुकूलवेदनीयता (Agreeableness) माना जाता है अथवा जैसा कि दूसरे लोग, इसकी सार्वभौम मान्यता का ध्यान रखते हुए इसे पूर्णता के नियम (Principle of perfection) के रूप में ग्रहण करेंगे और यदि रुचि की परिभाषा तदनुसार ही गढ़ी जाती है तो उसका परिणाम विप्रतिषेध होता है जो तब तक पूर्णतया असमाधेय है जब तक कि हम प्रतिकूलता रूप (न कि साधारण अन्तर्विरोधी) दोनों ही न्याय वाक्यों के मिथ्यात्व को प्रदर्शित नहीं कर देते। यह इस निष्कर्ष को बाध्य कर देगा कि जिस संकल्पना पर प्रत्येक आधारित है वह आत्म-विरोधी (Self contradictory) है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य-निर्णय के विप्रतिषेध का निवारण एक ऐसी प्रक्रिया का अनुसरण करता है जो विशुद्ध सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि के विप्रतिषेधों के समाधान में 'मीमांसा' (Critique) द्वारा अनुसृत प्रक्रिया के समान है; और यह कि यहाँ और 'व्यावहारिक तर्कबुद्धि की मीमांसा' (Critique of practical reason) दोनों जगह पाये जाने वाले विप्रतिषेध चाहे हम इसे पसन्द करें या न करें इन्द्रिय-संवेद्य तत्त्व (Sensible) की क्षितिज के बाहर झाँकने और अतीन्द्रियतत्त्व (Supersensible) में अपनी निखिल प्रागनुभव मनःशक्तियों की एकता के सूत्र को खोजने का प्रयास करने के लिये बाध्य करते हैं; क्योंकि हमारे पास तर्कबुद्धि का स्वयं उसके साथ मेल स्थापित करने के लिए कोई और उपाय शेष नहीं रह गया है।

अभ्युक्ति १

हम अनुभवातीत दर्शन (Transcendental philosophy) में प्रत्ययों (Ideas) को बुद्धि की संकल्पनाओं (Concepts of understanding) से पृथक करने के ऐसे प्रायः अवसर पाते हैं कि उनके बीच के भेद के सम्वादी पारिभाषिक पदों का परिचय करा देना उपयोगी होगा। मेरी धारणा है कि मेरे कुछेक के नाम को प्रस्तावित करने पर कोई भी आपत्ति नहीं की जायगी। प्रत्यय (Ideas) शब्द के व्यापक अर्थ वे प्रतिरूपण (Representations) हैं जो उस हद तक कि

विशेष नियम (व्यक्तिनिष्ठ अथवा वस्तुनिष्ठ) के अनुसार किसी वस्तु के साथ सम्बन्धित किए जाते हैं जिस हद तक वे इतना होने पर कदापि उसका कोई संज्ञान (Cognition) नहीं बन सकते। वे या तो संज्ञानात्मक मनःशक्तियों, कल्पना और बुद्धि के सामञ्जस्य के किसी निरे व्यक्तिनिष्ठ नियम के अनुसार किसी स्वानुभूति से सन्दर्भित किए जाते हैं और तब वे सौन्दर्यपरक कहलाते हैं या फिर वे किसी वस्तुनिष्ठ नियम के अनुसार किसी सकल्पना से सन्दर्भित किए जाते हैं और फिर भी वे सदा वस्तु की किसी संकल्पना को प्रस्तुत करने में अक्षम होते हैं और 'तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय' (Rational ideas) कहलाते हैं। परवर्ती स्थिति में संकल्पना एक अनुभवातीत संकल्पना होती है और इस रूप में वह उस बुद्धि-संकल्पना से भिन्नमन होती है जिसके लिए एक सम्यक्तः सम्वादी अनुभव सदा प्रदान किया जा सकता है और जो उसी कारण अन्तर्भूत (Immanent) कहलाती है।

एक सौन्दर्यपरक प्रत्यय एक संज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि यह (कल्पना की) एक स्वानुभूति है जिसके लिए कोई उपयुक्त संकल्पना कभी भी नहीं पायी जा सकती। एक तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय (Rational idea) कभी भी एक संज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि यह एक संकल्पना (अतीन्द्रिय की संकल्पना) को अन्तर्निष्ट करता है जिसके लिए एक समानुपातिक या अनुगुण स्वानुभूति कभी भी नहीं प्रदान की जा सकती।

अब, एक सौन्दर्यपरक प्रत्यय, मेरी धारणा है, कल्पना का एक अव्याख्येय प्रतिरूपण है, दूसरी ओर तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय तर्कबुद्धि की एक 'अनिरूप्य' संकल्पना है। दोनों की सृष्टि (Production) सर्वथा निराधार न होकर, (सामान्यतः किसी प्रत्यय की उपर्युक्त व्याख्या का अनुसरण करते हुए) उन संज्ञान शक्तियों (Cognitive faculties) के किन्हीं विशेष नियमों के आदेशानुवर्त्तन में घटित होने वाली पूर्वकल्पित की जाती है जिससे वे सम्बन्ध रखते हैं (पूर्ववर्ती की स्थिति में जो व्यक्तिनिष्ठ नियम हैं और परवर्ती की स्थिति में वस्तुनिष्ठ)।

बुद्धि की संकल्पनाओं का अपने यथावत् रूप में अवश्य निरूप्य (*Demonstrable*) होना चाहिए (यदि जैसा कि व्यवच्छेद्-विद्या (Anatomy) में होता है निरूपण का अर्थ केवल 'उपस्थापन' के रूप में ग्रहण किया जाय)। दूसरे शब्दों मे ऐसी संकल्पनाओं की सम्वादी वस्तुओं को सदैव अवश्यमेव स्वानुभूति (विशुद्ध या आनुभविक) में निर्दिष्ट की जाने योग्य होना चाहिए क्योंकि मात्र इसी प्रकार वे संज्ञान बन सकती हैं। महत्ता की संकल्पना (The concept of magnitude) 'प्रागानुभविक रूप से' देश-स्वानुभूति में। उदाहरणार्थ, जैसे किसी एक सीधी रेखा की संकल्पना आदि में और कारण (Cause) की संकल्पना अभेद्यता (Impenetrability में पिण्डों के सघात आदि में निर्दिष्ट की जा सकती है परिणामत

दोनों ही एक अनुभवमूलक स्वानुभूति द्वारा सत्यापित की जा सकती हैं अर्थात् तत्सम्बन्धी विचार किसी उदाहरण में संकेतित (निरूपित प्रदर्शित) किया जा सकता है, यह करना इसके लिए अवश्य सम्भव है : क्योंकि अन्यथा विचार के रिक्त न होने की अर्थात् किसी भी विषय (Object) से युक्त न होने की कोई सम्भावना नहीं होगी ।

तर्कशास्त्र में निरूप्य अथवा अनिरूप्य की शब्दावलियाँ साधारणतः केवल न्याय-वाक्यों (Propositions) के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाती हैं । पूर्ववर्ती न्याय वाक्यों को केवल 'व्यवहित रूप से होने वाले न्याय-वाक्य और परवर्ती न्याय-वाक्यों को अव्यवहित रूप से होने वाले निश्चित न्याय-वाक्य कहना अपेक्षाकृत एक अत्यधिक प्रशस्त परिकल्पना (Designation) होगी । क्योंकि विशुद्ध दर्शन (Pure philosophy) भी इन दोनों प्रकार के न्याय-वाक्यों (Propositions) से युक्त होता है—अर्थात् सत् न्याय वाक्यों से जो पहली स्थिति में प्रमाण-क्षम और दूसरी स्थिति में प्रमाणाक्षम होते हैं । किन्तु अपने दर्शन के अपने विशिष्ट स्वरूप में जहाँ यह निस्सन्देह प्रागनुभव आधारभूमियों पर प्रमाणित कर सकता है वहाँ यह तब तक निरूपित नहीं कर सकता जब तक कि हम उस शब्दार्थ को पूर्णतया त्याग न दें जो निरूपण (Ostendere, exhibere) को स्वानुभूति में चाहे वह किसी प्रमाण में हो या किसी परिभाषा में, एक के अन्तर्गत संकल्पना का अनुषंगी उपस्थापन प्रदान करने के बराबर बना देता है । जहाँ स्वानुभूति प्रागनुभव (A priori) होती है वहाँ यह उसकी संरचना (Construction) कहलाती है किन्तु जिस समय स्वानुभूति भी अनुभवमूलक होती है उस समय हमारे पास फिर भी वस्तु (Object) का वह निदर्शन (Illustration) उपलब्ध होता है जिसके द्वारा संकल्पना के लिए वस्तुपरक सत्य (Objective reality) सुनिश्चित हो जाता है । इस प्रकार एक शल्य-शास्त्री उस समय आँख का निरूपण करने वाला कहा जाता है जब वह उस संकल्पना को घटित करता है जिसकी उसने उस अवयव के व्यवच्छेदन द्वारा पहले ही एक उपयुक्त तर्कपूर्ण विवृत्ति प्रदान कर दी है ।

उपर्युक्त का तात्पर्य यह निकलता है कि सामान्यतः समस्त प्रपञ्चों के अतीन्द्रिय अधोस्तर की अथवा यहाँ तक कि उस वस्तु की भी तर्कबुद्धिपरक संकल्पना जिसे नैतिक नियमों अर्थात् अनुभवातीत मुक्ति (Transcendental freedom) की तर्कबुद्धिपरक संकल्पना के सम्बन्ध में अवश्यमेव हमारी वरणेच्छा-शक्ति (Elective will) के आधार पर अवस्थित होना चाहिए, तत्काल विशिष्ट रूप से एक अनिरूप्य संकलना (Indemonstrable concept) है और एक तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय है जबकि किसी मात्रा में सद्गुण भी ऐसा ही है क्योंकि ऐसा कुछ भी निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता जो [illegible] न्तर्गत अपने में

रूप से पूर्ववर्ती को तर्कबुद्धिपरक संकल्पना का समकक्षी या समवादी हो जबकि सद्-गुण की स्थिति में उपर्युक्त कारणता (Causality) की कोई भी अनुभवमूलक कृति उस कोटि तक नहीं पहुँचती जिसे तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय नियम रूप में विहित करता है।

जिस प्रकार, तर्कबुद्धिपरक प्रत्यय की स्थिति में 'कल्पना' अपनी स्वानुभूतियों द्वारा निर्दिष्ट संकल्पना (Given concept) को उपलब्ध करने में असफल रहती है उसी प्रकार सौन्दर्यपरक प्रत्यय की स्थिति में बुद्धि अपनी संकल्पनाओं द्वारा उस आन्तर-स्वानुभूति की परिपूर्णता (Completeness) को उपलब्ध करने में सदैव असफल रहती है जिसे कल्पना किसी निर्दिष्ट प्रतिरूपण के साथ संश्लिष्ट करती है। अब चूँकि कल्पना के किसी प्रतिरूपण (Representation) का संकल्पनाओं में अवकरण उसके निदर्शन या प्रकार (Exponents) को प्रस्तुत करने के समान है अस्तु सौन्दर्यपरक प्रत्यय (Aesthetic idea) को कल्पना (उसके स्वच्छन्द विलास में) का एक अव्याख्येय प्रतिरूपण कहा जा सकता है। इसके पश्चात् इस प्रकार के प्रत्ययों की अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ चर्चा करने का एक अवसर मुझे प्राप्त होगा। सम्प्रति मैं अपने को इस अभ्युक्ति तक सीमित रखता हूँ कि सौन्दर्यपरक और साथ ही तर्कबुद्धिपरक दोनों प्रकार के प्रत्यय अपने नियमों से युक्त होने या उन्हे धारण करने के लिए बाध्य हैं और यह कि दोनों ही स्थितियों में इन नियमों का अधिष्ठान (Seat) अवश्यमेव तर्कबुद्धि (Reason) है—परवर्ती इसके अधियोजन (Employment) के वस्तुनिष्ठ नियमों पर आश्रित होते हैं और पूर्ववर्ती इसके अधियोजन के व्यक्तिनिष्ठ नियमों पर।

इसके सामञ्जस्य में ही, प्रतिभा को भी 'सौन्दर्यपरक प्रत्ययों' (Aesthetic ideas) की मनःशक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह साथ ही साथ यह इस कारण की ओर संकेत करने का काम करती है कि यह क्यों कोई निश्चित प्रयोजन (Set purpose) न होकर प्रकृति (व्यक्ति की प्रकृति) है जो प्रतिभाजनित कला कृतियों में कला को नियम (सुन्दर की सृष्टि रूप में) प्रदान करती है। क्योंकि सुन्दरम् को कदापि संकल्पनाओं के अनुसार आकलित न करके उस चरम-वृत्ति (Final mode) के द्वारा आकलित करना चाहिए जिसमें वह एकतान हो गई है ताकि वह सामान्यतः संकल्पनाओं की मनःशक्ति के साथ संगत हो; और इसलिए नियम और सूत्र, ललितकलागत उस सौन्दर्यपरक और निरुपाधिक चरमता (Unconditioned finality) के लिये अपेक्षित व्यक्तिनिष्ठ मानदण्ड का काम करने में असमर्थ हैं जिसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को आनन्दित करने के लिए बाध्य होने का वैध (Warranted) दावा करना अनिवार्य है। इस प्रकार का मानदण्ड अपेक्षाकृत व्यक्तिगत उस निरे प्रकृति तत्त्व (Element of nature in the

subject) में खोजा जाना चाहिए जो नियमों अथवा सूत्रों के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता कहने का अभिप्राय यह कि इस प्रकार का मानदण्ड व्यक्ति की समस्त मनःशक्तियों के अतीन्द्रिय अधोस्तर (जो बुद्धि की किसी भी संकल्पना के लिए अनुपलभ्य है) में और परिणामतः उस वस्तु में खोजा जाना चाहिए जो हमारी समस्त संज्ञान-शक्तियों (Faculties of cognition) के सामञ्जस्यपूर्ण ऐक्य के लिए सन्दर्भ सूत्र (Point of reference) का निर्माण करती है—जिस ऐक्य की सृष्टि हमारी प्रकृति के बुद्धिगम्य आधार द्वारा निर्धारित चरम-लक्ष्य (Ultimate end) है। केवल इसी प्रकार एक व्यक्तिनिष्ठ और फिर भी सार्वभौमतः मान्य प्रागनुभव-नियम के लिए उस चरमता (Finality) के आधार पर अवस्थित होना सम्भव है जिसके लिए भी अन्य वस्तुनिष्ठ नियम को विहित नहीं किया जा सकता।

अभ्युक्ति २

निम्नलिखित महत्वपूर्ण निरीक्षण स्वभावतः यहाँ स्वयं अपने को प्रस्तुत करता है : विशुद्ध तर्कबुद्धि के तीन प्रकार के विप्रतिषेध (Antinomies) हैं जो बहरहाल सब के सब तर्कबुद्धि (Reason) को, उस अन्यथा अत्यन्त स्वाभाविक धारणा का परित्याग करने के लिए, जो इन्द्रिय विषयों (Objects of Sense) को स्वलक्षण तत्त्वों (Things-in-themselves) के अर्थ में ग्रहण करती है, और अपेक्षाकृत उन्हें मात्र प्रपंच (Phenomena) मानने के लिए, और उनके आधार पर बुद्धिग्राह्य अधोस्तर (कोई एक अतीन्द्रिय वस्तु, जिसकी संकल्पना मात्र एक प्रत्यय है और जो कोई भी सम्मुचित ज्ञान नहीं प्रदान करती) को स्थापित करने के लिए, बाध्य करने में सहमत हैं। ऐसे कुछ विप्रतिषेधों से पृथक् तर्कबुद्धि कभी भी अपने को किसी ऐसे नियम को अपनाने के सम्बन्ध में जो अत्यन्त प्रचण्डता के साथ इसके अनुशीलन के क्षेत्र का नियन्त्रण करता हो और ऐसे उत्सर्गों के प्रति आत्मसमर्पण करने के सम्बन्ध में कोई कदम उठाने के लिए प्रस्तुत नहीं कर सकी जो अन्यथा अनेक भास्वर आशाओं की पूर्ण विच्छिन्नता को अन्तर्विष्ट करते हैं। क्योंकि अब भी इसकी इस क्षति की प्रतिपूर्ति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण से, आनुपातिक रूप से अपेक्षाकृत एक अत्यधिक व्यापक कार्यक्षेत्र की सम्भावना द्वारा की जाती है, ऐसा नहीं है कि यह किसी अनुताप की अवस्था के बिना ही-उन आशाओं से अलग होती प्रतीत होती और पुराने सम्बन्धों से विच्छेद करती हुई प्रतीत होती है।

तीन प्रकार के विप्रतिषेध होने का कारण इस तथ्य में प्राप्य है कि संज्ञान की तीन मनःशक्तियाँ हैं बुद्धि, निर्णय और तर्कबुद्धि जिनमें से प्रत्येक संज्ञान की एक शक्ति Faculty) होने के कारण निश्चय ही नियमों से युक्त

होती है। क्योंकि जहाँ तक तर्कबुद्धि स्वयं इन नियमों और इनके नियोजन पर निर्णय देती है वहाँ तक वह इन सब के सम्बन्ध में निष्ठुरता के साथ निर्दिष्ट सोपाधिक (Given Conditioned) के लिए निरुपाधिक (Unconditioned) की अपेक्षा रखती है। यह तब तक कदापि नहीं पाया जा सकता जब तक कि इन्द्रियाँ संवेद्य तत्त्व (Sensible), बजाय स्वलक्षण परमार्थों (Things in themselves) का अन्तर्जात रूप से अनुषंगी समझा जाने के, एक प्रपंच मात्र नहीं समझा जाता और इस रूप में जब तक कि उसे स्वलक्षण-वस्तु रूप किसी अतीन्द्रिय तत्त्व (बाह्य और आन्तर, प्रकृति का बुद्धिग्राह्य अधोस्तर) पर आश्रित नहीं कराया जाता। फिर वहाँ (१) बुद्धि के उस सैद्धान्तिक नियोजन के सम्बन्ध में संज्ञान शक्तियों के लिए तर्कबुद्धि का एक विप्रतिषेध है, जो निरुपाधिक (Unconditioned) की सीमा तक वहन किया जाता है (२) निर्णय के सौन्दर्यमूलक नियोजन के सम्बन्ध में आनन्द और विषाद की अनुभूति के लिए तर्कबुद्धि का विप्रतिषेध है (३) आत्मविधायक तर्कबुद्धि के व्यावहारिक नियोजन के सम्बन्ध में इच्छा मनःशक्ति (Faculty of desire) का एक विप्रतिषेध है। क्योंकि इन समस्त मनःशक्तियों के अपने मूलभूत प्रागानुभव नियम हैं और तर्कबुद्धि की एक अनिवार्य माँग का अनुसरण करती हुई वे इन नियमों के अनुसार 'निरुपाधि रूप से (Unconditionally) अपने विषय (Object) का निर्धारण करने में अवश्य समर्थ हैं।

इन उच्चतर संज्ञानात्मक मनःशक्तियों अर्थात् उनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नियोजन की संज्ञानात्मक मनःशक्तियों के दो विप्रतिषेधों के सम्बन्ध में हमने अन्यत्र पहले से यह दोनों चीजे प्रदर्शित कर दी हैं कि वे 'अपरिहार्य' हैं बशर्ते ऐसे निर्णयों में प्रपंच रूप में निर्दिष्ट (Given) वस्तुओं के अतीन्द्रिय अधोस्तर का कोई प्रज्ञान (Cognisance) न ग्रहण किया जाय और यह कि यह कार्य निष्पन्न होते ही तत्क्षण उनका समाधान किया जा सकता है। अब तर्कबुद्धि की माँग के अनुसार निर्णय के नियोजन से सम्बद्ध विप्रतिषेध और उसके यहाँ प्रस्तुत किये गये समाधान के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि इसका सामना करने से बचने के लिए मात्र निम्नलिखित विकल्प या उपाय हैं। इस बात से इन्कार करने लिए हमें पूरी छूट है कि कोई भी प्रागनुभव नियम रुचि के सौन्दर्यपरक निर्णय के आधार पर अवस्थित होता है वह इसलिए क्योंकि मतों की सार्वभौम सहमति की अनिवार्यता का सारा दावा एक निकम्मा और रिक्त भ्रम है और यह कि कोई रुचि-निर्णय केवल इसी सीमा तक ठीक समझा जाने का अधिकारी है यह कि 'ऐसा होता है' कि कोई संख्या उसी मत में भाग लेती है और वह भ
में नहीं क्योंकि एक प्रागनुभव नियम इस सहमति nt) र

पीछे अवस्थित 'कल्पित' किया जाता है बल्कि (जैसा कि चरपरी चीजों के आस्वाद में होता है ।) व्यक्तियों के आनुषंगिक रूप से मिलते-जुलते संघटन के कारण। या फिर, विकल्पान्तर्गत, हमें यह कल्पना करनी होगी कि रुचि-निर्णय वास्तव में किसी वस्तु में अन्वेषित पूर्णता (Perfection) और तद्गत बहुविध का किसी उद्देश्य के साथ सन्दर्भ पर विहित तर्कबुद्धि का एक छद्मवेषी निर्णय है और यह कि परिणामतः वह उस अन्तर्भ्रान्ति के कारण सौन्दर्यपरक कहलाता है जो यहाँ हमारे निमर्श को निरुद्ध या आक्रान्त कर लेती है यद्यपि तात्त्विक रूप से यह उद्देश्यवादी है। इस परवर्ती स्थिति में अनुभवातीत पत्ययों की सहायता से विप्रतिपेध का समाधान व्यर्थ और क्षुद्र घोषित किया जा सकता था और रुचि के उपर्युक्त नियम इस प्रकार निरे प्रपंच रूप में नहीं बल्कि स्वलक्षण परभाषों के भी रूप में इन्द्रिय-विषयों (Objects of Sense) के साथ समन्वित किये जा सकते थे। पलायन के एक साधन के रूप में ये दोनों ही विकल्प समान रूप से कितने असन्तोष-जनक हैं यह चीज़ हमारी रुचि-निर्णय की व्याख्यान्तर्गत अनेक स्थलों पर प्रदर्शित की गई है।

कुछ भी हो यदि हमारे निगमन को कम से कम सही विचार-पद्धतियों पर निष्पादित किया गया होने का श्रेय प्रदान किया जाता है, भले ही वह अपने सारे सूक्ष्म-विवरण में पर्याप्त रूप से स्पष्ट न हो तो तीन विचार प्रत्यक्षरूप में प्रमुखता प्राप्त करते हैं। प्रथमतः, अतीन्द्रियतत्त्व की सत्ता प्रकृति के अधोस्तर रूप में बिना और आगे निर्धारण के सामान्यतः होती है, द्वितीयतः, ठीक यही अतीन्द्रिय तत्त्व (Supersensile) हमारी संज्ञानात्मक शक्तियों के लिए प्रकृति की व्यक्तिनिष्ठ चरमता (Subjective Finality) के रूप में होता है; तृतीयतः ठीक यही अतीन्द्रिय तत्त्व, मुक्ति-उद्देश्यों के नियम और नैतिक क्षेत्रगत मुक्ति के साथ इन उद्देश्यों के सामान्य ऐक्य (Common accord) के नियम के रूप में होता है।

चरमता का प्रत्ययवाद प्रकृति और कला के प्रत्ययवाद की भाँति ही सौन्दर्य-निर्णय का अनन्य (Unique) नियम है।

पहली बात यह कि रुचि-नियम, दो आधारों में से किसी एक आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। क्योंकि रुचि के लिए यह कहा जा सकता है कि वह नित्य रूप से (Invariably) निर्धारण की अनुभवमूलक आधारभूमियों पर निर्णय करती है और अतएव ऐसी आधारभूमियों पर जैसी कि केवल अनुभवसापेक्ष रूप से इन्द्रिय (Sense) द्वारा निर्दिष्ट की जाती हैं या फिर इसे प्रागनुभव आधारभूमि पर निर्णय करने की स्वीकृति मिल सकती है पूर्ववर्ती रुचि-मीमांसा का होगा और परवर्ती उसका तर्कबुद्धिवाद (Rationalism

पहला उस भेद को उन्मूलित कर देगा जो हमारे आनन्द विषय को अनुकूलवेदनीय से पृथक् करता है; दूसरा निर्णय को विहित संकल्पनाओं पर आधारित कल्पित करके श्रेयस् या शिव से इसके भेद को उन्मूलित कर देगा। इस प्रकार सौन्दर्य अपनी अभिज्ञान स्थिति (Locus Standi) उस जगत् में प्राप्त करेगा जो उसके लिए पूर्णतया प्रतिषिद्ध है और अपेक्षाकृत केवल भिन्न नाम, चिन्ह, हो सकता है, ऊपर अभिहित दोनों प्रकार के आनन्द कोई विशेष मिश्रण, आदि ही शेष रह जाएँगे। किन्तु हमने आनन्द की उन आधारभूमियों की सत्ता को दर्शा दिया है जो प्रागनुभव हैं और अतएव जो तर्कबुद्धिवाद के साथ संगत हो सकती हैं और जो फिर भी निश्चत संकल्पनाओं द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकतीं।

उपर्युक्त के विरुद्ध हम यह कह सकते हैं कि रुचि-नियम का तर्कबुद्धिवाद (Rationalism) या तो 'यथार्थवाद' (Realism) का रूप ग्रहण कर सकता है या चरमता (Finality) या फिर उसके प्रत्ययवाद (Idealism) का। अब चूँकि रुचि-निर्णय एक संज्ञानात्मक निर्णय नहीं है और सौन्दर्य स्वयं अपने कारण विमृष्ट वस्तु की कोई सम्पत्ति नहीं है अतः रुचि-नियम के तर्कबुद्धि को कदापि इस तथ्य में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता कि यह निर्णयगत-चरमता, विचारों मे वस्तुनिष्ट मानी जाती है। दूसरे शब्दों मे निर्णय वस्तु की किसी और (भले ही वह एक अन्तर्भ्रान्त आकलन में हो) पूर्णता की ओर न तो सैद्धान्तिक रूप से निदेशित होती है और न व्यावहारिक रूप से बल्कि वह केवल 'सौन्दर्यपरक रूप से' सामान्यतः व्यक्ति (Subject) में पाये जाने वाले निर्णय के अपरिहार्य नियमों (Essential Principles) के साथ अपने कल्पनागत प्रतिरूपण (Representation in the imagination) के सामञ्जस्य-स्थापन की ओर निदेशित होती हैं। इस कारण, रुचि-निर्णय और उसके यथार्थवाद और प्रत्ययवाद का भेद यहाँ तक कि तर्कबुद्धिवाद के सिद्धान्त पर भी दो प्रकारों मे से किसी न किसी प्रकार से व्याख्यात होने वाली इसकी व्यक्तिनिष्ठ चरमता (Subjective Finality) पर निर्भर कर सकते है। पहली स्थिति में इस प्रकार की व्यक्तिनिष्ठ चरमता (Subjective Finality) या तो प्रकृति के (या कला से) वास्तविक (उद्देश्यमूलक) 'लक्ष्य' रूप में अनुष्ठित हमारे निर्णय के साथ एक सामञ्जस्य है या फिर दूसरी स्थिति में यह, प्रकृति और उन रूपों के उसके सम्बन्ध में हमारी निर्णय शक्ति (Faculty of Judgment) की आवश्यकताओं के साथ एक आकस्मिक चरम सामञ्जस्य मात्र है, जिन्हें प्रकृति विशेष नियमों (Particular laws) के अनुसार उत्पन्न करती है और एक ऐसे नियम् के अनुसार जो किसी उद्देश्य से स्वतन्त्र स्वाभाविक और आनुषंगिक है।

•

अवयवी जगत् (Organic world में प्रदर्शित सुन्दर रूप सबके सब ए

मान ली जाती है कि जैसा कि द्रव का वास्तविक अर्थ अपेक्षा रखता है द्रव्य द्रव में पूर्णतया निर्गलित हो जाता है और ठोस कणों का कोई सम्मिश्रण मात्र ही नहीं बचा रह जाता है। रूप-रचना (Formation) 'संवर्तन' (Concursion) द्वारा अर्थात् एक आकस्मिक् सम्पिण्डन (Sudden solidification) घटित होता है और द्रव से सान्द्रावस्था के प्रति किसी क्रमिक संक्रमण द्वारा नहीं बल्कि जैसे मानो एक छलाँग द्वारा। इस संक्रमण (Transition) को 'स्फटिकीकरण' (Crystallization) के नाम से अभिहित किया जाता है। जमता हुआ जल इस प्रकार की रूप रचना (Formation) का अत्यन्त सुपरिचित उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह प्रक्रिया बिलकुल ऋजु हिम-तन्तुओं का रचना द्वारा प्रारम्भ होती है। ये ७०° के कोण पर परस्पर मिलते हैं जबकि दूसरे उसी प्रकार उनके साथ अपने को तब तक सम्बद्ध करते रहते हैं जब तक कि पूरा जल हिम में नहीं परिणत हो जाता। किन्तु जिस समय यह प्रक्रिया चल रही होती है उस समय हिम तन्तुओं (Threads of ice) के बीच का जल क्रमशः अधिकाधिक अलग (Viscous) नहीं होता जाता बल्कि वह वैसा ही सम्पूर्णतः तरल बना रहता है जैसा कि वह अपेक्षाकृत किसी उच्चतर ताप पर होता यद्यपि वह पूर्णतया हिम-शीतल होता है। वह वस्तु जो अपने को मुक्त रखती है—जो सान्द्रीभाव के समय अकस्मात् बच निकलती है—वह उष्मा की एक प्रचुर मात्रा है। चूँकि यह मात्रा तरलता को बनाए रखने के लिए अपेक्षित थी अतः इसका लोप वर्तमान हिम को उस जल से अपेक्षाकृत तनिक भी अधिक शीतल नहीं छोड़ जाता जो केवल एक क्षण पहले वहाँ तरल रूप मे था।

ऐसे बहुत से मणिभाकार लवण और प्रस्तर भी हैं जो उसी प्रकार अपने उद्भव के लिए ऐसे अभिकरणों के प्रभावान्तर्गत जल मे प्रविलीन किसी पार्थिव द्रव्य (Earthly substance) के ऋणी हैं जिनके सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। लीड के घनाकार सल्फाइड लाल चाँदी की कच्ची धातु आदि अनेक खनिज पदार्थों के स्फटिकपूर्ण विन्यास (Drusy configurations) भी मान्य रूप मे उसी प्रकार जल मे और अपने कणों के संवर्तन द्वारा उनके किसी न किसी कारण से अपने प्रवहण (Vehicle) को त्याग कर स्वयं अपने को निश्चित बाह्य आकृतियो में एकान्वित होने में बाध्य होने से बने हैं।

किन्तु इससे आगे ताप द्वारा तरल बनाए गये वे सारे द्रव्य जो शीतलन के कारण ठोस बन गये हैं तोड़े जाने पर एक निश्चित रचना या वयन (Texture) के अन्तः साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं इस प्रकार इस अनुमान की ओर संकेत करते है कि केवल अपने ही गुरुत्व के व्यक्तीकरण अथवा आकाश के विक्षोभ के लिए बाह्य ने भी उनको समीचान विशिष्ट आकृति को प्रदर्शित कर दिया होता यह चीज

कुछ धातुओं (Metals) की स्थिति में देखी गई है जहाँ कि किसी पिघले हुए पिण्ड का बाह्य भाग तो कठोर हो उठा किन्तु अन्तः भाग तरल ही बना रहा और फिर आन्तरिक भाग से स्थिर तरल तत्त्व के अलगाव के कारण अवशिष्ट अंशों का भीतर अनुद्विग्न सवर्तन (Undisturbed concursion) हो गया। ऐसे अनेक खनिज स्फटिकीकरण, जैसे स्पार, शीशे [illegible] आदि प्रायः अत्यन्त सुन्दर आकृतियाँ प्रस्तुत करते हैं इतनी सुन्दर कि जिन्हें कला भला के लिए प्रकल्पित करने के लिए ग्रहण करती है और [illegible] की गुफा (Grotto) में पाया जाने वाला प्रभामण्डल [illegible] की जमी हुई परत से होकर [illegible] करते हुए जल की कृति है।

कुल मिलाकर तरलावस्था वाह्यतः सान्द्रावस्था की अपेक्षा अधिक पुरातन है और पौधों के साथ ही जीव-शरीर भी उस सीमा तक पोषक तरल पदार्थो से बने हैं जिस सीमा तक कि यह अविकल रूप में घटित होता है—परवर्ती की स्थिति में स्वीकृततः प्रधान रूप से उद्देश्यों की ओर निर्देशित प्रकृति (जो जैसा कि [illegible] दो में दर्शाया जायगा जिसका निर्णय अवश्यमेव सौन्दर्यपरक रूप में होना चाहिये किन्तु यथार्थवाद के नियम द्वारा उद्देश्यवादी दृष्टि से) की किसी विशेष मौलिक प्रवृत्ति के आदेशानुसार किन्तु फिर भी सदैव शायद उस रूप में द्रव्यों की आसक्ति (Affinity) के सार्वभौम नियम का अनुसरण करते हुए भी जिस रूप में कि वे साथ-साथ अंकुरित होने और स्वच्छन्दता में रूप ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार पुनः कोई वातावरण जो कि विभिन्न प्रकार के गैसों का एक सम्मिश्रित रूप है, जलीय द्रवों से परिपूर्ण है और ये (जलीय द्रव) तापमान के अपकर्ष के कारण इससे पृथक् हो जाते हैं ये ऐसी हिमाकार आकृतियाँ उत्पन्न करते हैं जो वास्तविक वातावरण की सरचना (Composition) से भिन्न होती हैं। ये बहुधा अत्यन्त कलात्मक वाह्याभि-व्यक्ति (Artistic appearance) और चरम सौन्दर्य वाली होती हैं। अतः बिना उस उद्देश्यवादी नियम से जरा भी पीछे हटे जिसके द्वारा किसी संघटन (Organization) का निर्णय किया जाता है यह तत्काल अनुमेय है कि किस प्रकार फूलों के, पक्षियों के पत्रावरण के और कठिनि-वर्ग के सौन्दर्य उनकी आकृति और उनके रंग दोनों के सम्बन्ध में हमारे पास केवल वह वस्तु होती है जिसे किन्हीं भी विशेष निर्देशक नियमों से स्वतन्त्र रूप में रासायनिक नियमों के अनुसार संघटनार्थ अपेक्षित द्रव्य के रासायनिक एकीकरण (Chemical integration) द्वारा प्रकृति पर और उसकी स्वच्छन्द क्रिया में सौन्दर्यमूलक दृष्टि से चरम रूपों (Final forms) की उद्भावना करने की क्षमता पर आरोपित किया जा सकता है।

किन्तु जो वस्तु स्पष्ट रूप से यह दर्शाती है कि प्रकृति सौन्दर्यगत चरमता (Finality) की (Ideality का नियम वह नियम है जिस पर हम

स्वयमेव नित्य रूप से (Invariably) अपने सौन्दर्य-निर्णयों में, व्याख्या-नियम रूप अपनी प्रतिरूपण-मनः शक्ति के पक्ष में किसी प्राकृतिक उद्देश्य' के यथार्थवाद का आश्रय लेने से अपने को रोकते हुए, निर्भर करते हैं, वह यह है कि सौन्दर्य के अपने सामान्य आकलन में हम उसके मानदण्ड को अनुभव-निरपेक्ष रूप से स्वयं अपने अन्दर ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं और यह कि सौन्दर्यमूलक मनः शक्ति (Aesthetic faculty) निर्णय के सम्बन्ध में स्वयमेव विधान-निर्मात्री (Legislative) है चाहे कोई वस्तु सुन्दर हो या न। यह चीज़ प्रकृति की चरमता के किसी यथार्थवाद की मान्यता (Assumption) पर नहीं हो सकती थी क्योंकि उस स्थिति में जिस वस्तु को हम सुन्दर समझते उसके सम्बन्ध में शिक्षा ग्रहण करने के लिए हमें प्रकृति के पास जाना पड़ता और रुचि-निर्णय अनुभवमूलक नियमों का विषय होता। क्योंकि इस प्रकार के आकलन में प्रश्न अपने निश्चयार्थ इस बात पर निर्भर नहीं करता कि प्रकृति क्या है अथवा यहाँ तक कि किसी उद्देश्य की दिशा में वह हमारे लिए क्या है बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि हम उसे किस प्रकार ग्रहण करते हैं। क्योंकि प्रकृति का हमारे आनन्दार्थ अपने रूपों (Forms) को निर्मित कर रखना अपरिहार्यतः प्रकृति की ओर से एक वस्तुनिष्ठ चरमता (Objective Finality) को उपलक्षित करता है बजाय इसके कि यह कल्पना की स्वच्छन्दतान्तर्गत उस कल्पना विलास पर निर्भर करे जहाँ हमीं वह हैं जो प्रकृति को सानुग्रह ग्रहण करते हैं और न कि प्रकृति वह है जो हमारा पक्षपोषण करती है कि प्रकृति हमें, अपनी कुछ विशेष कृतियों के आकलन में संलग्न हमारी मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध में आभ्यन्तर चरमता (Inner finality) का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का अवसर प्रदान करती है और वस्तुतः एक अतीन्द्रिय आधार से उद्भूत होने वाली इस प्रकार की चरमता (Finality) अनिवार्य एवं सार्वभौम-मान्यता वाली अभिहित की जाने को है; यह वस्तु उस प्रकृति की सम्पत्ति है जो इससे अथवा इसके उद्देश्य (End) से सम्बन्ध नहीं रख सकती या अपेक्षाकृत ऐसा उद्देश्य रूप में हमारे द्वारा आकलित नहीं की जा सकती। क्योंकि अन्यथा जो निर्णय ऐसे उद्देश्य के सन्दर्भ-निर्देश द्वारा निर्धारित होगा वह बजाय स्वायत्तता पर आधारित और स्वच्छन्द होने के जैसा कि एक रुचि-निर्णय के लिए उपयुक्त है, परायत्तता पर आधारित होगा।

चरमता के प्रत्ययवाद का नियम ललित कला में अपेक्षाकृत और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष है। क्योंकि यह तथ्य कि इन्द्रिय संवेदन (Sensations) हमें चरमता के किसी सौन्दर्यमूलक यथार्थवाद को ग्रहण करने में समर्थ नहीं बनाते (जो कि कला को बजाय सुन्दर के निरा अनुकूलवेदनीय बना देगा) एक ऐसा तथ्य है जिसका यह सुन्दर प्रकृति जैसा ही उपभोग करता है किन्तु इसके

आगे का यह तथ्य कि सौन्दर्य-प्रत्ययों (Aesthetic ideas) में उत्पन्न होने वाले आनन्द को अव्यवहित उद्देश्यों (एक ऐसी कला के रूप में जो यान्त्रिक रूप से परिणामों की ओर निर्देशित है) की सफल उपलब्धि पर निर्भर नहीं किया जाना चाहिए और यह कि परिणामतः यहाँ तक कि नियमगत तर्कबुद्धिवाद उद्देश्यों की एक प्रत्ययमयता (Ideality) और उनकी यथार्थता नहीं, प्रधान है, यह चीज हमें इस तथ्य द्वारा विदित होती है कि ललित-कला अपने यथार्थ रूप में बुद्धि और विज्ञान की वृद्धि नहीं मानी जानी चाहिए बल्कि वह प्रतिभा की वृद्धि मानी जानी चाहिए और अतएव वह अपने नियम उन सौन्दर्य प्रत्ययों (Aesthetic ideas) से व्युत्पादित करती है जो निश्चित उद्देश्यों के तर्कबुद्धिपरक प्रत्ययों से तत्त्वतः भिन्न हैं।

जिस प्रकार प्रपंच रूप इन्द्रिय-विषयों की प्रत्ययवादिता (Ideality) 'प्रागनुभव' निर्धारण को स्वीकार करने वाले उनके रूपों की सम्भावना की व्याख्या करने का एकमात्र ढंग है उसी प्रकार प्रकृतिगत और कलागत सुन्दरम का आकलन करने में चरमता का प्रत्ययवाद (Idealism) ही वह एकमात्र परिकल्पना (Hypothesis) है जिसके आधार पर कोई मीमांसा (Critique) एक ऐसे रुचि-निर्णय की सम्भावना की व्याख्या कर सकती है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए 'प्रागनुभव' मान्यता की माँग करता है (फिर भी वस्तु में प्रतिभासित चरमता की संकल्पनाओं पर आधारित किए बिना।)

सौन्दर्य, नैतिकता के प्रतीक रूप में

स्वानुभूतियाँ हमारी संकल्पनाओं की यथार्थता (Reality) का सत्यापन करने के लिए सदैव अपेक्षित होती हैं। यदि संकल्पनाएँ अनुभवमूलक होती हैं तो स्वानुभूतियाँ 'दृष्टान्त' (Examples) कहलाती हैं। यदि वे बुद्धि की विशुद्ध संकल्पनाएँ होती हैं तो स्वानुभूतियाँ आयोजना (Schemata) के नाम से अभिहित की जाती हैं। किन्तु तर्कबुद्धिपरक संकल्पनाओं की वस्तुनिष्ठ यथार्थता (Objective Reality) अर्थात् प्रत्ययों (Ideas) के सत्यापन की माँग करना और जो वस्तु इससे भी अधिक है, वह यह कि ऐसी यथार्थता (Reality) के सैद्धान्तिक सज्ञान की ओर से माँग करना एक असम्भावना की माँग करना है क्योंकि ऐसी कोई भी स्वानुभूति निर्दिष्ट नहीं की जा सकती जो उनके लिए उपयुक्त हो।

इन्द्रिय की शब्दावली में उत्था रूप सारी परिकल्पना (उपस्थापन, Subjectio sub adspectum) द्विविध होती है। तो यह आयोजनात्मक (Schematic) होती है जैसे वहाँ जहाँ कि बुद्धि द्वारा अवधारित किसी संकल्पना की संवादिनी स्वानुभूति रूप से निर्दिष्ट होती है या फिर यह प्रतीकात्मक होती

जहाँ कि संकल्पना ऐसी होती है जिसे केवल तर्कबुद्धि ही सोच सकती है और जिसके लिए कोई भी इन्द्रिय-संवेद्य स्वानुभूति उपयुक्त नहीं हो सकती। परवर्ती स्थिति में संकल्पना एक ऐसी स्वानुभूति द्वारा प्रदत्त होती है कि जिसका निरूपण करने में निर्णय-प्रक्रिया मात्र उस वस्तु की सहधर्मी होती है जिसे वह आयोजना (Schematism) के अन्तर्गत देखती है। दूसरे शब्दों में जो वस्तु संकल्पना के साथ सम्मत होती है वह इस प्रक्रिया का नियम मात्र है और स्वयमेव स्वानुभूति नहीं है। अतः सहमति (Agreement) मात्र संविमर्श या चिन्तन के रूप में होती और अन्तर्वस्तु (Content) के रूप में नहीं। . . .

आधुनिक तर्कशास्त्रियों द्वारा प्रतीकात्मक (Symbolic) शब्द के एक ऐसे अर्थ में ग्रहण के बावजूद जो भी प्रतिरूपण की 'स्वानुभूतिपरक-पद्धति-के प्रतिकूल है यह शब्द का अशुद्ध प्रयोग है और उसके अभिप्राय का विध्वंसक है; क्योंकि 'प्रतीकात्मक' स्वानुभूति-परक तत्त्व की केवल एक 'पद्धति' (Only a mode of the intuitive) है। प्रतिरूपण की स्वानुभूतिपरक पद्धति वस्तुतः आयोजनात्मक (Schematic) प्रतीकात्मक (Symbolic) पद्धति में विभाज्य है। दोनों ही विशद चित्रण हैं अर्थात् प्रस्तुतियाँ (Exhibitions) हैं और मात्र 'लक्षण (Marks) नहीं हैं। लक्षण केवल ऐसे अनुषंगी संवेग चिह्नों की सहायता से संकल्पनाओं के अभिधान (Designations) होते हैं जो वस्तु की स्वानुभूति के साथ किसी भी आभ्यन्तर सम्बन्ध से शून्य होते हैं। उनका प्रधान कार्य कल्पना के साहचर्य-नियम के अनुसार संकल्पनाओं के पुनराह्वान (Reinvoking) के लिए साधन प्रदान करना है—विशुद्धतया एक व्यक्तिनिष्ठ कार्य। ऐसे लक्षण या तो शब्द होते हैं या (बीजगणितीय या यहाँ तक कि अनुकृतिमूलक भी) चिह्न, मात्र संकल्पनाओं की अभिव्यक्ति रूप में।

अतएव वे सारी स्वानुभूतियाँ जिनके द्वारा 'प्रागनुभव' संकल्पनाओं को पदावलम्ब या स्थैर्य प्रदान किया जाता है या तो आयोजना (Schemata) होती हैं या प्रतीक (Symbols) आयोजनाएँ (Schemata) संकल्पना के प्रत्यक्ष उपस्थापनों (direct presentations) को अन्तर्धारण करती हैं, प्रतीक (Symbols) उसके परोक्ष उपस्थापनों (Indirect Presentations) को। आयोजनाएँ इस उपस्थापन को निरूपणात्मक ढंग से (demonstratively) उत्पन्न करती हैं और प्रतीक किसी साधर्म्य की सहायता से (जिसके लिए अनुभवमूलक स्वानुभूतियों का भी आश्रय लिया जाता है। जिस साधर्म्य में कि निर्णय दोहरा कार्य करता है : प्रथमतः, संकल्पना को किसी इन्द्रिय-संवेद्य स्वानुभूति के प्रति प्रयुक्त करने में और द्वितीयतः इसके तत्स्वानुभूति सम्बन्धी संविमर्श के निरे नियम को सर्वथा एक ऐसे अन्य विषय (Object) के प्रति प्रयुक्त करने में जिसका परवर्ती एक प्रतीक मात्र

है। इस प्रकार एक राजाधीन राज्य उस समय एक जीवन्त संस्था के रूप में प्रतिरूपित किया जाता है जिस समय वह वैधानिक नियमों द्वारा शासित होता है किन्तु जिस समय वह एक व्यक्तिविशिष्ट निरपेक्ष इच्छाशक्ति द्वारा संचालित होता है उस समय वह एक निरे यन्त्र (एक हैण्डमिल की भाँति) के रूप में प्रस्तुत होता है; किन्तु दोनों ही स्थितियों में प्रतिरूपण केवल 'प्रतीकात्मक' होता है। क्योंकि एक निष्प्रतिबन्ध, स्वतन्त्र अवस्था और एक हस्तगत कठपुतली के बीच निश्चय ही कोई समानता नहीं है जबकि दोनों पर किये जाने वाले चिन्तन के नियमों और उनकी कारणता (Causalty) के बीच निश्चय ही समानता है। यहाँ तक इस व्यापार का बहुत थोड़ा विश्लेषण किया गया है क्योंकि यह व्यापार (Function) अपेक्षाकृत अधिक गहन अध्ययन के योग्य है। यह फिर भी इसके सविस्तर निरूपण का उचित स्थल नहीं है। भाषा में हम ऐसे अनेक परोक्ष उपस्थापन पाते हैं जो किसी ऐसे साधर्म्य के आदर्श पर ढले होते हैं जो विवादास्पद शब्दावली को संकल्पनार्थ समुचित आयोजना को नहीं बल्कि चिन्तनार्थ एक प्रतीक मात्र को अन्तर्धारण करने में समर्थ बनाता है। इस प्रकार आधारभूमि (सहायक, आधार) निर्भर करना, (ऊपर अवस्थित या निर्गृहीत होना) प्रवाहित होना (बजाय अनुसरण करने के) द्रव्य (जैसा कि लॉक ने इसे प्रतिष्ठित किया: आकस्मिक तत्वों का सहायक) आदि शब्द और इसी प्रकार के अनेक अन्य शब्द आयोजनात्मक (Fchematic) नहीं हैं बल्कि ये प्रतीकात्मक विशद चित्रण (Symbolic Hypotyposes) हैं और तदर्थ बिना किसी स्वानुभूति को प्रयुक्त किए संकल्पनाओं को अभिव्यक्त करते हैं किन्तु वे उन्हें केवल किसी एक के साधर्म्य के आधार पर उत्पादित करते हैं अर्थात् स्वानुभूति के किसी विषय पर किये जाने वाले चिन्तन या संविमर्श को एक सर्वथा नूतन संकल्पना और एक संकल्पना के प्रति स्थानान्तरित करके जिसकी शायद कोई भी संकल्पना कभी भी प्रत्यक्षतः संवादिनी नहीं हो सकती। यदि यह मान लिया जाय कि उस वस्तु को ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है जो केवल प्रतिरूपण की एक निरी पद्धति के बराबर ठहरती है (जो कि वहाँ सर्वथा ग्राह्य होता है जहाँ यह, वस्तु स्वयं अपने में क्या है इस तथ्य के सम्बन्ध में वस्तु के सैद्धान्तिक निर्धारण का प्रश्न न होकर इसके प्रत्यय की क्या वस्तु हमारे लिए और उसके चरम नियोजन के लिए उचित है, इस बात का प्रश्न होता है) तो ईश्वर सम्बन्धी हमारा सम्पूर्ण ज्ञान केवल प्रतीकात्मक है: और वह व्यक्ति जो इच्छाशक्ति आदि बुद्धि के उनगुण-धर्मों के साथ, जो केवल इस जगत् के प्राणियों में ही अपने वस्तुनिष्ठ सत्य (Objective reality) को प्रमाणित करते हैं, इसे आयोजनात्मक (Schematic) मानता है वह मनुष्यत्वारोपण (Anthropomor phism) में उलझ जाता है ठीक वैसे ही जैसे यदि वह हर एक स्वानुभूतिपरक

तत्त्व का परित्याग कर दे तो वह देववाद (Deism) में फँस जाता है जो कि किसी भी प्रकार का कोई ज्ञान प्रदान नहीं करता—यहाँ तक कि किसी व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी नहीं।

अब मैं कहता हूँ कि सुन्दरम् नैतिकतः श्रेयस् या शिव (Morally good) का प्रतीक है केवल इसी प्रकाश में (एक ऐसा दृष्टिकोण जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है और जिसकी प्रत्येक व्यक्ति एक कर्तव्य के रूप में दूसरों से माँग करता है) हर दूसरे व्यक्ति के साथ मतैक्य (agreement) के एक अनुषंगी दावे के साथ वह हमें आनन्द प्रदान करता है जहाँ पर मन इन्द्रिय-संस्कारों से उत्पन्न होने वाले आनन्द की निरी संवेदनशीलता से ऊपर उठकर एक विशेष प्रकार की भद्रता (ennoblement) और उन्नयन (elevation) के प्रति जागरूक हो उठता है और वह दूसरों के निर्णय के एक वैसे सूत्र को ध्यान में रखते हुये, उनकी योग्यता या मूल्य का मूल्यांकन भी करता है। यह वह 'बोधगम्य वस्तु (Intelligible) है जिस तक, जैसा कि पूर्वगत अनुच्छेद में देखा गया है, रुचि अपनी दृष्टि का प्रसार करती है। कहने का अभिप्राय यह कि यह वह वस्तु है जो यहाँ तक कि हमारी उच्चतर संज्ञानात्मक मनःशक्तियों को भी सामान्य समरसता की स्थिति में लाती है और वह वस्तु है जिससे पृथक् उनकी प्रकृति और रुचि द्वारा पुरः प्रस्तुत दावों के बीच निपट अन्तर्विरोध उत्पन्न होगा। इस मनःशक्ति में निर्णय स्वयं अपने को अनुभव के नियमों की किसी पराधीनता के वशीभूत नहीं पाता जैसा कि वह वस्तुओं के अनुभवमूलक आकलन में अपने को अनिवार्यतः पाता है....इस प्रकार के विशुद्ध आनन्द के विषयों (Objects) के सम्बन्ध में यह उसी प्रकार स्वयं अपने को नियम प्रदान करता है जिस प्रकार तर्कबुद्धि (Reason) इच्छा-मनः शक्ति (Faculty of desire) के सम्बन्ध में (स्वयं को नियम प्रदान) करती है। वहाँ भी दोनों ही व्यक्ति में पायी जाने वाली इस अभ्यन्तर सम्भावना और इसके साथ मेल रखने वाली एक प्रकृति विशेष की वाह्य सम्भावना के कारण यह स्वयं अपने में खुद व्यक्ति (Subject) के अन्तर्गत और उससे बाहर पायी जाने वाली किसी वस्तु के साथ एक सन्दर्भ-निर्देश पाता है और जो प्रकृति न तो मुक्ति (Freedom) ही है किन्तु फिर भी जो परवर्ती की आधारभूमि अर्थात् अतीन्द्रियतत्त्व से सम्बद्ध है—कोई एक ऐसी चीज जिसके अन्तर्गत सैद्धान्तिक मनःशक्ति प्रगाढ़ और दुर्बोध रीति से व्यावहारिक मनःशक्ति के साथ एकतावद्ध हो जाती है। हम मत-भेद के तत्त्वोंको बचकर न निकल जाने देने की सावधानी बरतते हुए इस साधर्म्य (analogy) के कुछ तथ्यों को प्रकाश में लाएँगे।

(१) सुन्दरम् हमें अव्यवहित रूप से आनन्दित करता है (किन्तु केवल

१ स्वानुभूति में ही नैतिकता की भाँति अपनी के

नहीं) । (२) यह 'सर्व-कामना स्वतन्त्र रूप से' आनन्दित करता है (इसमें सन्देह नहीं कि नैतिकतः श्रेयस्गत आनन्द अनिवार्यतः एक कामना से बँधा होता है किन्तु उस प्रकार की कामनाओं में से किसी कामना से नहीं जो आनन्द पर विहित निर्णय की पूर्ववृत्त (Antecedent) होती हैं अपितु एक ऐसी कामना से जिसे स्वयं निर्णय ही सर्वप्रथम अस्तित्व में लाता है) । (३) सुन्दरम् का आकलन करने में कल्पना की 'स्वच्छन्दता' (परिणामतः अपनी संवेदनशक्ति (Sensibility) के सम्बन्ध में हमारी मनःशक्ति की) बुद्धि की नियमानुसारिता के सामञ्जस्य में प्रतिरूपित होती है (नैतिक निर्णय में संकल्पशक्ति की स्वतन्त्रता, तर्कबुद्धि के सार्वभौम-नियमों के अनुसार परवर्ती का स्वयं अपने साथ सामञ्जस्य समझा जाता है) । (४) सुन्दरम् के आकलन के व्यक्तिनिष्ठ नियम को 'सार्वभौम' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति-मान्य नियम के रूप में किन्तु किसी भी सार्वभौम संकल्पना द्वारा अप्रज्ञेय (Incognizable) नियम के रूप में निरूपित किया जाता है (नैतिकता का वस्तुनिष्ठ नियम भी सार्वभौम अर्थात् सर्व-व्यक्ति अभिप्रेत रूप में प्रस्तुत किया जाता है और साथ ही साथ उसी व्यक्ति के समस्त कर्मों के लिए अभिप्रेत और इसके अतिरिक्त सार्वभौम संकल्पना (Universal concept) द्वारा प्रज्ञेय (Cognizable) रूप में) । नैतिक निर्णय मात्र निश्चित विधानक नियमों को स्वीकार ही नहीं करता बल्कि वह अपने सूत्रों की आधारभूमि के रूप में 'केवल इन नियमों और इनकी सार्वभौमता (Universality) को ग्रहण करके ही सम्भव है ।

यहाँ तक कि सामान्य बुद्धि (Common understanding) भी इस साधर्म्य (Analogy) पर ध्यान देने की अभ्यासिनी है और हम बहुधा प्रकृति अथवा कला की सुन्दर वस्तुओं के लिए उन संज्ञाओं को प्रयुक्त करते हैं जो किसी नैतिक आकलन के आधार पर आश्रित होती प्रतीत होती हैं । हम इमारतों अथवा वृक्षों का भव्य और गरिमामय (Majestic and stately) अथवा मैदानों को विहँसता हुआ और प्रमुदित कहते हैं; यहाँ तक कि रंग भी भोले (Innocent), शालीन (Modest) और मसृण (Soft) कहे जाते हैं क्योंकि वे ऐसे संवेदनों (Sensations) को उद्दीप्त करते हैं जो नैतिक निर्णयों (Moral judgments) द्वारा उत्पादित मनःस्थिति (State of mind) की चेतना की किसी समधर्मी वस्तु को अन्तर्धारण करते हैं । रुचि, इन्द्रिय-चमत्कार (Charm of sense) से बिना किसी अति प्रचण्ड छलाँग के सम्भव स्वभावगत नैतिक कामना (Habitual moral interest) की ओर संक्रमण करती है क्योंकि यह कल्पना को उसकी स्वच्छन्दता में में भी प्रतिरूपित करती है जैसा कि बुद्धि के चरम निर्धारण के लिए उत्तर-प्रद या वश्य है और हमें ऐन्द्रिक विषयों में भी किसी भी इन्द्रिय चमत्कार से स्वतन्त्र एक स्वतन्त्र आनन्द ग्रहण करना सिखाती है

परिशिष्ट

रुचि की कार्यपद्धति

'मीमांसा' का, तत्त्वविज्ञान (elementology) और रीतिशास्त्र (Methodology) में विभाजन—एक ऐसा विभाजन जो विज्ञान के लिए परिचयात्मक या प्रस्तावनात्मक (Introductory) है—एक ऐसा विभाजन है जो 'रुचि-मीमांसा' (Critique of taste) के लिए अप्रयोज्य है। क्योंकि न तो सुन्दरम् का कोई विज्ञान है और न हो सकता है और रुचि-निर्णय नियमों द्वारा निर्धार्य नहीं है। क्योंकि जहाँ तक प्रत्येक कला में विज्ञान के तत्त्व का प्रश्न है—एक ऐसा तथ्य जो कला वस्तु के प्रस्तुति गत 'सत्य' पर निर्भर करता है—इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ यह कला की अपरिहार्य उपाधि (Conditio sine qua non) है वहीं यह स्वयमेव कला नहीं है। अतएव ललित-कला के शिक्षण की केवल एक रीति (Modus) होती है और कोई पद्धति (Methodus) नहीं होती। शिष्य को जो वस्तु उपलब्ध करनी है और किस प्रकार उपलब्धि तक पहुँचना है उसे शिक्षक को सोदाहरण समझाना पड़ता है और सार्वभौम नियमों का वह समुचित व्यापार (Proper function) जिसमें वह अन्ततोगत्वा अपने विवेचन को पर्यवसित करता है वह उसके प्रमुख क्षणों (Chief moments) को उसके लिए विहित करने के बजाय उन्हें उसके मन में प्रत्याहृत करने के लिए एक सुविधाजनक पाठ प्रदान करता है। फिर भी इस सब में पर्याप्त ध्यान किसी ऐसे आदर्श (Ideal) पर दिया जाना चाहिए जिसे कला अवश्य अपने दृष्टिपथ में रखे चाहे पूर्ण सफलता भले ही उसके समृद्ध से समृद्ध प्रयत्नों तक को भी छलती रहे। केवल शिष्य की कल्पना को एक निर्दिष्ट संकल्पना (Given concept) की अनुसारिता की दिशा में उत्तेजित करके किस प्रकार अभिव्यक्ति उस सौन्दर्य-प्रत्यय (Idea as aesthetic) को प्राप्त करने में असफल रह जाती है जिसको उपलब्ध करने में स्वयं संकल्पना भी असफल रहती है इस चीज़ की ओर संकेत करके और खरी आलोचना के द्वारा ही उसके अपेक्षाकृत किसी अधिक उच्च मानदण्ड अथवा स्वयं अपनी आलोचना शक्ति (Critical faculty) की वश्यता स्वीकरण के उत्कृष्टता के मूलादर्श या उसके लिए अनुकरणीय आदर्श (Models) के रूप में उसके सामने रखे गये उदाहरणों

नहीं है और न तो उसके मूल्यांकन के लिए जहाँ तक व्यक्ति की अपनी सम्यक् रुचि का सम्बन्ध है वही सम्भव है।

सारी ललित कला का आरम्भिक ज्ञान या उसमें प्रवेश, जहाँ तक कि उसकी पूर्णता की पराकाष्ठा वह वस्तु है जो दृष्टि पथ में पहले से होती है, सूत्रों (Precepts) में नहीं बल्कि मानसिक शक्तियों की उस संस्कृति में निहित होता है जो उन वस्तुओं की स्वस्थ प्रारम्भिक शिक्षा द्वारा उत्पन्न होती है जिन्हें मानवतापरक तत्त्व कहा जाता है वे ऐसा मान्यतः (Presumably) इसलिए कहलाते हैं क्योंकि मानवता (Humanity) एक ओर सार्वभौमतः 'समवेदना की अनुभूति' (Feeling of sympathy) का अर्थ द्योतित करता है और दूसरी ओर अपने अन्तरतम बोध (Inmost sense) को सार्वभौमतः सम्प्रेषित करने में समर्थ होने की मनःशक्ति का अर्थ द्योतित करती है—वे गुण-धर्म जो अपेक्षाकृत निम्नकोटि के जीवों के संकीर्ण जीवन की विभिन्नता में संयुक्त रूप से मानवजाति की उपयुक्त सामाजिक वृत्ति का संघटन करते हैं। एक ऐसा युग था और संसार में ऐसे देश थे जिनमें नियमों द्वारा नियमित एक सामाजिक जीवनोन्मुखी सक्रिय प्रवृत्ति—वह वस्तु जो किसी जाति को एक स्थायी समुदाय में परिवर्तित कर देती है—स्वतन्त्रता (और अतएव समानता भी) के साथ विरोधी शक्ति (भय की अपेक्षा सम्मान और कर्तव्यशील समर्पण की अधिक) का सामञ्जस्य स्थापित करने की दुष्कर समस्या द्वारा उपस्थापित महान् कठिनाइयों के साथ उलझी हुई थी। और वह युग और वह देश अवश्य ऐसा रहा होगा जिसने इस प्रकार उच्चतर संस्कृति और प्रकृति की साधारण योग्यता (Modest worth) के बीच के उस माध्यम को खोज निकालते हुए, सर्वप्रथम समुदाय के अपेक्षाकृत अधिक सुसंस्कृत और अधिक असभ्य वर्गों के बीच विचारों के पारस्परिक सम्प्रेषण की ओर किस प्रकार पूर्ववर्ती के प्राचुर्य और परिष्कृति तथा परवर्ती की स्वाभाविक सहजता और मौलिकता के अन्तर को भरा जाय, इस बात की खोज की, जो एक सम्पूर्ण मानव जाति-सामान्य बोध के रूप में रुचि के लिए भी उस सच्चे मानदण्ड का निर्माण करता है जिसे कोई भी सार्वभौम नियम प्रदान नहीं कर सकता।

मुश्किल से ही कोई पश्चाद्वर्ती युग उन आदर्शों (Models) से मुक्त होगा। क्योंकि प्रकृति पिता को सदैव पृष्ठभूमि में पश्चापसृत करेगी जिससे कि घटनात्मक रूप से अतीत से बिना कोई स्थायी उदाहरण प्रतिधारण किए एक भावी युग कठिनाई से एक ही जनसमुदाय के लोगों की उच्चतम संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले नियम-निर्दिष्ट संयम का अपनी समुचित-योग्यता संवेद्य (Sensible of it proper worth) एक स्वतन्त्र प्रकृति के साथ आनन्दमय मिलन (Happy union की किसी का निर्माण करने की स्थिति में होगा

कुछ भी हो रुचि अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से एक ऐसी आलोचन शक्ति (Critical Eaculty) है जो नैतिक प्रत्ययों के चित्रण (Rendering) की मीमांसा इन्द्रिय-बोध के अर्थ में करती है (दोनों पर विहित हमारे चिन्तनगत एक विशेष साधर्म्य के अन्तरायण द्वारा) और यह उस अनुभूति के लिए, जिसे ये प्रत्यय (ideas) उद्‌बुद्ध करते हैं (जिसको नैतिक भावना के नाम से अभिहित किया जाता है) यह चित्रण भी है और इस पर आधारित वह परिवर्द्धित सम्वेदनशीलता भी, जो उस आनन्द की मूलोद्‌गम हैं जिसे रुचि न केवल प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत अनुभूति के लिए अपितु निखिल मानव जाति के सामन्यतः मान्य घोषित करती है यह तथ्य इस चीज़ को स्पष्ट कर देता है कि रुचि का शिलान्यास करने के लिए यथार्थ प्रारम्भिक ज्ञान नैतिक प्रत्ययों का विकास एवं नैतिक भावना का सम्वर्द्धन है। क्योंकि सच्ची रुचि केवल तभी एक निश्चित अपरिवर्तनीय रूप ग्रहण कर सकती है जबकि संवेदन-शक्ति (Sensibility) का नैतिक भावना (Moral feeling) के साथ सामञ्जस्य स्थापित हो जाय।

पारिभाषिक शब्दावली

Aesthetic—सौन्दर्यमूलक, सौन्दर्यपरक, सौन्दर्यशास्त्रीय
Aesthetic judgment—सौन्दर्य-निर्णय
Aesthetic idea—सौन्दर्य-प्रत्यय
Agreeable—अनुकूलवेदनीय, रुचिकर
Approval—अभिमति
Agreement—सहमति, मतैक्य
Aversion—विरक्ति, द्वेष, घृणा
Axiom—स्वयंतथ्य, सूत्र
Appurtenant—आनुषंगिक
Amiability—सौजन्य, सद्भाव
Assumption—धारणा, ग्रहण
Abstraction—अमूर्त, अमूर्त प्रत्यय
Appendant beauty—आश्रित या संश्रित सौन्दर्य
A-priori—प्रागनुभव, अनुभव-निरपेक्ष
Apprehension—बोध
Apodictic—सुस्थापित, सुव्यवस्थित
Adaptation—अनुकूलीकरण
Adinfinitum—वदतोव्याघात
Affection—मनोविकार, राग
Allegory—अन्योक्ति
Apparent—स्पष्ट, प्रतीयमान
Agreeable lassitude—अनुकूलवेदनीय तंद्रा
Autonomy—अधिराज्य
A posteriori—अनुभव सापेक्ष
Addiction—व्यसन
Attributes—गुण-धर्म
Aping—अनुकृति बहुरूपियापन
Art of speech
Analogy—साम्य, साधर्म्य
Antinomy—विप्रतिषेध
Antithesis—प्रतिपक्ष
Annate—सहज
Anthropomorphism—मानवीकरण
Archetype of taste—रुचि का मूलादर्श
Arts of genius—प्रतिभा-जन्य कला
Being—सत्ता
Brooding melancholy—चिन्ता-निमग्न विषण्णता
Becoming—परिवर्तन, व्यापार, क्रिया
Condour—सरलता
Contingent coincidence—आनुषंगिक संपात
Contention—प्रतिद्वन्द्विता
Critique—मीमांसा, आलोचना, परीक्षा
Cognition—संज्ञान
Concept—संकल्पना
Contemplation—भावन, मनन, तत्प्रणिधान
Congenial mood—समधर्मी मन:स्थिति
Condition—उपाधि, दशा, शर्त प्रतिबन्ध
Charm—चमत्कार
Cognitive Faculty—संज्ञान-शक्ति
Common understanding—सामान्य बुद्धि
Consensus—मतैक्य, सर्वसम्मति
Conformity to law—नियमानुसार, नियमानुसारिता
Communicability—सम्प्रेषणीयता
Category—धारणा बुद्धि विकल्प
Comprehension

Criterion—निकष
Constancy—स्थिरता
Confused concept—अन्तर्भ्रान्त संकल्पना
Common-sense (Sensus communis)—सामान्य बोध
Concert—ऐक्य, सहकारित्व
Consonant—सामंजस्यपूर्ण, अनुगुण
Command—आदेश
Consistent—संगत
Connoisseur—पारखी, सूक्ष्मनिरूपक
Constituents—संघटक तत्व
Cosmopolitan sentiment—विश्वहितैषी भावना
Concomitant—संगामी
Constraint of rules—नियम-निग्रह
Circumstanciality—परिस्थित्यात्मकता
Crustacea—कठिनि-वर्ग
Concursion—संवर्तन
Conditioned beauty—सोपाधिक सौन्दर्य
Disagreeable—प्रतिकूलवेदनीय
Determined—निर्धारित, निर्दिष्ट
Disgust—अरुचि, ऊब
Determining ground—निर्धारिणी आधारभूमि
Design—अभिकल्प
Determinate concept—निर्दिष्ट संकल्पना
Derivable form—व्युत्पाद्य रूप
Deliberation—संविमर्श
Dominion—अधिराज्य
Detrium—प्रमाद, प्रलाप, मतिभ्रंश
Deduction—निगमन, व्युत्पादन
Diversity—अनेकता, वैविध्य
Demonstratio प्रदर्शन
Digression—विषयान्तरण, उत्क्रम
Deformity—विकृति
Dialectic—द्वन्द्वात्मक तर्क
Estimation—आकलन, प्राक्कलन, मूल्यांकन
Emotion—भाव, भावसंवेग
Exemplary—निदर्शनात्मक
Equanimity—समभाव
Equilateral—समभुजीय
Effeminacy—स्त्रैणता
Empirical psychology—अनुभवमूलक मनोविज्ञान
Enthusiasm—औत्सुक्य, उत्साह
Expectation—प्रत्याशा
Empirical Anthropology—अनुभवमूलक नृविज्ञान
Egoistic—अहंवादी, अहंपरक
Exposition—व्याख्या, विवृति
Enlightenment—ज्ञानोद्दीप्ति
Emancipation—उद्धार, निस्तार, मुक्ति
Enlarged mind—परिवर्धित मन
Empirical interest—आनुभविक प्रयोजन या कामना
Empiricism—अनुभववाद
Elevation—उत्कर्ष, उन्मेष, उन्नति
Enjoyment—उपभोग
Elegance—लालित्य, उत्कृष्टता, मंजुलता
Formulation—सूत्रीकरण
Fanaticism—मतान्धता, दुराग्रह, धर्मान्धता
Free play—स्वतंत्र व्यापार, स्वच्छंद विलास
Finality (Forma finalis)—चरमता, सोद्देश्यता, उद्देश्यमयता
Formal finality—रूपात्मक चरमता
Formative art कला

Fantastic taste—विलक्षण रुचि, तरंग-
मयी रुचि
Feeling—अनुभूति, वेदना
Furtherance of life—जीवनोत्कर्षण
Faculty—मनःशक्ति, शक्ति, वृत्ति
Favour—अनुग्रह
Gratification—तृप्ति
Good—श्रेयस्, शिव, सद्
Good in itself—स्वलक्षण श्रेयस्
Genus—प्रजाति
Grotesque—विरूप, विकृत
Grace-begging—दया प्रार्थी, कृपाभिलाषी
Genius—प्रतिभा, प्रतिभाशाली
Game of chance (Glack spiel) संयोग
व्यापार या विलास
Gradual loosening—क्रमिक श्लथन
Gesture—संकेत
Humility—दैन्य
Heteronomy—विषमाङ्गता, पराधीनता
Humour—हास्य
Hypothesis—परिकल्पना
Hypotyposis—विशद चित्रण
Habit of thought—विचाराभ्यास
Imperceptible—अगोचर
Intuition—स्वानुभूति, अन्तः प्रज्ञा
Interchangeable—अन्योन्य-विनिमयता
Identical—समरूप
Idea—प्रत्यय, विचार
Irreconcilability—असमाधेयता
Ingredient—अवयव, अंग, तत्त्व
Ideal—प्रत्ययमय, आदर्श
Inferable—अनुमेय
Inherently repugnant—अतर्जात रूप से
घृणाजनक
Inception—उपक्रम, प्रारम्भ
Immeasureability—अमेयता
Immediate intuition—अव्यवहित स्वानु-
भूति
Insensitive—अग्रहणशील, असंवेदनशील
Inscrutability—अभेद्यता, दुर्ग्राह्यता
Insipid sadness—रूक्ष विषण्णता
Interesting sadness—रोचक विषण्णता
Incumbrance—भार, अवरोध
Instrumentality—कर्तृत्व, साधकत्व
Inspired (geistreiche)—प्रेरित
Indispensable condition—अनिवार्य
उपाधि
Indifferent—उदासीन
Immanent—अन्तर्यामी, अन्तर्भूत
Idealism—प्रत्ययवाद, आदर्शवाद
Ideality—प्रत्ययमयता, प्रत्ययवादिता
Innate—सहज, सहजात
Isochronous vibrations सवर्णी
स्पन्दन
Insight—अन्तर्दृष्टि
Impetuous ardour—तीव्र उत्कण्ठा या
उत्कटता
Judgment of taste—रुचि-निर्णय
Justification—औचित्य समर्थन, न्यायापन
Judgment—निर्णय
Liberality of thought—विचारगत
उदारता
Languid—शिथिल, स्फूर्तिहीन
Landscape gardening—भूदृश्य उद्यान
सेवन
Lurking suspicion—प्रच्छन्न संशय, निगूढ़
संशय

Laughter—हास्य
Mental temperament—मानसिक स्थिति
Magnitude—महत्ता, परिमाण
Mediately—व्यवहित रूप से
Manifold of sensations—बहुविध संवेदन
Mimic—अनुकरणात्मक, अनुकरणशील
Maintenance—पोषण, निर्वहण
Measure—प्रतिमान, मान
Modification—विकार
Modality of judgment of taste—रुचि निर्णय की रीति
Maudlin dramas—उन्मत्त नाटक
Mind—मन, चित्त
Mania—सनक, झक, बुद्धिभ्रम
Misanthropy—जनद्वेष, मानव-द्वेष
Model—प्रतिरूप, आदर्श
Mannerism—रीतिवाद
Modes (Modi)—रीति
Manner (Modus Aestheticus) रीति
Method (Modus Logicus)—पद्धति
Modesty—शालीनता
Man of Brains—मेधावी मनुष्य
Normal idea—सामान्य प्रत्यय
Nature as Might—अधिशक्ति स्वरूपिणी प्रकृति
Non-sensuous—अनैन्द्रिक
Nature as Scheme—आयोजना रूप प्रकृति
Non-sense—बेहूदगी, असम्बद्धता
Neighbourhood—प्रतिवास, प्रतिवेश
Notion—बोध, धारणा
Noumenon—परमार्थ तत्त्व, सत्, स्वलक्षण
Nonentity—असत्ता, अवस्तु
Ostensibl ढंग से

Objective universal validity—वस्त सार्वभौम मान्यता
Ornamentation (parerga)—अलं
Orbit—कक्षा, ग्रहपथ
Oscillation—प्रदोलन, आन्दोलन
Oratorio—भाषण
Ought—विधिवाक्य या चाहिए
Opera—गीति-नाट्य
Objective—वस्तुनिष्ठ, वस्तुपरक
Proposition—न्याय वाक्य
Pure disinterested delight—विशुद्ध निष्काम या निष्प्रयोजन आनन्द
Plethora of pleasures—आनन्द बाहु
Propriety—औचित्य
Postulate—आधार तत्त्व
Presupposition—पूर्वकल्पना
Perception—प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्यक्ष बोध
Perfection—पूर्णता
Perversity of form—रूपगत विकृति
Presentation—उपस्थापन या उपस्थाप
Phenomenon—प्रपंच, गोचर तत्त्व
Presumption—ग्रहण, परिकल्पना, धा
Predicate—विधेय
Prostration—प्रणिपात
Proviso—प्रतिबन्ध, उपाधि
Puerility—बालिश्य, ओछापन
Pluralistic—बहुवादी
Participation—भोग
Public sense—लोक बोध
Product—कृति, कलाकृति, उत्पाद
Peculiarities—विशेषताएँ
Plastic Art—अभिघटन कला
Portrayal of natu प्रकृति चित्र

Preceding—पूर्वगत
Quality—गुण
Quantum—मात्रा, परिमाण
Quantity—मात्रा, परिमाण
Qualification—विशेषण, योग्यता
Real—यथार्थ, सत्, वास्तविक
Representation—प्रतिरूपण, प्रस्तुति
Rational—तर्कनापरक, तर्कबुद्धिपरक
Reflection—चिन्तन
Receptivity—ग्रहणशीलता, ग्राहकता ग्रहण शक्ति
Respect—समादर
Recrudescence—पुनः संक्रमण
Reducible—अवकार्य
Rational idea—तर्क बुद्धिपरक प्रत्यय
Resful Contemplation—प्रशान्त भावन
Repulsion—निवृत्ति, घृणा
Retrogression—प्रतिगमन, पश्चाद्गमन
Resistance—प्रतिरोध शक्ति
Resemblance—सादृश्य
Remark—अभ्युक्ति
Rectification—परिशोधन, संशोधन
Rationalizing contemplation—तर्कनासिद्धकर, भावन
Relaxation—विश्रान्ति
Reciprocal—द्विश्रृङ्खक, अन्योन्य
Reflective judgment—चिन्तनात्मक निर्णय
Rationalism—तर्कबुद्धिवाद, तर्कनावाद
Subjective—व्यक्तिनिष्ठ, व्यक्तिपरक
Signification—तात्पर्य, सार्थकता
Subjective universal validity—व्यक्तिनिष्ठ सार्वभौम मान्यता
Sensation—संवेदन, संवेदना, इन्द्रिय-संवेदन
Self contradictory—आत्म-विरोध
Schematism—आकृति, योजना
Sublime—उदात्त
Sublimity—उदात्तता, औदात्य
Self-subsisting—आत्म-सत्तावस्थित
Superimposition—अध्यासन, अध्यारोपण
Symmetry—सम्मिति, सुषमा
Substrate—अधोस्तर
Sensibility—संवेदन शक्ति, संवेदनशीलता
Synthesis—समन्वय
Supersensible substrate—अतीन्द्रिय अधोस्तर
Subreption—लुण्ठन, प्रवंचना
Sketch—प्रारूप, रेखाचित्र
Susceptibility—ग्रहण-क्षमता
Spirited emotions—ऊर्जस्वित भाव
Sentimentality—भावुकता, अतिभावुकता
Stern precepts—कठोर सूत्र
Self preservation—आत्म रक्षण
Semblance—सादृश्य
Sociability—सामाजिकता
Subtle—सूक्ष्म
Statuary—मूर्तिकला
Sensious intuition—ऐन्द्रिक स्वानुभूति
Sensuous truth—ऐन्द्रिक सत्य
Sensuous semblance—ऐन्द्रिक सादृश्य
Stimulation—उद्दीपन
Serene—प्रशान्त-गम्भीर
Spontaneous—स्वतः प्रेरित, स्वाभाविक
Solidification—सम्पिण्डन

Schemata—आयोजना
Symbolic—प्रतीकात्मक
Spirit—अन्तरात्मा
Shallow pate—अल्पमति
Transition—संक्रमण, परिवर्तन
Transcendental philosopher—अनुभवातीतवादी दार्शनिक
Teleological judgement—उद्देश्यमूलक निर्णय
Totality—साकल्य, समग्रता
Timorous posture—भीरु मुद्रा
Transcendental Aesthetics—अनुभवातीतवादी सौन्दर्यशास्त्र
Treatment—निरूपण
Talent—प्रवणता, प्रतिभा
Tone—स्वर
Tragedy in verse—गद्यमयी दुःखान्तकी
Thesies—पक्ष
Transcendental concept—अनुभवातीत संकल्पना
Terror—संत्रास
Transient—अनित्य, क्षणिक, अस्थायी
Telology—हेतुवाद, उद्देश्यवाद
Understanding—बुद्धि
Unconditioned good—निरुपाधिक श्रेयस्
Universal—सार्वभौम
Uniformity—एकरूपता
Ugly—कुरूप
Universal standpoint—सार्वभौम दृष्टिकोण
Validity—मान्यता, प्रामाण्य
Vital force—ओजस्तत्व, जीवनीशक्ति
Valid—मान्य
Vain adulation—व्यर्थ चाटूक्ति
Vulgar—ग्राम्य, असंस्कृत
Velocity—गति
Wit—विदग्धता
Without spirit—निष्प्राण